ISSN-2394-2355

समास - 12

समास की सदस्यता ग्रहण करें

सम्पादक
समास
नयी दिल्ली

प्रिय महोदय,

समास के एक वर्ष (४ अंक+डाक व्यय) ३४०/- तीन वर्ष (१२ अंक) १०००/- पाँच वर्ष (२० अंक) १६००/- रुपए का चैक/ड्राफ्ट संलग्न कर रहा हूँ। कृपया मुझे वार्षिक/तीन वर्ष के लिए/पाँच वर्ष के लिए ग्राहक बना लें और मेरी प्रति निम्नलिखित पते पर भिजवाएँ।

अगर आप दिल्ली के बाहर का चेक हमें भेज रहे हैं तो कृपया बैंक कमीशन के ४०/- रुपए उसमें अतिरिक्त जोड़ दे।

नाम .....
पता .....
.....
.....
.....
टेलीफ़ोन नं. .....
ईमेल : .....

यहाँ से काटिए

(चेक/ड्राफ्ट- समास के नाम पर बनाएँ जो नयी दिल्ली में देय हो और निम्नलिखित पते पर हमें भेजने की कृपा करें)

मनोज मोहन, प्रसार प्रबन्धक

रज़ा फाउण्डेशन, सी-४

१३६ सफ़दरजंग डेव्हलपमेण्ट एरिया,

नयी दिल्ली- १६

ई मेल : manojmohan2010@yahoo.com
टेलीफ़ोन : 8506014917, 9425674851

विदेश में :
हवाई डाक : एक प्रति १२ अमेरिकी डॉलर / ६ ब्रिटिश पाउण्ड
समुद्री डाक : एक प्रति ६ डॉलर / ४ पाउण्ड

समास-12

साहित्य, कला और सभ्यता पर एकाग्र
त्रैमासिक

सम्पादक
उदयन वाजपेयी

समवेत लेखकों के विचारों का 'समास' आदर करता है
लेकिन यह आवश्यक नहीं कि वह उनसे सहमत ही हो।

समास : १२ © मार्च २०१५
पंजीयन क्रमांक : F-2(S-46)Press/2012

त्रैमासिक पत्रिका

प्रकाशक : अशोक वाजपेयी
कार्यकारी न्यासी, रज़ा फाउण्डेशन, सी-४
१३६ सफ़दरजंग डेव्हलपमेण्ट एरिया, नयी दिल्ली-१६
फ़ोन - ०११ - ४६५२६२६६

आवरण : डॉ. शिवदत्त शुक्ला

सम्पादन सहयोग : मिथलेश शरण चौबे, संगीता गुन्देचा

सम्पादकीय पत्र व्यवहार : उदयन वाजपेयी
एफ ६०/४५ तुलसी नगर
भोपाल (म.प्र.) ४६२००३
फ़ोन - ०७५५-२५५६६४०
ई-मेल - <udayanvajpeyi@gmail.com>

प्रसार प्रबन्धक - मनोज मोहन
रज़ा फाउण्डेशन, सी-४
१३६ सफ़दरजंग डेव्हलपमेण्ट एरिया, नयी दिल्ली- १६
फ़ोन - ०६८६८६६४४५७

प्रूफ़ रीडिंग - शिवनारायण सिंह राजपूत
कम्पोजिंग : रामवीर शर्मा, मनोज डेकाटे, कौशिक गुप्ता
मुद्रण : भण्डारी आफ़सेट, अरेरा कॉलोनी, भोपाल (म.प्र.)

सम्पादकीय - ५

वार्तालाप

भारतीय नाट्य की अवधारणा एवं रंगकर्म का प्रशिक्षण

कावालम नारायण पणिक्कर से उदयन वाजपेयी की बातचीत - ७-६६

विशिष्ट कवि - शंख घोष

शंख घोष की चौदह कविताएँ - ६७-७४

सभी एक आश्रय की बात सोच रहे हैं - शंख घोष से बातचीत - ७५-९०

होने का दुःख - शंख घोष का व्याख्यान - ९१ -१०५

ऐतिह्य का विस्तार - शंख घोष - १०६- ११२

कविताएँ

अन्ना आख्मातोवा की कविताएँ - ११३ - ११७

दो कविताएँ - कुमार शहानी - ११८

उपन्यास अंश

क्या आप मुझे एक मुर्दा दिलवा सकते हैं ? - अलका सरावगी - ११९-१२८

संस्मरण

अनन्तमूर्ति स्मृति - कमलेश - १२९-१३६

प्रेम का देवता - अमला शंकर - १३७-१४४

सबके अपने अशोक सेकसरिया - प्रयाग शुक्ल - १४५-१५१

निबन्ध एवं व्याख्यान

कला की अवधारणा - नवज्योति सिंह - १५२-१७५

कला और राजनीति - उदयन वाजपेयी - १७६-१९१

छन्दों में दुनिया, दुनिया में छन्द - राधावल्लभ त्रिपाठी - १९२-२१३

देश की पुस्तकें विदेश में - चित्तरंजन वंद्योपाध्याय -२१४-२२६

दो औरतों के पत्र - मोहन कृष्ण बोहरा - २२७-२४३

लेखक परिचय - २४४ - २४५

सम्पादकीय

साहित्य की समृद्धि के क्या मार्ग हो सकते हैं ? क्या साहित्य सिर्फ़ साहित्य के माध्यम से ही समृद्ध हो सकता है ? इसी प्रश्न को इस तरह भी पूछा जा सकता है कि क्या चित्रकला या सिनेमा सिर्फ़ चित्रकला या सिनेमा के माध्यम से ही समृद्ध हो सकते हैं ? हमारा इस सम्बन्ध में यह विचार है कि साहित्य को समृद्ध करने के लिए यह आवश्यक है कि उसे प्राचीन और अर्वाचीन संगीत परम्पराओं, नृत्य परम्पराओं, दार्शनिक दृष्टियों आदि अन्यान्य कलाओं एवं ज्ञान परम्पराओं के प्रति सचेत होना होगा। साहित्य स्वयं से अन्तःक्रिया कर न आज तक समृद्ध हुआ है और न हो सकेगा। इसका आशय यह नहीं है कि साहित्य को स्वयं अपनी परम्परा के प्रति किसी भी तरह की अवहेलना बरतनी चाहिए। अपनी प्राचीन और अर्वाचीन परम्पराओं के प्रति सजगता तो किसी भी कला के होने मात्र की अनिवार्य शर्त है पर यह नहीं भूलना चाहिए कि कोई भी कला सिर्फ़ अपनी परम्परा से अन्तःक्रिया कर समृद्ध नहीं होती रह सकती, उसे अन्य कला परम्पराओं और दार्शनिक आदि अन्यान्य विधाओं की दृष्टियों से भी अन्तःक्रिया करते रहना अनिवार्य है। इसकी अनुपस्थिति में साहित्य निरन्तर संकुचित होता जाता है। इस सन्दर्भ में हम बीसवीं या इक्कीसवीं सदी के अनेक लेखकों के उदाहरण ले सकते हैं, जिन्होंने अपने लेखन को समृद्ध करने पूरा जीवन अन्य कलाओं और दार्शनिक आदि दृष्टियों को गहनता से समझने में भी लगाया। यह बात आज इसलिए कहना आवश्यक लग रही है कि हिन्दी साहित्य में अब ऐसे बहुत कम कवि-लेखक बचे हैं जो साहित्य को समृद्ध करने के इन मार्गों पर चलने का प्रयास करते हों। ये सारे तत्त्व भाषा के अन्तस में निरन्तर स्पन्दित होते रहते हैं। इन स्पन्दनों के फलस्वरूप ही भाषा में विभिन्न शक्तियाँ आती हैं। इन तत्त्वों के प्रति सजग हुए बिना भाषा की इन शक्तियों का उचित प्रयोग सम्भव नहीं हो पाता। ऐसी स्थिति में ये तत्त्व भाषा में रहते हुए भी निष्क्रिय बने रहते हैं और भाषिक रूपाकारों को ऊर्जस्वित करने की अपनी सामर्थ्य खो देते हैं शायद इसीलिए हर लेखक का यह दायित्त्व है कि वह अन्यान्य कलाओं एवं अन्य विधाओं को समझने का सच्चा प्रयास करे। इसका अर्थ यह नहीं है कि वह इन कलाओं या विधाओं पर कुछ लिखने का प्रयास करे। अगर वह ऐसा करता/करती है तो इसमें कोई त्रुटि नहीं है पर यहाँ हमारे कहने का आशय यह है कि वह अपनी भाषा में अनुस्यूत इन सूक्ष्म तत्त्वों के प्रति सचेत होने की चेष्टा अवश्य करे। इस मार्ग से ही उसमें अपने लेखन और साहित्य मात्र के समृद्ध होने की सम्भावना बन सकेगी। यह सच है कि बिना प्रकृति प्रदत्त प्रतिभा के श्रेष्ठ लेखक होना कठिन है पर प्रतिभा सम्पन्न लेखक का यह दायित्त्व है कि वह अपनी प्रतिभा का विस्तार करे। उसे अन्यान्य क्षेत्रों में ले जाए। तभी श्रेष्ठ साहित्य अस्तित्व में आ पायेगा।

उदयन वाजपेयी

भारतीय नाट्य की अवधारणा एवं रंगकर्म का प्रशिक्षण

कावालम नारायण पणिक्कर से उदयन वाजपेयी की बातचीत

उदयन वाजपेयी : मुझे आप केरल के महाकवि वल्लथोल से अपने सम्बन्धों के बारे में बता रहे थे। उनसे आपकी मुलाकात कैसे हुई?

कावालम नारायण पणिक्कर : मेरे चाचा सरदार पणिक्कर जब भी कावालम में होते, वल्लथोल हमारे घर आते थे। कलामण्डलम् के आरम्भिक वर्षों में इस कार्य के लिए वे जब चेष्टा कर रहे थे, उन्होंने मेरे सबसे बड़े ताऊ डॉक्टर के. पी. पणिक्कर को इसका कोषाध्यक्ष बनाया था। भारत के उत्तरी इलाके से मदद के लिए वे सरदार पणिक्कर पर निर्भर रहते थे। वल्लथोल मेरे चाचा के लिए गुरु समान थे। बड़े थे, उनकी गुरुता का वे आदर करते थे। उनके महाकवि होने का सम्मान करते थे।

इसके अलावा वे दोनों अच्छे मित्र भी थे इसीलिए परिवार के सदस्य की तरह हमारे घर आते थे। चाचा साल में एक बार घर अवश्य आते थे। वल्लथोल भी साथ में होते। सरदार पणिक्कर पहले किसी रियासत में प्रशासक के तौर पर काम करते थे। बाद में वे मिस्र और चीन में भारत के राजदूत होकर गये, अन्त में मैसूर विश्वविद्यालय के उपकुलपति हुए। वल्लथोल के बिना उनके घर आने की बात सोची भी नहीं जा सकती थी। जीवनपर्यन्त यही क्रम रहा, उनकी मृत्यु के एक वर्ष पहले तक। वल्लथोल एलेप्पी में मेरे चाचा के घर में रहते और कावालम में हमारे पैतृक घर में। मैं जब वकालत करने लगा और अपना मकान बना लिया, तब वे चाचा के मकान से मेरे मकान में आ गये।

सरदार पणिक्कर बीकानेर रियासत के प्रधानमन्त्री थे। दो अवसरों पर जब वे वहाँ चले गये थे वल्लथोल हमारे साथ रुके रहे और उन्हें अपने साथ लेकर गाड़ी में कई जगह ले जाने का सौभाग्य मुझे मिला, जहाँ वे ऋग्वेद का अपना अनुवाद बेचना चाहते थे। उनका अनुवाद बहुत महँगा था और उन दिनों उसे बेच पाना आसान नहीं था। उन दिनों के कुछ रोचक संस्मरण हैं। मैं जब छोटा था, वे मेरी कविताएँ सुधार देते थे और मुझे कविता लिखना सिखाते थे। एक बार ऋग्वेद बेचने मैं उनके साथ एक बड़े रईस कपड़े

के व्यापारी के यहाँ गया। वे प्रसिद्ध थे और एलेप्पी के मन्दिर में अपने खर्चे से उत्सव का आयोजन कराते थे। उन दिनों जो वल्लथोल से बात करना चाहता, उनसे लिखकर बात करता जिसे वे तत्काल समझ लेते। उनके घर में घुसने के पहले मैंने उन्हें बताया कि ये बहुत धनी हैं। मैंने अपने हाथ पर लिखा, क्या ये कुछ देंगे? ऐसे धनी लोग किताब खरीदने में रुचि नहीं रखते, उनके लिये किताब बेमतलब है। फिर सोचा कि प्रयास करने में कोई हर्ज नहीं, सो हम उनके यहाँ गये। मैंने उन्हें वल्लथोल का परिचय दिया कि ये केरल के सबसे महान कवि हैं। उन्हें ऐसे महान व्यक्ति से मिलकर प्रसन्नता हुई। उन्होंने चाय, नाश्ता, फल आदि से स्वागत किया। वल्लथोल के कहने पर मैंने उन्हें वहाँ आने का मकसद बताया। मेरी बातें सुनकर वे बोले- 'मैं तो किताब पढ़ता नहीं हूँ।' मैंने अपने हाथ पर लिखकर वल्लथोल को यह बताया। वल्लथोल हँसे और बोले- 'उनसे कहो कि नहीं पढ़ते तो कोई बात नहीं, केवल पैसे दे दें।' मैंने उसी तरह उनसे कह दिया कि वे पढ़ने और खरीदने, दोनों में से एक कष्ट को चुन लें। न पढ़ें, तब भी खरीद लें।

एक बार मेरे साथ रहते हुए वे बीमार हो गये। हर रात मैं कुछ समय उनके साथ बैठता था और वे मुझे अपनी कहानियाँ सुनाते। स्मृति से एक श्लोक बताते हुए उन्होंने मुझसे कहा कि इसे लिख लो और याद कर लो। कहा कि इसे उन्होंने बहुत पहले लिखा था और इसे कोई नहीं जानता। उन्हें तम्बाखू खाने और नस सूँघने की आदत थी जो बहुत बाद में उन्होंने छोड़ी। अपने एक श्लोक में यह भी लिखा था कि यह आदत कैसे लगी और कैसे छूटी। वे श्लोक अब विस्मृत हो गये और खो गये। केवल एक याद रहा जो गुरु वाययूर के भगवान कृष्ण पर लिखा था, जो आज भी मुझे पूरा याद है।

उदयन : क्या वह मलयालम में था?

पणिक्कर : हाँ! वल्लथोल का एक स्तर था। सरदार पणिक्कर ने पण्डित नेहरू से उनका परिचय करवाया था। उन्होंने नेहरू जी को कलामण्डलम् के सालाना जलसे में आमन्त्रित किया था। मैं जब उच्चतर माध्यमिक शाला में पढ़ता था, सरदार पणिक्कर गर्मी की छुट्टियों में आये थे। मेरी परीक्षा हो चुकी थी। घर में कथकलि प्रदर्शन व अन्य गतिविधियों का उत्साह भरा माहौल था। चाचा जब लौटने लगे तो वल्लथोल भी जाने को तैयार हुए। वल्लथोल ने मेरे दादाजी और चाचा से छोटे पणिक्कर को साथ ले जाने के लिए पूछा। चाचा ने कहा कि वह अगर जाने को तैयार है तो ठीक है। पर उससे बात कर लो। वल्लथोल ने बताया कि कल जब हम साथ में घूमने गये थे, उन्होंने बात कर ली थी। अब सबकी अनुमति होने से वह राजी है। उन्होंने कहा कि अपने साथ रख वे मुझे कला और साहित्य के बारे में सिखाएँगे। यह जानकर चाचा बहुत प्रसन्न थे। कोचीन की ट्रेन में चाचा को विदा कर, हम दोनों दूसरी ट्रेन से चेरूथुर्थी के लिए रवाना हुए थे।

उसे आजकल वल्लथोल नगर कहा जाता है। वे रास्ते में एक मित्र से मिलना चाहते थे। उन्होंने मुझसे बड़ी सज्जनता के साथ पूछा कि मुझे उनके व चाचा के मित्र पर्यथ रमन के यहाँ जाने में कोई अड़चन तो नहीं। मैं क्या वहाँ जाना चाहूँगा? फिर मेरे राजी होने पर हम अलूवा में उतर गये। फिर बैलगाड़ी से आगे गये। रास्ते में उन्होंने मेरे सामने सिगरेट भी पी।

उदयन : सचमुच?

पणिक्कर : हाँ! उन्हें सिगरेट पीने की आदत थी। मैंने भी कम उम्र में सिगरेट पीना शुरू कर दिया था। बाद में मेरे बेटे का सिगरेट पीना मुझे बुरा लगा। रास्ते में रेल्वे क्रॉसिंग पर बैलगाड़ी रुकी तो मैं सिगरेट पीने थोड़ी दूर उतरकर चला गया। लौटा तो उन्होंने पूछा कि कहाँ गया था, सिगरेट पीने? फिर बताया कि उनका छोटा बेटा बालन भी सिगरेट पीता है। मुझे यह अच्छा लगा कि अपने से छोटों के साथ भी वे कितनी आसानी से सम्बन्ध बना लेते हैं। वहाँ एक दिन रुककर हम आगे रेल से चेरूथुर्थी के लिए रवाना हुए। कुछ ही घण्टों में हम उनके घर पहुँच गये। मैं महीना भर उनके साथ रहा। उनके घर आने वाले उनके मित्रों से मैं मिल पाता था। लोग बड़ी संख्या में आते। वहीं पर मेरा परिचय शंकर कुरुप से हुआ। एक अन्य कवि ओलप्पामन्ना से भी। सभी से मेरा परिचय कराते वे कहते- 'ये महान पारम्परिक घराने से हैं और कवि हैं। आप इनका ध्यान रखें।'

उदयन : क्या आप कथकलि भी देख रहे थे?

पणिक्कर : उनका कलामण्डलम् तो कथकलि का घर था। वल्लथोल सुबह काँजी (चावल का झोल) लेते। उनकी बेटी वसन्ती और घर के अन्य सभी के साथ मैं भी यही लेता। वे सुबह सात बजे घूमने निकल जाते और काँजी लेने के समय तक लौट आते। तब तक चाय पीना प्रचलित नहीं था और ज़रूरी भी नहीं था। प्रतिदिन सुबह हम घूमने जाते। वे सारी कलरियों में जाते और सभी गुरुओं से मेरा परिचय कराते। मुझे चुल्लीअट्टम् के बारे में समझाते।

उदयन : चुल्लीअट्टम् क्या होता है?

पणिक्कर : कथकलि को बिना पारम्परिक वेशभूषा में प्रस्तुत करने को चुल्लीअट्टम् कहते हैं। यह केवल अभ्यास ही होता है।

उदयन : क्या कथकलि के पुनर्जीवन और पुनर्स्थापन का श्रेय उन्हें है?

पणिक्कर : हाँ! अकेले उन्हीं को है। उनके सरदार पणिक्कर को लिखे पत्रों में कलामण्डलम् को विकसित करने सम्बन्धी विचार भरे पड़े हैं। मैंने उनका प्रकाशन इसलिए करवाया क्योंकि वे महत्त्वपूर्ण दस्तावेज़ हैं। कलामण्डलम् के लिए उन्हें जो भी पैसा मिलता, उसे वे बहुत सोच-समझकर काम में लेते थे। बीकानेर की रियासत में चाचा मुख्यमन्त्री थे, वे वहाँ अतिथि बनकर जाते थे। वहाँ के पुस्तकालय का संग्रह बहुत अच्छा था। उन्हें वहाँ रहते कर्पूरचरितम् को मलयाली में अनूदित करने का अवसर मिला। सरदार पणिक्कर ने वल्लथोल, शंकर कुरुप, चंगमपुजा, कृष्णा पिल्लै जैसे लेखकों को प्रोत्साहित किया। वे जहाँ भी जाते, वहाँ से उन्हें अँग्रेज़ी कविताएँ और काव्य संग्रह भेजा करते।

उदयन : प्रदर्शनकारी कलाओं से आपका सम्पर्क वल्लथोल के माध्यम से हुआ। कविता से आपका सम्बन्ध पहले से ही था।

पणिक्कर : दुःख तो ये है कि ये आरम्भिक कविताएँ खो गयीं।

उदयन : लेकिन महान कला रूपों से आपका घनिष्ठ परिचय हो चुका था। रंगकर्म के आपके अन्य स्रोत कौन से थे, अन्य प्रदर्शनकारी कलाओं से आपके सम्पर्क क्या थे?

पणिक्कर : कावालम में रहते हुए, अपने जिले के बाहर के कला रूपों से सम्पर्क के अवसर बहुत कम थे। हमारे यहाँ मन्दिरों में कथकलि, वेलाकली और थुल्लल कला रूप थे।

उदयन : वेलाकली क्या है?

पणिक्कर वेलाकली युद्ध सम्बन्धी कलारूप है। इसमें भाग ले रहे नर्तकों की शारीरिक ऊर्जा का खूब निखरा प्रदर्शन होता है। थुल्लल एक ऐसा अन्य रूप है जिसने मुझे आकर्षित किया।

उदयन : थुल्लल किस तरह का कला रूप है?

पणिक्कर : थुल्लल एक नया कला रूप था, जिसका परिचय, अभ्यास और लेखन कंचन नाम्बियार ने किया। कंचन नाम्बियार, नाम्बियार जाति के थे, पणिवदास थे, अर्थात् जो कुडियाट्टम् में काम आने वाला ताल मिड़ाऊ बजाते थे। नाम्बियार मेरे शहर एलेप्पी के पास राजा अम्बलपुजा के दरबार में कवि थे। अम्बलपुजा छोटी सी रियासत थी किन्तु वे राजा कहलाते थे। राजा देवनारायण कलाओं के एक बड़े संरक्षक थे। राजा ने कंचन नाम्बियार को चाक्यार के विरोध में थुल्लल की रचना के लिए दण्ड दिया था।

ऐसा कहा जाता है कि कुडियाट्टम् के मंच पर सो जाने के लिए उनको प्रताड़ित किया गया था। चाक्यार जब मजेदार कहानी बता रहे थे, तब वे सोते पाये गये। मिड़ाऊ बजाने के बजाय मंच पर सो जाने के लिए चाक्यार ने उनकी हँसी उड़ायी। कुडियाट्टम में ऐसा प्रचलित था कि अभिनय करते हुए चाक्यार आसपास घटती किसी चीज का माखौल उड़ाये। उन्होंने कंचन नाम्बियार का मजाक बनाया और वे ख़फा होकर मंच से उतर गये। इसके प्रतिरोध में वे कल्याण सौगन्धिकम् लिखने लगे। उस कहानी को उसी खुले मन्दिर के प्रांगण में अभिनीत किया गया जहाँ चाक्यार ने मंचन किया था। नाम्बियार की प्रस्तुति के प्रति लोगों में आकर्षण था और उसे कई लोग देखने गये। चाक्यार को बुरा लगा। राजा से शिकायत की गयी और उन्होंने नाम्बियार को दण्ड के बतौर वहाँ आने और थुल्लल प्रस्तुत करने की मनाही कर दी। आज भी अम्बलपुजा के मन्दिर में थुल्लल का प्रदर्शन नहीं होता।

उदयन : थुल्लल का स्वरूप कैसा है?

पणिक्कर : यह एक तरह का संगीत पर आधारित कथा वाचन है जिसमें अनेक देसी लयों की प्रधानता है। नाम्बियारों ने केरल के अनेक कला रूपों में निहित विशेष लयों की खोज की। वे मामूली से मामूली आदमी के पास गये और उनसे तरह-तरह की लोक लयों को (जो खेत में काम करने वाले किसानों से जुड़ी थीं) सीखा और उन्हें अपनी कला में विशेष दर्जा दिया। उन्होंने पौराणिक कहानियों को अपनाया। उनका विस्तृत कृतित्त्व था। इसके अलावा वे स्वयं प्रदर्शन भी करते थे।

उदयन : कुडियाट्टम् का भी प्रदर्शन करते थे?

पणिक्कर : नहीं, अट्टम् से थुल्लल भिन्न है। थुल्लल में ऊपर-नीचे उछलना होता है, जबकि अट्टम में गति आड़े में है। थुल्लल में अभिनेता बाकायदा वेशभूषा पहनकर खड़ा हो कथा कहता है। इसके पीछे खड़ा दूसरा व्यक्ति गायन करता है और तीसरा आदमी ताल वाद्य बजाता है। प्रस्तुति में काव्य के गायन के साथ

अभिनय भी किया जाता है। दो पँक्ति गायी और फिर उस पर अभिनय किया। वादक उसे फिर संगीत में दोहराता है। नर्तक नृत्य की मुद्राओं से उसी को विस्तार कर दिखाता है। यह कला रूप अपने व्यंग्य के लिए जाना जाता है। चाक्यारों की प्रवृत्ति भी व्यंग्य प्रधान होती है किन्तु नाम्बियार का थुल्लल उससे भिन्न और कहीं अधिक शक्तिशाली ढंग का व्यंग्य प्रदर्शन है। उनका थुल्लल कृथिकल बहुत प्रचलित हुआ। मेरे लिए यह केरल के संगीत का भण्डार है, केरल की लय है क्योंकि अभी भी थय्यम और अन्य रूपों में इसका प्रयोग होता है। इसके प्रभाव मेरे काम में भी मिलेंगे। कंचन नाम्बियार एक अत्यन्त रचनाशील लेखक, कलाकार और प्रस्तुतकर्ता थे। केरल के सांस्कृतिक उत्थान में उनका विशेष योगदान है। उन्होंने प्राचीन आंचलिक कला और साहित्य की पुनर्स्थापना की।

उदयन : आपने उन पर एक नाटक लिखा है...

पणिक्कर : नाटक का नाम भी उन्हीं के नाम पर रखा कंचन नाम्बियार । पर उसमें उनका जीवन चित्रण वहाँ तक किया है जब त्रावणकोर के महाराजा, अम्बलपुजा के राज्य को अपने आधीन कर लेते हैं। जब अम्बलपुजा पर त्रावणकोर का कब्जा हो गया, राजा उन्हें तिरुवनन्तपुरम् ले गये। मैंने वहाँ तक ही लिखा है। इस मिथक पर मेरी दृष्टि अलग थी। यह किस्सा एक मिथक ही माना जाता है क्योंकि लोग इसे स्वीकार नहीं कर पाते और असम्भव मानते हैं कि व्यक्ति एक मंच से बाहर चला जाये और तुरन्त दूसरे कला रूप को अपना ले। मैंने जिस बात को उजागर किया वह थी कि वे शास्त्रीय कला से उकता गये थे और चाक्यारों की तरह कथा सुनाने में उत्साह नहीं रखते थे। मेरी नजर में उनका मंच पर सो जाना भी यही दर्शाता है।

उदयन : आप अपने आरम्भिक दिनों में किन दूसरे कलारूपों के सम्पर्क में आये?

पणिक्कर : त्रिचूर की संगीत नाटक अकादमी में सचिव के बतौर काम करने के पहले, मैंने कभी कुडियाट्टम नहीं देखा था। वहाँ वदक्कुनाथन मन्दिर में इसे देखने का मौका मिला। इसके पहले मैं अपने जिले के सारे कलारूपों को देख चुका था, किन्तु कुडियाट्टम का कोई अनुभव नहीं था।

उदयन : क्या इन कलाओं के कलाकार आपके घर आते थे?

पणिक्कर : केवल कथकलि के कलाकार मेरे घर आते थे। बाकी कलारूपों के प्रदर्शन या तो मन्दिरों में होते थे या फिर खुले खेतों में।

उदयन : आपका बचपन कैसा था?

पणिक्कर : बालकृष्ण पणिक्कर, गोपीनाथ पणिक्कर, दामोदर नायर सरीखे बहुत अच्छे मित्र थे जो पास में ही रहते थे। हमने आपस में मिलकर बालजनसाख्यम् बनाया था। मैं उसका अध्यक्ष था। पानी से घिरे इस गाँव में मन्दिर के उत्सव में भाग लेने उन दिनों पम्पा नदी के पार से एक हाथी लाया जाता था। उसके बाद हम कभी घर नहीं लौटते थे। मन्दिर में ही रहते, कथकलि देखते, हाथी के पीछे घूमते, महावत से उसकी पूँछ के बाल काटकर देने को कहते। उसके बाल का छल्ला उंगली में पहनने से, कहा जाता था कि सारे भय दूर हो जाते हैं। मन्दिर के उत्सव के पहले गाँव में फसल कटाई का उत्सव होता। हम सब घूमते हुए खेतों

में जाते, किसानों के गीत सुनते और उनके साथ गाते। गर्मी की छुट्टियों में भी यही मेरे शौक थे। छुट्टियों के साथ कटाई का उत्सव आता, फिर मन्दिर का उत्सव। थुल्लल और वेलाकली सरीखे कलारूपों की आरम्भिक शिक्षा यहीं मिली। हम लोग शामिल हुए बिना, किनारे खड़े होकर थुल्लल देखा करते। फसल कटाई के गीत मुझे बहुत अच्छे लगते। आज भी याद आते हैं। मेरे लेखन में भी उनका प्रभाव है। गाँव के लोग, तब का सुना हुआ संगीत, पम्पा नदी, सभी कुछ बहुत प्रिय और प्रेरणादायक था।

उदयन : आपके नाटक थैयथय्यम् में ऐसे संगीत का प्रभाव स्पष्ट है।

पणिक्कर : उस नाटक में सारे दृश्य और वेशभूषा गाँव के अपने अनुभवों के आधार पर तय किये गये थे।

उदयन : अयप्पा पणिक्कर 'केरल कविता' नाम की एक पत्रिका निकालते थे। उन्होंने उसमें आपकी एक कृति प्रकाशित की थी, उसे नाम दिया था, नाटकीय कविता साक्षी।

पणिक्कर उसका नाम साक्षी था। वह एक नाटकीय कविता भी थी और काव्य नाटक भी। ऐसे नाटक तब लिखे जाते थे। पात्र कविता में बोला करते थे। जैसा हमने उत्तररामचरितम् में किया है, वे बहुत थोड़े में, बहुत मजे से बोलते। केरल कविता के इसके बाद वाले अंक में इसी तरह का एक काव्य नाटक छपा था जिसे जी. शंकर पिल्लै ने लिखा था। उसका नाम 'कीरातम्' था। मैंने साक्षी नाटक का अभ्यास एलेप्पी में आरम्भ कर दिया था। नाटक का निर्देशन मैंने नहीं, केशव पणिक्कर के छोटे भाई ने किया था। उसे हमने एक बड़े नाटक की तरह न करके तुरत-फुरत में किया था। इसे कोट्टायम में किया गया। ऐसे तीन केन्द्र थे जहाँ प्रचलित नाटकों से भिन्न सैद्धान्तिक रूप में प्रयोगात्मक नाटक किये जाते थे। तिरुवनन्तपुरम् में शंकर पिल्लै और सास्थमकोट्टा, कोट्टायम में श्रीकण्ठन नायर और एलेप्पी में मैं था।

उदयन : यह किस साल की बात है?

पणिक्कर : साठ के दशक के अन्त में या सत्तर के दशक के आरम्भ में। यह हमारी यात्रा की शुरुआत थी।

उदयन : इस पर कैसी प्रतिक्रिया मिली?

पणिक्कर : कुछ लोगों को अच्छा लगा था और कुछ ने सवाल उठाये, आलोचना की, किन्तु मित्रों और आलोचकों से बढ़ावा ही मिला। हम लोगों ने तय किया था कि रंगमंच को गम्भीरता से लिया जाना चाहिए। उन्हीं दिनों कुमार वर्मा राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय में इब्राहिम अल्काज़ी से शिक्षा पाकर लौटे थे। रंगमंच के लिए संघर्ष करते थे, क्या करें की ऊहापोह में उन्होंने सी.एन. श्रीकण्ठन नायर के नाटक साकेतम् पर काम शुरू किया। नाटक बुरी तरह असफल रहा। नाटक यथार्थवादी शैली की माँग करता था, किन्तु वर्मा ने उसे दूसरी तरह से किया था। निर्देशक की इच्छानुसार इसका अभ्यास यथार्थवादी शैली में किया गया था। विशुद्ध यथार्थवादी स्वर श्रीकण्ठन की ख़ासियत थी। अभ्यास के दौरान एक दिन पहले लेखक सूत्रधार की शैली बदलना चाहते थे। वे चाहते थे कि पारम्परिक चाक्यार शैली में अभिनय हो। निर्देशक की अनुमति मिलने पर मेरा भाई ऐसा आसानी से कर सकता था, जिसका समर्थन मेरे मित्रों ने भी किया। इसके बावजूद निर्देशक को यह पसन्द नहीं था। वर्मा ने राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय में नाम कमाया था और प्रतिभा दिखायी थी किन्तु वह साख यहाँ नहीं रह पायी। मैंने उन्हें एलेप्पी आकर मेरे साथ रहकर मेरा

नाटक साक्षी करने को कहा। जब मैंने उन्हें साक्षी को मंचित करने को कहा तो वे रोमांचित हुए थे। एलेप्पी में अभिनेताओं के एक दल के साथ हमने काम किया, तिरुवनन्तपुरम् में इसका सफल मंचन हुआ, किन्तु कौमुदी नामक अखबार में एक कवि नें, जिन्हें मैं नहीं जानता था, नाटक की तीखी आलोचना की। बाद में हम मित्र बन गये। तब उन्होंने लिखा कि पणिक्कर ने एक कविता लिखी, उसे फाड़कर कई टुकड़े कर अपने कुछ मित्रों में बाँट दिये जो उसका निरर्थक तरीके से पाठ करने लगे। महाविद्यालय के मेरे एक आदरणीय शिक्षक जो संगीत नाटक अकादमी के सदस्य थे, उन्होंने बिना संकोच के मुझसे पूछा कि पणिक्कर तुम ये क्या बकवास कर रहे हो। इसे रंगमंच कैसे कह सकते हैं। ये थे हमारे वरिष्ठ प्रतिभाशाली अभिनेता सी.आई. परमेश्वरन् पिल्लै।

उदयन : आपका मतलब है उन्हें आपकी साहित्यिक कृति पसन्द नहीं आयी थी?

पणिक्कर : उन्हें मेरी कविताएँ और गीत अच्छे लगते थे। लेकिन वे यथार्थवादी मंच के अभिनेता थे, उनकी जड़ें उस परम्परा में थीं, वे मेरा प्रयोगवादी रंगकर्म स्वीकार नहीं कर पाते थे। वे मेरे बहुत निकट थे और इस भावना से देखने आते थे कि मेरा काम उन्हें देखना चाहिए। उनके अनुसार यह बहुत ख़राब नाटक था। वे कहते, ये क्या है? क्या ये कोई नाटक है? पणिक्कर तुम कविता और गीत ही लिखो, नाटक मत लिखो। मुझे ख़राब नहीं लगा। न ही ये कि मैंने कुछ ग़लत किया है। मैंने अपना काम पूरी निष्ठा और हिम्मत से किया था। इसलिए मैं रुका नहीं। यह ज़रूर सोचा कि लोगों को यह समझने में समय लगेगा कि वास्तव में नाटक का अर्थ क्या होता है?

उदयन : केरल संगीत नाटक अकादमी में आपका समय कैसा बीता? मेरी समझ में वह आपके जीवन का महत्त्वपूर्ण हिस्सा था।

पणिक्कर : वह महत्त्वपूर्ण समय था क्योंकि तब मेरा परिचय सभी प्रकार की कलाओं से हुआ, कुन्नूर, कसरकोड और पलक्काड जिलों में। इन जिलों की कला परम्पराएँ समृद्ध थीं। पहली बार मेरा परिचय थय्यम, पोरात्तूनाटकम्, कन्यारकलि पूथमरूली आदि कलारूपों से हुआ।

उदयन : जब आपने थय्यम पहली बार देखा था, वह आपको कैसा लगा था?

पणिक्कर : इसे मैंने इसके परिवेश गर्भगृह में देखा था। जहाँ यह परम्परा में किया जाता था।

उदयन : आपको स्मरण है कि इसका प्रभाव कैसा था?

पणिक्कर : अद्‌भुत! थय्यम के बारे में जाने बिना भी ऐसा था। बिना किन्हीं विवरणों को जाने हुए भी थय्यम में विविध रंगों की वेशभूषा, चाल-ढाल, ऊर्जा आदि सभी कुछ बहुत आकर्षक था। मुझे यह तक पता नहीं था कि अमुक थय्यम का अर्थ क्या है, लेकिन पूरी सोच ही बहुत आकर्षक लगी। मृतात्माओं की अर्चना थय्यम का बुनियादी भाव है। उसमें देवता भी होते हैं। किन्तु मृत नायक जिन्होंने देश, राज्य या गाँव के लिए अपनी आहुति दी हो, वे ही प्रमुख होते हैं।

उदयन : उसमें अधिकांशतः वीर रस की प्रधानता रहती है?

पणिक्कर : वीर रस के साथ शृंगार रस भी देखा जा सकता है। प्रेम कहानी पर आधारित कतिनानूर वीरन इसी तरह का थय्यम है। कहानी कुछ इस तरह है कि एक युवा मन्नाप्पन पड़ोस में हुए एक युद्ध में मारा जाता है। उसकी प्रेमिका उसकी चिता में कूदकर अपनी आहुति दे देती है। ग्रामवासी मन्नाप्पन को देवता की तरह पूजते हैं। इसमें वीर रस और प्रेम की मुख्य भूमिका है।

उदयन : आपको यह देखकर मन में धक्का लगा था?

पणिक्कर : रंगमंच के लिए इसकी उपयोगिता देखकर मैं रोमांचित हुआ था। उसमें सबसे विशिष्ट था अभिनेता का चरित्र में बदल जाने का विचार। यह बुनियादी रंगमंच है। थय्यम की टिप्पणी सामाजिक सन्दर्भ में बहुत उपयोगी होती है। ऐसे मुद्दे जो मद्रास हाईकोर्ट हल नहीं कर सका, थय्यम से हल हो गये। बिगड़ी शादियाँ बन गयीं। ऐसा इसलिए सम्भव हो सका क्योंकि थय्यम के प्रति लोगों में आस्था थी।

उदयन : क्या यह इसलिए सम्भव हो सका क्योंकि वे यह मानते हैं कि थय्यम उनसे मृत्यु के पार से बोल रहा है।

पणिक्कर : यह रोचक है। पूरा नाटक इसी तरह है। अभिनेता मेकअप करने के बाद प्रेतात्मा में तब्दील हो जाता है और आखिर में जब आईना देखता है तो मानता है कि उसमें प्रेतात्मा मौजूद है। तब आईना भी फेंक देता है। यह परिवर्तन कई चरणों में कई तरह से होता है। वह पहले दिन से ही प्रायश्चित करने का निर्णय करता है, जिससे वह दूसरे के अवतार में प्रवेश कर प्रदर्शन कर सके। आस्थावान लोग उसे ईश्वर की तरह मानते हैं। गाँव के लोग कलाकार का नहीं, उसका सम्मान करते हैं, उस चरित्र का जिसे वह उनके सामने निभा रहा होता है जो इस रूपान्तरण का शिखर बिन्दु है।

उदयन : चरित्र में ढल जाना ही भारतीय रंगकर्म का निचोड़ है। क्या आपको इसमें और नाट्यशास्त्र के सिद्धान्तों में कोई सम्बन्ध नज़र आता है?

पणिक्कर : रूपान्तरण का सिद्धान्त नाट्यशास्त्र में रस के सिद्धान्त से अनिवार्यतः जुड़ा हुआ है। यह प्रमुख रस और संचारी भावों के बारे में बताता है। इसे हम मात्र दैहिक स्तर पर नहीं देख सकते जो कि वहाँ है, यानी वहाँ अंगिक तो है पर वाचिक भी है। थय्यम् में वाचिक के अद्‌भुत तत्त्व हैं। पर जब मैं रूपान्तरण के सिद्धान्त को अभ्यास में लेता हूँ, मुझे नाट्यशास्त्र से इसका सम्बन्ध रस की धारणा के माध्यम से ही होता है। थय्यम के एक दिवंगत कलाकार कन्नन पेरूवन्न ने एक किताब लिखी, जिसकी भूमिका मैंने लिखी थी। उन्होंने लिखा था कि लोग समझते हैं कि जब एक अभिनेता थय्यम करता है, उसे मानसिक अभिनय की ज़रूरत नहीं। लेकिन वहाँ मानसिक अभिनय होता है। जब आप वशीभूत हों, भीतर प्रेतात्मा हो तब भी। अभिनेता उनके आह्वन की मानसिक तैयारी करता है, प्रेतात्मा के उसके अन्तरतम में प्रवेश के लिए वह यह आभास देता है कि जिसे दर्शक बाहर से देख रहे हैं वह वास्तविक नहीं, बल्कि वह है जो थय्यम अभिनेता को वशीभूत किये हुए हैं। विभिन्न थय्यम का वर्णन करते हुए थय्यम के गीत इन्हें अच्छी तरह से वर्णित करते हैं। यह एक ऐसी चीज़ है जो सबसे मामूली को भी उच्चतम आध्यात्मिक स्तर से जोड़ती है। अभिनेता स्वयं को उस प्रेतात्मा से सराबोर कर लेता है किन्तु उसके अभिनेता व्यक्तित्व और प्रेतात्मा के व्यक्तित्व का भेद स्पष्ट रहता है। यह सब वास्तव में करके ही अनुभव किया जा सकता है।

उदयन : जहाँ एक समाप्त होता है दूसरा आरम्भ होता है....

पणिक्कर : इसे समझना कठिन है। जब थय्यम् में अभिनेता वशीभूत होता है, वो तब भी आपसे मामूली तौर पर आसपास की चीज़ों के बारे में बतियाता रहता है। पर इसमें एक ख़ास तरह की भाषाशैली रहती है। एक बार एक भक्त ने थय्यम को दो रुपये का एक नोट दिया, उसे देखकर वह बोला- लगता है इसे लेकर तुम दुनिया भर में घूमे हो, पर किसी ने नहीं लिया, तो तुमने सोचा, चलो इसे भगवान को चढ़ाते हैं, सोचो तो यह किसने कहा होगा अभिनेता ने या प्रेतात्मा ने।

उदयन : जब आप राज्य की अकादमी के सचिव थे, इस कलारूप का अनुभव तब ही मिला होगा। इसके अलावा कौन से अन्य कलारूप थे जिन्होंने आपको भीतर तक छुआ और आपको थय्यम् की तरह सराबोर किया। आप कुडियाट्टम् की चर्चा भी कर रहे थे?

पणिक्कर : कुडियाट्टम् और थय्यम महत्त्वपूर्ण थे। इसके पहले कथकलि का अनुभव भी मिला था।

उदयन : कुडियाट्टम् का आपका पहला अनुभव कैसा था?

पणिक्कर : मैं त्रिचूर के वदक्कुनाथन मन्दिर में कुडियाट्टम् का मंचन देखा करता था। तब मैं मन्दिर की नाट्यशाला कुत्तम्बलम् में घण्टों बिताया करता था। मैं जानना चाहता था कि ये क्या है। उस समय के एक श्रेष्ठ कुडियाट्टम् अभिनेता चाचू चाक्यार से मेरे बहुत अच्छे सम्बन्ध थे। मैंने अकादमी के लिए उनके कई साक्षात्कार किये। उस समय मैंने कथकलि और कुडियाट्टम् के कई नामी अभिनेताओं के साक्षात्कार किये थे। मैंने माधव चाक्यार, चाचू चाक्यार और माणि माधव चाक्यार- सरीखे तीन चाक्यारों के साक्षात्कार किये। तीनों से मैंने पूछा था कि आप सचमुच में दुर्योधन कब बन पाते हो? चाचू चाक्यार ने जो तब चौरानवे साल के थे, कहा था कि मैं अभिनय करता हूँ, केवल दिखाता हूँ कि दुर्योधन क्या है, कैसा है, कठपुतलियों को चलाने वाले की तरह ही दिखाता हूँ।

उदयन : क्या वे ऐसा कह रहे थे कि वे दुर्योधन एकदम नहीं होते, केवल उसे दिखाते हैं, तब तो यह थय्यम से एकदम अलग हुआ।

पणिक्कर : कला में ये दो भिन्न बातें हुईं। आप किस सीमा तक उस चरित्र से जुड़ पाते हैं? थय्यम में भी आविष्ट रहकर कलाकार उस चरित्र में कितना डूब पाता है, यह प्रश्न बना रहता है।

उदयन : फिर भले ही वह दो रुपये के नोट को पहचान पा रहा हो?

पणिक्कर : दोनों में एक बुनियादी फ़र्क है। थय्यम् सरीखे आनुष्ठानिक अभिनय में अभिनेता चरित्र से वशीभूत रहता है, वहीं कुडियाट्टम में अभिनेता का चरित्र के साथ एकात्म कभी नहीं होता।

उदयन : हम चाचू चाक्यार पर वापस लौटते हैं। उनसे क्या आपकी नियमित भेंट हुआ करती थी?

पणिक्कर : नहीं! मैं उनके साथ का एक अनुभव सुनाता हूँ। जब मैं अकादमी का सचिव था, हम लोगों ने तय किया कि चाचू चाक्यार को अकादमी पुरस्कार से सम्मानित करेंगे। केन्द्रीय अकादमी द्वारा राष्ट्रीय सम्मान के लिए वे कभी नामजद नहीं हुए। मैं पुरस्कार के सिलसिले में उनसे मिलने गया। उन्हें जब इस बारे में बताया, वे बोले- पणिक्कर, ये क्या होता है?' मैंने समझाया कि ये उनके काम को सम्मानित करने के

लिए है अतः उन्हें आना चाहिए। मैंने समय-तारीख बताते हुए उन्हें शाम छह बजे आने के बारे में कहा। उन्होंने कहा कि यह मुश्किल है क्योंकि यह उनकी सन्ध्या वन्दन का समय है, अतः वे पाँच बजे तक ही रुक सकेंगे, उसके बाद नहीं। फिर इरिंजलकुड़ा से त्रिचूर जाने में भी बहुत समय लगेगा। वे अन्त में बोले, छोड़ो, मैं नहीं आऊँगा। मैंने उन्हें किसी तरह मनाया। पर उन्होंने मुझसे वादा करवाया कि हर हालत में उन्हें साढ़े छह बजे तक छोड़ दिया जाएगा क्योंकि पूजा को इससे अधिक विलम्बित नहीं किया जा सकेगा। मैंने वादा कर दिया। वे आ भी गये। वे पहले पहुँच गये थे और उतावले होकर बार-बार पूछते थे, पणिक्कर कहाँ है, साढ़े चार तो बज चुके हैं, पुरस्कार कौन देगा, उसे बुलाओ और दे दो, खत्म करो, लोग इन्तज़ार कर रहे हैं। मैंने उन्हें बताया कि अभी मन्त्री जी का आना बाकी है, वे पाँच बजे आएँगे, तब कार्यक्रम शुरू कर देंगे। वे पाँच बजे तक प्रतीक्षा करने के बाद पुनः मुझसे बोले- पणिक्कर पाँच बज गया, अब मैं चलता हूँ। मैं पूजा के लिए और देरी नहीं कर सकता। उनका मंचन, जो वहाँ किया जाना था, मैं पहले ही रद्द कर चुका था लेकिन चाहता था कि वे पुरस्कार लेकर घर जाएँ। अन्त में मन्त्री जी आये, छह बज गये थे। मैंने चाक्यार से कहा कि मन्त्री जी के भाषण के तुरन्त बाद पुरस्कार दिया जाएगा। वे बोले, मन्त्री से कहो कि कम बोलें। मैं जाना चाहता हूँ।

उदयन : नहीं, तो उनकी सन्ध्या वन्दना छूट जाती?

पणिक्कर : उन्हें पुरस्कार से कोई मतलब नहीं था। मैं उन्हें लेकर मंच पर गया और किसी तरह पुरस्कार की रस्म पूरी की। फिर उन्हें वापस भेज दिया। वे बहुत अच्छा बोलते थे। कहानी भी बहुत अच्छे से सुनाते। एक बार जब त्रिचूर में कुत्त का मंचन कर रहे थे, एक मन्त्री नाटक देखने आया। वे बता रहे थे कि किस तरह हनुमान समुद्र पारकर लंका पहुँचने के लिए बाँध बना रहे थे। सीता को रावण के महल में बन्दी बनाकर रखा गया था। जब मन्त्री वहाँ पहुँचा, वे अभिनय से दिखा रहे थे कि कैसे वानर सेना पत्थर ढो रही थी। मन्त्री के साथ उनके कई खुशामदी भी थे। चाक्यार ने कहा- वाह, इतने सारे लोग! ये तो अच्छा है। आप सभी का इन्तज़ार था, आप ही के लोग पत्थर ढो रहे हैं, आइये आगे बढ़कर हाथ बटाइये। आइये, समय नष्ट किये बिना आइये। सभी जोरों से हँस पड़े। मन्त्री को खुशी नहीं हुई। लेकिन कुछ कह नहीं सके। एक और रोचक किस्सा है, ई.एम.एस. नम्बूदरीपाद का जो १९५९ में केरल के मुख्यमन्त्री थे। केरल में उनके नेतृत्व वाली कम्युनिस्ट सरकार के बर्खास्त होने के बाद जब वे चाचू चाक्यार का प्रदर्शन देखने वहाँ आये....

उदयन : क्या वे बर्खास्त होने के बाद वहाँ आये थे?

पणिक्कर : कम्युनिस्ट पार्टी उस समय पाँच लाख रुपये जमा करने के अभियान में लगी हुई थी। आज की पार्टी की तरह नहीं थी। उन दिनों वे अभाव में रहते थे, पैसा चन्दा लेकर इकट्ठा करते थे। ई.एम. शंकरन तीसरी कतार में बैठे थे। सामने नहीं थे। चाचू ने उन्हें देख लिया था। उस समय वे ब्रह्मा, विष्णु और महेश के बारे में बता रहे थे। ब्रह्मा और विष्णु की कथा सुनाकर महेश्वर की बारी आने पर महेश्वर का दूसरा नाम शंकर लेकर उन्होंने ई.एम. शंकरन नम्बूदरीपाद को देखकर कहा- ओ शंकर आप कहाँ बैठे हो, कहाँ तो आप सर्वशक्तिमान हो, कैलाश पर विराजमान थे और अब कहाँ। अब आप भिक्षा-पात्र लेकर, हमें भेंट दीजिये, ये दीजिये, वो दीजिये माँग रहे हैं। सभी हँस पड़े। ई.एम.एस. भी हँस पड़े।

उनकी एक और रोचक कहानी है। सुब्रमण्यम अय्यर कोचीन उच्च न्यायालय के जिला न्यायाधीश हुआ करते थे। उनकी आदत थी कि जब वकील अदालत में जिरह कर रहे होते, वे अपनी कुर्सी पर बैठे ऊँघने लगते। जब त्रिचूर के वदक्कुनाथ मन्दिर में चाचू चाक्यार को एक अरसे तक रोज शाम में कुत्त अभिनय के लिये अनुबन्धित किया गया, उनका प्रदर्शन देखने सुब्रमण्यम अय्यर नियमित आया करत थे। एक दिन कुछ वकीलों ने मिलकर चाचू चाक्यार से शिकायत की कि सुब्रमण्यम अय्यर ज़िरह के दौरान अदालत में सो जाते हैं, और चाचू चाक्यार इसे रोक सकते हैं। आरम्भ में चाक्यार ने कहा कि उन्हें अदालत से कुछ लेना-देना नहीं, लेकिन बाद में मनाने पर वे मान गये।

सुब्रमण्यम अय्यर चाचू के कुडियाट्टम् का मंचन नियमित देखते थे। वे हमेशा आगे की पंक्ति में ही बैठते थे। वकील भी वहाँ मौजूद थे। प्रस्तुति के आरम्भ में चाक्यार ने कहा पाण्डव कहाँ हैं। दुर्योधन ने अज्ञातवास में छिपे पाण्डवों को खोजने के लिये चारों ओर अपने आदमी भेजे हुए थे और वह उनसे यह जानना चाहता था। वह अज्ञातवास समाप्त होने से पहले उन्हें ढूँढ उनका वनवास काल बढ़वाना चाहता था। उसका एक दूत ख़बर लेकर आया तो चाचू बोले- वाह! ये दूत कहाँ से लौटकर आया है। दुर्योधन यह सोचकर खुश था कि यह दूत पाण्डवों के बारे में कोई अच्छा समाचार लाया होगा। आओ, आओ, क्या ख़बर लाये हो? क्या तुम सभी जगह गये थे? क्या तुम्हें पाण्डवों का पता चला? उसने दूत से सारे सवाल पूछ डाले। दूत ने अपने अनुभव बताने शुरू किये। इसके बाद चाक्यार ने सुब्रमण्यम अय्यर की ओर देखा और बोले-आप रुचि क्यों नहीं ले रहे हैं? आपने मुझे पाण्डवों को खोजने भेजा था और अब आपको सुनने में रुचि नहीं। क्या आप सो रहे हैं? सारे वकील हँस पड़े, सुब्रमण्यम अय्यर को भी बात समझ में आ गयी। चाचू चाक्यार ने बाद में मुझे बताया कि उस घटना के बाद उस न्यायाधीश ने अदालत में सोना बन्द कर दिया था।

उदयन : अद्‌भुत, क्या तरीका खोजा उन्होंने।

पणिक्कर : चाक्यारों की उस समय ऐसी स्वतन्त्रता और ऐसा प्रभाव हुआ करता था। अब वह सब नहीं रहा। लेकिन ऐसे महान अभिनेताओं से प्रेरणा लेकर काम करने, अभिनय की बारीकियाँ सीखने और उनसे चर्चा करने के अवसर मिलते हैं। इस तरह आप समझ सकते हैं कि चाक्यारों की अभिनय पद्धति और शैली दोनों ही बहुत विकसित थी। थय्यम् बहुत बुनियादी और तात्कालिक होता है। मुझे इन दोनों की तुलना कर दोनों से ऊर्जा पाने का अवसर मिला। इन परम्पराओं की अद्‌भुत सम्भावनाओं को हम नकार नहीं सकते। हमारे देश में ऐसा सोचा जाता है कि वेद केवल सुविधा सम्पन्न वर्ग के लोगों के लिये, ख़ास तबके के लिये हैं, आम आदमी से उनका लेना-देना नहीं है, वे ब्राह्मणवादी हैं- ये सब ग़लत धारणाएँ हैं। वेदों को ऐसा कहकर कोई छोड़ नहीं सकता कि वे एक जाति के हैं, यह ग़लत है। देश अपने ज्ञान के स्रोत से विमुख नहीं हो सकता- यह हम सबकी सम्पदा है, इस पर किसी एक सम्प्रदाय का हक़ नहीं।

उदयन : निश्चय ही। आप बता रहे थे कि अयप्पा पणिक्कर 'केरल कविता' नामक पत्रिका निकालते थे और आप सार्वजनिक स्थानों में अपनी कविता का पाठ करते थे।

पणिक्कर : ये उन दिनों की बात है जब साक्षी नाटक लिखा गया था। मेरे एक मलयाली लेखक मित्र एम.के. साहू ने इसकी भूमिका में कई प्रशंसनीय बातें लिखीं। उन्हें मेरे सभी नाटकों में साक्षी सबसे अच्छा लगा। साहू

मुझसे थोड़े बड़े थे तथा विद्यालय और महाविद्यालय में साथ में थे। मुझे उनकी बातें अच्छी लगीं, भले ही मैंने उन पर भरोसा नहीं किया।

उदयन : साक्षी लिखते समय आप पर आरम्भिक प्रभाव कौन से थे? क्या ऐसे कोई नाटक या कविताएँ थीं जिन्हें उन दिनों आपने ख़ासकर पसन्द किया हो?

पणिक्कर : ऐसा केवल लेखन-शैली के सन्दर्भ में होगा कि मुझ पर कुछ प्रभाव पड़ा हो। आज यह कह सकता हूँ कि उन दिनों मैं अँग्रेज़ी अनुवादों में टैगोर को काफ़ी पढ़ा करता था। उन्हीं दिनों आयरलैण्ड के एबी थियेटर के नाटककारों को भी पढ़ा था।

उदयन : सिंज आदि।

पणिक्कर : सिंज और डब्ल्यू.बी. येट्स की कालवेरी आदि और दूसरे नाटककार जैसे मैटरलिंक। इन नाटकों को पढ़कर मैं अभिभूत हो गया था। आधुनिक नाटककारों की शैलियों से मैं बहुत प्रभावित था। इन प्रभावों को मैं मानता हूँ, इन्हें नकार नहीं सकता। इन नाटककारों से मुझे यह अन्तर्दृष्टि मिली कि नाटक के ढाँचे को खड़ा करने की क्या-क्या सम्भावनाएँ हो सकती हैं।

मैं इस निर्णय पर पहुँचा कि नाटक कोई एक तरह की बनी बनायी चीज़ नहीं है। ये सब हैं और एक तरह से उसकी कोई ज़रूरत नहीं है। फिर भी कुछ सन्धियाँ अनिवार्य हैं जैसे कि पंचसन्धियों में भी गर्भसन्धि को उसमें होना चाहिये, द्वन्द्व होना चाहिये। पर मैं जब साक्षी लिख रहा था, मुझे अपने जीवन के कुछ ऐसे वास्तविक अनुभव कुछ लोगों के साथ हुए, जिन्हें मैंने चरित्रों में ढाल दिया। मैं खुलकर नहीं कह सकता कि वे कौन थे पर मैं उनका धन्यवाद करता हूँ। बदलकर वे चरित्रों में भिन्न हो गये थे।

उदयन : कला, जीवन से इसी तरह ग्रहण करती है।

पणिक्कर : लेकिन बाहरी तौर पर नाटक के ढाँचे को तय करते हुए, जिन कलारूपों को मैंने देखा था, उनसे मैं प्रभावित हुआ। जैसे थय्यम या कथकलि जिसमें अभिनेता सम्वाद नहीं कहता, किन्तु पीछे से गायन होता है या वाचिक का स्वरूप भिन्न होता है। नाटकों में प्रचलित यही होता है कि अभिनेता बोलकर अपने को प्रगट करे। पर कथकलि में ऐसा नहीं होता। वाचिक का काम गायन से पूरा होता है। ख़ास अवसरों पर नाटक में भी इसी का इस्तेमाल किया जा सकता है, जब इससे भाव को उभारना हो। रंगमंच में सबसे महत्त्वपूर्ण यह है कि रंगमंच की तकनीकी से आप वांछित अवस्था को कैसे व्यक्त करते हैं। 'अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्' यह गुरु मन्त्र है जो हमें मानना है। नाट्य अवस्था होने की स्थिति की ही अनुकृति है। नाटक कहानी की अनुकृति या बाहरी परिस्थिति की अनुकृति नहीं है, बल्कि उस अवस्था की अनुकृति है जो आन्तरिक स्थिति है। वह किसी भी चीज़ की आन्तरिकता का निचोड़ है। अवस्थानुकृतिर्नाट्यम् से मुझे समझ में आया कि नाटक की रचना के लिये कहानी का क्षीण स्वरूप भी पर्याप्त है। यह इस पर निर्भर करता है कि आप इसे कैसे करते हैं। रंगमंच में नाट्यपाठ अपने में ही सम्पूर्ण नहीं होता, उसे पढ़ने पर सम्प्रेषित होना, व्यक्त होना अनिवार्य है जिससे अवस्था का ज्ञान मिले, किन्तु उसमें यह क्षमता होना चाहिये कि सामाजिक अवस्था को कल्पित कर उसे दृश्य रूप में अनुभव

कर सके।

उदयन : यह सच है।

पणिक्कर : यह कविता के लिये भी सच है। उसमें भी आप यह नहीं मान लेते कि पूरा हो गया। मैंने जब उत्तररामचरितम् में आपसे एक लाइन देने को कहा तो आप अवाक् हो गये थे। आप खोज रहे थे कि कविता में इसे कैसे कहें। आपके मन में केवल कविता के माध्यम से यह विचार आता है। आप सीधे व्यक्त नहीं करते।

उदयन : हाँ!

पणिक्कर : ऐसा क्यों है? क्योंकि आप सोचने लगते हैं कि अवस्था को कैसे सम्प्रेषित करें। इस तरह अवस्था व्यक्त होती है। आप जब इस प्रक्रिया में होते हैं तब यह नहीं सोचते कि किसके लिये सम्प्रेषित करना है। मूलतः आप स्वयं को ही सम्बोधित करते हैं। दिक्कत वहाँ होती है जब आप दर्शकों की चिन्ता करते हैं। अवस्था के प्रति आपकी निष्ठा आपको व्यक्त करने का पूरा आत्मविश्वास देती है। स्थान के साथ दर्शकों की गुणवत्ता भी बदलती है। आप हर किसी के हिसाब से रचना नहीं करते। कभी-कभी आपकी रचना समझ में नहीं आती, फिर जब तक वे पूरा न समझें तब तक आपको लेखक या कवि मानने को तैयार नहीं होते। वाकई में ऐसा नहीं कि जो समझते हैं उन्हें हम गणना में ले नहीं रहे हैं, लेकिन उसके प्रतिमान भी हम अपने मन के भीतर तय करते हैं।

उदयन : तो इस तरह आपने साक्षी लिखा।

पणिक्कर : मेरे मन में यह विचार सजग रूप से नहीं था, न ही जब उसे लिख रहा था तब ऐसा था।

उदयन : मैं समझता हूँ।

पणिक्कर : किन्तु ऐसी सोच मुझमें थी, ऐसा बाद में लगता रहा।

उदयन : तब तक आप कविता लिखने लगे थे और आप उस दल का हिस्सा भी थे जो सार्वजनिक स्थानों पर कविता पाठ करते थे। पसन्द भी किये जाते थे। तब नाटक का लिखना कैसे आरम्भ हुआ?

पणिक्कर : लोग सोचते हैं कि नाटक लिखना और कविता लिखना एक नहीं है। वे उस अभिनेता के कारण ही अलग होते हैं, जिसके माध्यम से नाटक की कविता सामने आती है, लेकिन जब आप कविता लिखते हैं तो कविता किसी के माध्यम से सामने नहीं आती, बल्कि शब्दों से सीधे आती है। लिखा हुआ नाटक दर्शकों तक अभिनेता के द्वारा ही पहुँचता है।

उदयन : आपको ऐसा कब लगा कि आपको सचमुच नाटक लिखना चाहिये?

पणिक्कर माध्यम सचमुच बहुत महत्त्वपूर्ण है। ये दोनों भिन्न भी हैं। दोनों माध्यमों में सूक्ष्म अन्तर है पर दोनों का स्वभाव एक-सा है लगभग। मुझसे किसी ने पूछा कि कविता, नाटक और फ़िल्मी गानों के लिये क्या मैं भिन्न रचनात्मक मानदण्ड अपनाता हूँ। मैंने कहा कि माध्यम बहुत महत्त्वपूर्ण होता है पर सभी का

रचनात्मक स्वभाव एक-सा ही है। आप रंगमंच और अनुष्ठानों में भिन्न तरीके इसलिये नहीं अपनाते कि अनुष्ठानों में देवी-देवता, प्रतीक, शमन और भक्त हैं। ये तीनों तत्त्व रंगमंच में अन्य तीन तत्त्वों द्वारा बदले जाते हैं। रंगमंच में कविता काल्पनिकता को दिखाती है और चरित्र के स्वभाव को न्यायसंगत करती है। अपने आप में कविता कवि की कल्पना और व्यक्तित्व का प्रतिनिधित्व करती है। रंगमंच में काव्य रूप हमेशा अभिनय के नये क्षेत्र प्रस्तुत करते हैं जो लोकधर्मी व नाट्यधर्मी अभिनय के लिये अच्छे हैं। यह ऐसा नहीं है जैसा कि आप जीवन में अनुभव करते हैं जो कि लौकिक दृश्य जगत पर आधारित होता है। यथार्थवादी रंगमंच में भी जो सामान्य जीवन में सुना जाता है, वहाँ होता नहीं है, मेरा मतलब है कि इसे जीवन में से एक फाँक की तरह बाहर नहीं किया जाता।

उदयन : हाँ! नहीं किया जा सकता।

पणिक्कर : बिलकुल, ऐसा नहीं किया जा सकता। जब आप महावत के लिए सम्वाद का उपयोग करते हैं, तो कविता को छोड़ देने की आवश्यकता नहीं है। महावत के चरित्र के लिए उसे काव्य रूप में प्रस्तुत किया जाना नाटक के नजरिये को छूता है, बदलता है। इसीलिये मैं कहता हूँ कि कविता में लग रही शक्तियों के स्रोत भिन्न हैं और भिन्न क्षेत्रों से अपनी खुराक पाते हैं।

आप इससे लय को हटा नहीं सकते। रंगमंच में जब महावत का प्रवेश वक्राकार ढँग से होता है, उसके प्रवेश को वाद्यों द्वारा, विशेषकर रंगमंच के ताल वाद्यों द्वारा दिखाया जाता है। वास्तविक जीवन में इतने लयात्मक ढंग से प्रवेश नहीं होता है। पर नाट्यधर्मी तरीके से ऐसी लयात्मकता अनिवार्य है। इस तरह लय, संगीत और भी कुछ आप जैसा करना चाहें, सब वहाँ होता है। इन सब अवयवों के बिना कविता का होना भी सम्भव नहीं।

उदयन : सच है।

पणिक्कर : बशीर जिस तरह की मलयाली उक्तियों का उपयोग करते हैं जो मलियालियों के लिये भी आम नहीं है, उस पर लोगों को आपत्ति हो सकती है। मेरे दादा के पास हाथी था, बशीर की सबसे महत्त्वपूर्ण कृति है। उनके लेखन की ख़ासियत है उनके कहानी कहने का ढँग, जो कि एकदम जमीनी ढँग है। लेकिन वे जैसा दिखाते हैं, मलियाली भी वैसा नहीं बोलते। यह बहुत यथार्थवादी है। बहुत लोकधर्मी है और उस परम्परा से जुड़ा हुआ है जो आम है पर यही बशीर में काव्य तत्त्व पैदा करता है। इसी को आप बहुत परिष्कृत भाषा में प्रस्तुत कर सकते हैं और जहाँ है वहाँ से बहुत ऊँचे स्तर तक उठा सकते हैं। रंगमंच में काव्य तत्त्वों के उपयोग से ऐसा करना सम्भव है। ऐसे काव्य तत्त्व जो सुने जा सकें, देखे जा सकें। रंगमंच के सहित भाव में इस सबका समावेश है। काव्य के सहित भाव में कई चीज़ों का एका है जैसे अर्थ, वाक् आदि। संस्कृत में वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थ प्रतिपत्तये कविता है जो कालिदास के कुमारसम्भव से है। शब्द और अर्थ का एका ज़रूरी है। पर क्या यही पर्याप्त है? नहीं, भाव भी चाहिये। क्या वह पर्याप्त है। नहीं, बिम्ब रूप भी चाहिये। इसी तरह यह बढ़ते जाता है। आपने मुझसे काव्य और रंगमंच के बारे में पूछा है। जब आप इन सारे तत्त्वों को एक साथ कर देते हैं, काव्य बनता है। यह महत्त्वपूर्ण है कि ये तत्त्व एक साथ कैसे होते हैं, किस अनुपात में एक होते हैं। यह एक कविता से दूसरी कविता में भिन्न होता है। रंगमंच में सहित-भाव, नाट्यात्मक काव्य या चाक्षुष काव्य, ये सब काव्य के सहित भाव से भिन्न हैं।

उदयन : हाँ।

पणिक्कर : हमें समझना चाहिये कि सहित भाव के अलावा अन्य तत्त्वों से भी रंगमंच साहित्य बनता है।

उदयन : यह सच है। साक्षी लिखने तक आपने किसी नाटक का निर्देशन नहीं किया था।

पणिक्कर उसके बाद कुछ वर्षों तक नहीं किया था। मैंने नाटक का निर्देशन सन् १९७८ में किया, जब अशोक वाजपेयी ने मुझे संस्कृत में नाटक करने को कहा। वही पहला था।

उदयन : लेकिन उन दिनों आप नाटक और कविता दोनों लिख रहे थे।

पणिक्कर : पर मैं तब दूर रहता था। सारी चीज़ों को, निर्देशन को भी दूर से देखता और अपने सुझाव निर्देशकों को देता। मेरे सुझाव कभी अस्वीकृत नहीं हुए, क्योंकि हम सभी एकजुट होकर रंगमंच की सम्भावनाएँ खोज रहे थे।

उदयन : आप किन लोगों की चर्चा कर रहे हैं? साठ और सत्तर के दशक में आप किनके साथ काम कर रहे थे?

पणिक्कर : कुमार वर्मा, के.के. पणिक्कर और आरम्भ में कुछ अभिनेता भी। मेरे अभिनेता बहुत अच्छे थे जैसे नडीमुडी वेणु। अब वे बहुत मशहूर हैं। तब फ़ाजिल भी साथ था जो अब एक अच्छा फ़िल्मकार है और एक अच्छे फ़िल्म निर्देशक के रूप में जाना जाता है। उसने मेरे लिये अभिनय किया है। फ़ाजिल एक अपवाद भी था क्योंकि उसे हमारी तरह के रंगमंच में आस्था नहीं थी। उसने मेरे साथ इसमें मन लगाकर चेष्टा की पर विफल रहा। उसे मेरे तरीके में विश्वास नहीं था, वो पूरी तरह यथार्थवादी था, इसमें उसका मन नहीं रमा। उसने जाकर अपनी फ़िल्में बनायीं। अपने खुद के नाटक भी लिखे और नाटककार भी बना। उन्हें अच्छी व्यावसायिक सफलता भी मिली। लेकिन कुमार वर्मा और दूसरे अलग तरह के थे। मैंने सफल फ़िल्मकार जी. अरविन्दन के साथ भी काम किया। मेरे बचपन के एक मित्र, अलाचेरी मणि थे। हाल में उनकी मृत्यु हुई। साक्षी के बाद लिखा मेरा एक नाटक थिरूवजिथान को अलाचेरी ने निर्देशित किया। यह एक ऐतिहासिक नाटक था।

उदयन : अलाचेरी मणि ने आपके नाटक को निर्देशित किया था?

पणिक्कर : निर्देशन के लिये मैंने उनसे अनुरोध किया था, वे एक अभिनेता थे। उन्होंने अभिनय और निर्देशन दोनों किये। मैंने उनकी मदद की थी। वे मेरे सुझावों पर काम कर रहे थे। मैं उनसे वरिष्ठ था और कविता आदि की रचनात्मक प्रक्रिया में अधिक सक्रिय था। वे मेरा सम्मान करते थे। मैंने उन्हें स्वयं की इच्छा के अनुसार काम करने के लिये खुली छूट दे रखी थी। उन्हें कोई सुझाव देता तो वो उसे तुरन्त मान लेते। इन चीज़ों को मैं उन दिनों दूर से ही देखता था। फिर मेरे शिष्य भी वहाँ थे। उन्हीं में शिवमोहन थम्पी थे जो वाद्यों पर मेरे साथ काम करते थे, वे नाटक निर्देशित कर रहे थे। सो मैंने उनकी सहायता की। याद पड़ता है कि एक बार उन्होंने और एक युवा साथी ने मुझसे कहा- सर, आप तो ऐसा नहीं करते हैं, पर क्या मैं साइक्लोरामा का उपयोग कर सकता हूँ।

उदयन : नाटक में एक तकनीकी प्रयोग के लिये उन्होंने आपकी अनुमति माँगी।

पणिक्कर : मैंने कहा कि कर सकते हो, पर ऐसा नहीं करना बेहतर होगा। मैं तुम्हीं पर छोड़ता हूँ। उन्होंने उसे नहीं किया। फिर उन्होंने मेरे साथ मिलकर उससे भी बेहतर तरीके खोज निकाले, जिससे उस चरित्र की मृत्य को दिखाया जा सके। यह एक ऐसे आदमी के बारे में था जो हमेशा मरने का प्रयास करता था क्योंकि उसे लगता था कि उसके मरने से प्रलय मच जायेगा। सब स्वाहा हो जायेगा। यह स्वार्थ है। उसका स्वभाव ऐसा ही था, अपनी झूठी मृत्यु चाहता था। वह एक शास्त्रीय चरित्र थिरूवझीथन था। उसने मरने के कई प्रयास किये। इसे दर्शाने के लिये निर्देशक ने उसे बाँधकर, साइक्लोरामा में उसकी तस्वीर दिखायी। मैंने उससे कहा- तुम इतना घुमा-फिरा के क्यों दिखाना चाहते हो, तुम इसे सीधा दिखाओ तो बेहतर होगा। पर तुम सोचो कि कैसे करोगे। उसने चेष्टा की, पर बोला- सर, मैंने चेष्टा की और आपका सुझाव ही मैंने माना। रचनात्मक काम इसी तरह चलते रहे। मैं कभी वहाँ था, कभी नहीं था। अन्त में जब मैं संस्कृत नाटकों में आया, मैं स्वयं नाटक का निर्देशन करने लगा। मैं कुमार वर्मा का सहायक था। मैं जब सचिव था संगीत नाटक अकादमी ने कुमार वर्मा से त्रिचूर में होने वाले राष्ट्रीय महोत्सव के लिये नाटक करने का अनुरोध किया था। यह मेरे संस्कृत से मलयालम में अनूदित नाटक भगवदज्जुकम् था। यह उनके साकेत नाटक में विफल होने के बाद की बात है। उसके बाद उन्होंने साक्षी नाटक किया। उन्हें मैंने अपने अनूदित नाटक भगवदज्जुकीयम् करने के लिये आमन्त्रित किया।

भगवदज्जुकम् के मंचन सम्बन्धी सारी सामग्री जुटाते समय वे मेरे सहायक थे। मैं जब शोध कर रहा था, उस समय कुमार वर्मा मेरे साथ थे। वे अपने काम के लिये नहीं बल्कि उसके पहले तब मुझसे जुड़े, जब मैं नाटक लिख रहा था।

उदयन : अच्छा!

पणिक्कर : 'अट्टप्रकारम्' और 'क्रमदीपिका' विशाल और बड़े ग्रन्थ हैं, जो चाक्यारों का नाट्यशास्त्र है, भगवदज्जुकम् का मंचन करने के लिये भी है। मृत्यु के बाद होने वाले सारे रीति-रिवाजों के बारे में भगवदज्जुकम् में एक वक्तव्य है कि शांडिल्य अपनी तुष्टि के लिये एक आश्रम से दूसरे में आ-जा रहे थे. ... तब उन्हें भोजन चाहिये था। इसी सिलसिले में वे कहते हैं कि उनके परिवार में किसी का श्राद्ध है। अट्टप्रकारम् और क्रमदीपिका में इस पर विस्तार से चर्चा की गयी है। लेकिन हाल के समय तक इन नाटकों को चाक्यार नहीं कर रहे थे। नाट्यशास्त्र से प्रेरणा लेकर राम चाक्यार ने इस नाटक को तैयार किया। महान नारायण पिशारटी की मदद से मैंने इन दोनों ग्रन्थों को देखा-पढ़ा।

उदयन : आपने अट्टप्रकारम् और क्रमदीपिका का अध्ययन किया, उसकी बारीकियों में गये और कुमार वर्मा से उस पर चर्चा की।

पणिक्कर : कुमार वर्मा से चर्चा की। जैसे कि नाटक में शांडिल्य के प्रवेश को लेकर। इसके अनुवाद के समय से वे मेरे साथ जुड़े हुए थे। वे चाहते भी थे कि मैं इसका अनुवाद करूँ। इसका एक हिन्दी अनुवाद भी था जिसे मैंने देखा था। फिर संस्कृत थी। हम लोग मलयाली में इसे कैसे करें, इससे जूझ रहे थे। हम दोनों को ही संस्कृत का इतना ज्ञान नहीं था, किन्तु मूल को समझने की कठिनाइयाँ आसानी से दूर हो गयीं। अन्ततः मैं ढँग से मूल का अनुवाद कर सका और यह प्रकाशित हो गया। कालीकट विद्यालय में दसवीं कक्षा के छात्रों को गद्य पढ़ाने के लिये इसे चुन भी लिया गया।

उदयन : क्या राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय से लौटने के बाद कुमार वर्मा को केरल अथवा मलयालम में पारम्परिक नाटक करने का कोई अन्दाज़ था? क्या यह उनकी जानकारी में था? अट्टप्रकारम् आदि या ऐसा कुछ?

पणिक्कर : उन्हें अपने रंगमंच की परम्परा का ज्ञान था। वे ऐसे एक बड़े परिवार से थे, जहाँ परम्पराओं का सम्मान किया जाता था। अल्काजी से वे जो सीखकर आये, वह पश्चिम का अँग्रेज़ी नाटक था। वे जब आये तब उत्साह से भरे हुए थे। अल्काजी के निर्देशन के तरीके से अभिभूत थे, तिरुवनन्तपुरम् के अभिनेताओं और श्रीकण्ठन नायर सरीखे लोगों ने उस पर प्रश्नचिह्न भी लगाये। उनका साकेत इसी कारण विफल रहा। उनके नाटक साकेत के मंचन के एक दिन बाद इसकी तीखी आलोचना हुई। वे अल्काजी के अन्दाज़ में ताली बजाकर अभिनेताओं और वरिष्ठ लोगों को कम ऑन कहकर बुलाते थे। उनसे अपने विद्यार्थियों-सा व्यवहार करते थे। उनसे कहते- कम ऑन, कल सब समय पर आइये। मैं नहीं चाहता कि कोई देरी से आये। यह सब लोगों से सहा नहीं जाता। अयप्पा पणिक्कर के कहने पर मैंने यह सब कुमार वर्मा को बताया था। आयोजक भी चिन्तित थे। वे कहते कि आप उनके निकट हैं, उनसे बोलिये कि उन्हें अपने अभिनेताओं से इस ढँग से पेश नहीं आना चाहिये। वे अल्काजी नहीं हैं। अल्काजी एक संस्था थे। उनका अपना एक तरीका था निर्देशन करने का जिसमें वे ही सब तय करते थे, वे एक शिक्षक थे और किसी से मिलकर काम नहीं कर सकते थे। मेरे लिये कुमार वर्मा के साथ मिलकर काम करना, एक नया मोड़ था। उनसे मैंने सामूहिक अभिनय और निर्देशन के तरीकों के बारे में जाना, जो बाद में अरविन्दन के साथ काम करते हुए, काम में पूरी ऊर्जा और सार्थकता के साथ प्रस्फुटित हुआ। अरविन्दन के साथ किये गये काम का अब मैं आनन्द से स्मरण करता हूँ।

उदयन : अच्छा!

पणिक्कर : ऐसा मैं अरविन्दन के साथ किये अपने काम के बारे में सोचता हूँ। कोट्टायम में श्रीकण्ठन नायर का एक नाटक करते हुए अरविन्दन को घोर विफलता का सामना करना पड़ा था। उस नाटक का नाम 'काली' था। श्रीकण्ठन नायर के नाटकों के विकासक्रम में काली एक भिन्न तरह का नाटक था, जिसमें रंगमंच के हमारे तरीकों के प्रति उनका लगाव स्पष्ट झलकता था। इस सोच में वे अग्रणी थे। अपने रंगमंच में भारतीयता के समावेश को उन्होंने अपना ध्येय बना रखा था। उन्होंने नाटक में इसे तन्तुनाटक का नामकरण कर रखा था। इसके पहले के उनके सारे नाटक यथार्थवादी साँचे में ढले हुए थे। केवल रामायण पर आधारित उनके तीन नाटकों को छोड़कर, ये थे साकेतन, लंका लक्ष्मी और कांचन सीता। इनमें से एक नाटक कांचन सीता पर अरविन्दन ने अपनी फ़िल्म बनायी। अरविन्दन का यह काम सारे भारत में चर्चित हुआ। इन नाटकों से श्रीकण्ठन नायर के रंगमंच में ख़ासा बदलाव आया।

उदयन : आप साकेतन के मंचन पर अरविन्दन की विफलता के बारे में बतला रहे थे।

पणिक्कर : साकेतन एक अलग तरह का नाटक था, उसे समझना कठिन था। मंच पर एक ठठरी है जो बढ़ रही है।

उदयन : आयनेस्को की एमीडी की तरह?

पणिक्कर : मैं उसे नाटक नहीं कहूँगा। उसमें नाट्यधर्मी के भारतीय तकनीक की प्रस्तावना आवश्यक थी।

उदयन : क्या विफलता का कारण नाट्यधर्मी को ठीक से नहीं समझ पाना था?

पणिक्कर : यही एकमात्र कारण नहीं था। ऐसा तब हुआ, जब रंगमंच में एक नयी तरह की संवेदनशीलता का प्रादुर्भाव हो रहा था।

उदयन : आपने श्रीकण्ठन नायर से इसकी चर्चा की?

पणिक्कर : जब मैं श्रीकण्ठन से मिला तो उन्होंने मुझसे पूछा- आप काली के मंचन में क्यों नहीं हाथ आजमाते। मैंने उनके नाट्यपाठ को पूरा पढ़ा। अगली मुलाकात में मैंने उनसे कहा- मैं इसके स्थल को बदलूँगा। नाटक का स्थल एक सत्र था जिसमें बहुत से कमरे थे। एक कमरे में नायिका विलासनी रहती थी और दूसरे कमरों में दूसरे चरित्र थे। मैंने उनसे कहा कि मैं उसमें सत्र सरीखे ख़ास नामकरण को नहीं रखूँगा और ऐसा चाहूँगा जैसे कि यह कहीं भी हो रहा है, इस तरह लगे। उन्होंने मुझे सुना पर राजी नहीं हुए। उन्होंने कहा- पणिक्कर तुम्हें इसे वैसा ही करना चाहिये जैसा मैंने लिखा है, यह नाटक के लिखने वाले और करने वाले के बीच के मतभेद को लेकर निजी स्वतन्त्रता का एक अहम् मुद्दा हो गया। इससे एक गम्भीर बहस चल पड़ी। आप देखेंगे कि श्रीकण्ठन नायर ने अपने नाट्यपाठ में कभी कोई बदलाव पसन्द नहीं किया। आप अब देखिये कि हम लोग उत्तररामचरितम् के मूल के साथ क्या कर रहे हैं।

उदयन : वे सम्भवतः कल्पना भी नहीं कर पाते।

पणिक्कर : वे ऐसी कल्पना भी नहीं कर सकते थे। इसके बावजूद अरविन्दन को उनकी कांचन सीता पर फ़िल्म बनाने की अनुमति मिली। यह श्रीकण्ठन नायर और अरविन्दन का सौभाग्य था कि वह फ़िल्म श्रीकण्ठन नायर के निधन के बाद ही प्रदर्शित हुई। मैं विश्वस्त हूँ कि वे उसे बर्दाश्त नहीं करते।

उदयन : क्या इतना अधिक परिवर्तन किया गया था उसमें?

पणिक्कर : अरविन्दन ने उनके पूरे नाटक से मात्र बीस वाक्य ही लिये थे।

उदयन : बस, सिर्फ़ उतना?

पणिक्कर : मात्र बीस वाक्य। श्रीकण्ठन ने कहीं लिखा था कि सीता प्रकृति है। अरविन्दन के लिये यही पर्याप्त था। वह वाक्य भी इस तरह नहीं लिया गया था, इसे केवल दिखाया गया था। जब भी सीता का सन्दर्भ आता, कैमरा घूमकर प्रकृति की विविधता, सघनता, हरीतिमा और गत्यात्मकता दिखाने लगता। कांचन सीता की बहुत आलोचना हुई। हम सभी उस फ़िल्म के प्रशंसक थे। कम्युनिस्ट नेता और मुख्यमन्त्री सी. अच्युत मेनन ने फ़िल्म की निन्दा की। वे स्वयं एक महत्त्वपूर्ण लेखक और चिन्तक रहे हैं। मेनन अनेक बातों पर सही सोचते थे लेकिन इस पर उनका सोच सही नहीं था। मार्क्सवाद के अलावा अन्य विषयों पर भी उन्होंने बहुत पढ़ा-लिखा था। कला पर लिखा भी था। अरविन्दन की निन्दा करते हुए उन्होंने जिस मुद्दे को उठाया, वह था कि अरविन्दन ने श्रीकण्ठन नायर के नाटक के साथ न्याय नहीं किया। मैंने इसका कड़ा प्रतिवाद किया। ऐसा लगता था जैसे कि वे श्रीकण्ठन नायर की ओर से बोल रहे थे।

उदयन : और तब तक श्रीकण्ठन नायर थे ही नहीं....

पणिक्कर : वे गुज़र गये थे। उन्होंने लिखा कि सीता को दिखाने के लिये अरविन्दन ने बाहरी प्रकृति को क्यों दिखाया। लगता है कि अरविन्दन को आन्तरिक प्रकृति की समझ नहीं, बाहरी प्रकृति उसका प्रतिरूप नहीं हो सकती। फिर उन्होंने दूसरे कम्युनिस्ट दामोदरन को उद्धृत किया कि बाह्य प्रकृति और आन्तरिक प्रकृति एक नहीं होती या ऐसा ही कुछ। जिस पत्रिका में उनका लेख छपा था, उसी में लिखकर मैंने इसका प्रतिवाद किया।

उदयन : कौन सी पत्रिका थी?

पणिक्कर : एक कम्युनिस्ट पत्रिका, जनयुग। प्रतिवाद करते हुए मैंने लिखा कि यह लेख मैंने संयोग से पढ़ा है और मैं लेखक के बतौर मेनन का सम्मान करता हूँ। किन्तु जब उन्होंने दामोदरन को उद्धृत किया है तब मैं भी अरविन्दन के समर्थन में एक अन्य स्रोत को उद्धृत करना चाहूँगा। मैंने सर जान वुडरोफ़ को उद्धृत किया जो भारतीय नहीं थे, लेकिन वे भारतीय तान्त्रिक परम्पराओं की गहराइयों में गये थे और उनका कहना था कि बाह्य प्रकृति और आन्तरिक प्रकृति एक है। इनके ढाँचों में समानता है अन्यथा प्रकृति है क्या? मैंने वुडरोफ़ को विस्तार से उद्धृत किया। मेनन ने भी उसका जवाब लिखा। फिर मैंने लिखा कि इन बातों को मैं और आगे नहीं बढ़ाना चाहता। फिर भी उन्होंने लिखा कि वुडरोफ़ सही नहीं थे और आखिरकार वे थे कौन?

उदयन : श्रीकण्ठन नायर को लेकर चली इस बहस में नाटक के लेखक और निर्देशक के बीच के सम्बन्ध सामने आ गये। कांचन सीता पर फ़िल्म बनने से यह नाटकीयता भी पा गयी। मुझे लगता है कि यह आपके भीतर पहले से चल रही थी।

पणिक्कर : ये बहस मेरे मन में थी किन्तु रंगमंच के लोगों के बीच नहीं थी, क्योंकि श्रीकण्ठन नायर हमारे बीच से थे और सभी उनका सम्मान करते थे। उन्होंने मेरे और मेरे देवथार के बारे में लिखा था। वे हमारे आन्दोलन का हिस्सा थे। इसलिये यह मुद्दा उठा नहीं। अपने लिखे के प्रति अति संवेदनशील होने को छोड़कर, उन्होंने जो कुछ कहा, किया और हासिल कर गये, वह सब विशिष्ट था। शाब्दिक प्राचुर्य के बावजूद रामायण पर उनकी लिखी तीन कृतियाँ मलयालम साहित्य और रंगमंच पर अपनी अमिट छाप छोड़ गयीं। मेरे उनसे मधुर सम्बन्ध थे। उन्होंने मेरे रंगमंच का सचमुच में और उल्लेखित कर समर्थन किया था। जड़ों के रंगमंच का उनका सपना अधूरा रहा। मैं यही कहा करता था कि उनके सबसे अच्छे नाटक अभी लिखे जाने बाकी हैं। उनके मन में दो नयी चीज़े रूप ले रही थीं जिन पर हमारी आपस में चर्चा भी हुई थी। इनमें एक थी आत्मकथात्मक चिरुकन्दन तीर। जैसा नाम से झलकता है इसका कथानक थय्यम जैसी कला की ऊर्जा से भरा हुआ था। दूसरी खेतों में काम करने वाले गरीब मजदूर के बारे में थी।

उदयन : अरविन्दन की काली की विफलता के कारणों पर बहस नहीं चली?

पणिक्कर : मैंने उसे देखा नहीं, अतः यह नहीं कह सकता। लेकिन साकेत की विफलता का कारण था, लिखे हुए को शब्दशः मानने की कोशिश करना।

उदयन : उन्होंने नाट्यपाठ का पूरी निष्ठा से पालन किया होगा?

पणिक्कर : सम्भव है। अरविन्दन से मैंने इस पर कोई बात नहीं की। तब भी मैं चाहता था कि अरविन्दन मेरा नाटक करें। मैं जानता था कि वे बहुत कम बोलते हैं। इस पर वे कभी बहस नहीं करते कि अमुक चीज़ फ़िल्म में उन्होंने क्यों की। फ़िल्म बनाने के बारे में वे अल्काजी की तरह अकेले अपनी गाड़ी खींचने वाले आदमी थे। हर चीज वही तय करते थे। जब वे फ़िल्म का निर्देशन कर रहे होते तो पूरी तरह से उसी के वशीभूत होते। मेरेनाट्यपाठ पर जब वे फ़िल्म बना रहे थे, मैंने उन्हें ऐसा ही पाया। उनके पास जाकर मैं उनसे बात नहीं कर पाता था, क्योंकि वे अपने काम में डूबे रहते थे। निर्देशक के बतौर वे अपनी स्वछन्दता बनाये रखते और यदि कोई उनसे पूछता कि कोई चीज़ वैसी क्यों है तो उन्हें अच्छा नहीं लगता था क्योंकि वे इसे समझाना नहीं चाहते थे। इस कारण से भी मैं उन्हें पसन्द करता था। हम साथ थे पर वे तर्क के जरिये अभिनेता को सहमत कराना पसन्द नहीं करते थे। वे तर्क का सामना भी नहीं करते थे।

उदयन : जब नाटक कर रहे होते तो क्या वे दूसरी तरह के होते थे।

पणिक्कर : हर तरह से अलग होते थे। यही मैं कहना चाहता हूँ। मैं यह निश्चित कह सकता हूँ कि श्रीकण्ठन नायर की निगरानी में उनके द्वारा किया गया काली का निर्देशन एकदम जकड़ा-सा मशीनी हुआ होगा। शायद इसी कारण वे विफल रहे। नाटक का लेखक होने के नाते उसके प्रदर्शन की तैयारी के दौरान निर्देशक के काम में मैं कोई हस्तक्षेप नहीं करता था। उसे प्रोत्साहित ही करता था और यदि किसी बात पर कुछ कहना हो, चर्चा करना हो, तो उसे दिन भर का काम खत्म होने के बाद ही करता था। मैं कोई सीधा हस्तक्षेप नहीं करता था क्योंकि मैं अपनी स्वछन्दता किसी पर आरोपित नहीं करना चाहता था। मेरी बातें उनके मन में पहले से ही रहती थीं। बिना हस्तक्षेप के उन पर मेरा प्रभाव था ही।

उदयन : अरविन्दन कौन-सा नाटक कर रहे थे?

पणिक्कर : अवनवन कडम्बा। उसमें नब्बे दिन लगे पर उस पर बाद में बात करेंगे। एक ही ऐसा अभिनेता था जिसने फ़िल्म बनाते समय अरविन्दन के लिये अड़चन पैदा की थी। चिदम्बर में काम करते हुए गोपी पूछता- अरविन्दन, ऐसा मैं क्यों करूँ, बताइये? अरविन्दन कहते, गोपी जैसा कहा है वैसा करो। पर गोपी कहता- अभिनेता के बतौर मैं निर्देशक से जानना चाहता हूँ कि इसका आशय क्या है। फिर अरविन्दन को असहाय देख गोपी सहानुभूति के साथ स्वयं अरविन्दन की ओर से तर्क देने लगता था।

उदयन : एक बार फ़िल्मकार हिचकॉक से पूछा गया कि अभिनेता आपके लिये क्या मायने रखते हैं। उनका जवाब था वे मेरे लिये मवेशियों की तरह हैं। नाटक, फ़िल्म से भिन्न होता है। फ़िल्म का माध्यम कैमरा और ध्वनि के यन्त्र होते हैं।

पणिक्कर : अरविन्दन अपनी प्रतिभा के कारण फ़िल्म की सूक्ष्मताओं को जानते थे। वे अदूर गोपालकृष्णन से भिन्न थे। निर्देशक के बतौर अरविन्दन ने कभी नोट्स और स्केचेस बनाकर नहीं रखे। सब कुछ तात्कालिक करते थे। जहाँ तक मैं जानता हूँ, अदूर गोपालकृष्णन पहले ही कायदे से पूरी तैयारी कर लेते हैं।फ्रेम तथा ऐसा अन्य सब महत्त्वपूर्ण तय करने में उनका अपना मत होता है। गोपालकृष्णन को फ्रेम तथा ऐसे विवरणों को परिष्कृत करने की चिन्ता बनी रहती है, जबकि अरविन्दन का बड़ा गुण था, उनकी

काल्पनिक उड़ान।

उदयन : यह ठीक है।

पणिक्कर : दोनों भिन्न हैं। मैं इसीलिये अरविन्दन से कुछ दूर रहता। अपने लिखे नाट्यपाठ पर भी मैं दखल नहीं देता। यदि मुझे ऐसा लगता कि मेरा नाटक जिस तरह है, वैसा नहीं हो रहा है तब भी मैं दखल नहीं देता था।

उदयन : आप अवनवन कडम्बा के बारे में बता रहे थे?

पणिक्कर : अरविन्दन की कार्यशैली से पूरी तरह परिचित न होते हुए, अरविन्दन को इस नाटक को मंचित करने के लिये राजी कर लिया गया। उनका इसके पहले किया गया नाटक कांचन सीता मुझे अच्छा लगा था। उसमें मेरे बड़े भाई केशव पणिक्कर ने वाल्मीकि का अभिनय किया था। वे बताते थे कि अभिनेता कैसे चुने गये थे। उन्होंने अपने अभिनेता दूसरों से अलग विशेष तरह से चुने थे। राम और लक्ष्मण के पात्रों के लिये चेचक का दाग लिये चेहरे वाले लम्बादास (विजयवाड़ा के आदिवासी) चुने गये। किसी ने जब पूछा कि चेचक का दाग लिये पात्र क्यों चुने, तो उन्होंने कहा कि- क्यों लक्ष्मण को बीमारी नहीं हो सकती क्या। नायक रवि वर्मा के चित्र में दिखते राजकुमार की तरह रूमानी दिखे ऐसा ज़रूरी नहीं है। इस तरह कैलेण्डरों में शोभायमान दिखते नायक की सोच को उन्होंने बदला और अपनी तरह से काम किया। यह एक क्रान्तिकारी कदम था। इससे बहुत तर्कसम्मत और शक्तिशाली रास्ता खुला। प्रश्न उभरे कि नायक को क्यों और कैसा दिखना चाहिये। इसी तरह वहाँ फ़िल्मों में नायक का सोच बदला। वरना वेणु और गोपी सरीखे मेरे अभिनेतागण फ़िल्मों में कभी नहीं आ पाते।

उदयन : आप कह रहे थे कि अभिनेता चुनने के बारे में अरविन्दन की बिल्कुल अलग सोच थी?

पणिक्कर : अरविन्दन के बारे में मैं यही जानता था। उसका अर्थ हुआ कि जो फ़िल्में उसने बनायीं वही देखा। उनके योगदान को मैं उनके द्वारा तैयार किये गये काम से ही आँकता हूँ। जब वे तिरुवनन्तपुरम् आये १९७४ में, तब मैं भी एलेप्पी से तिरुवनन्तपुरम् आकर रहने लगा था। अपने साथ मैं अवनवन कडम्बा का कच्चा नाट्यपाठ लेता आया था। वहाँ मैं उनसे मिला। मैं पहले से शंकर पिल्लै और श्रीकण्ठन नायर की प्रस्तुतियों में जाया करता था। केरल कविता सबके बीच की सामान्य कड़ी थी। उसके कारण सभी का आपसी परिचय था। वहाँ कुछ ऐसे मित्र भी थे जो मेरे नाट्यपाठ पर काम करना चाहते थे। बहुत उम्दा मैनेजर नटराजन भी वहाँ थे। मुझे पता था कि अरविन्दन कोट्टायम में श्रीकण्ठन नायर के नाटक काली के मंचन में विफल रहे हैं, इसके बावजूद उनसे हम ये नाटक कराना चाहते थे। एलेप्पी में वेणु मेरे साथ थे और बालभवन में उनके लिये नौकरी का प्रबन्ध किया गया था। मैं जब तिरुवनन्तपुरम् आ गया तो चाहता था कि वेणु भी वहाँ आ जायें और साथ में काम करें। बाद में वे आये और साथ रहे। जब अवनवन कडम्बा पर हमने काम करना शुरू किया तब नटराजन, अरविन्दन और गोपी से मिला। गोपी पहले से ही मेरे मित्र थे। एलेप्पी में वो मेरे पास आया करते थे। मेरे रंगमंच से वो अभिभूत थे। मेरे नाटकों में काम करना चाहते थे। वो उन दिनों शंकर पिल्लै के साथ थे तथा उन्हें कह रखा था कि वो मेरे साथ काम करना चाहते है। वे बोले, मैं पणिक्कर चेट्टन के साथ काम करना चाहता हूँ।

जब वे मेरे पास आये, मैंने प्रस्ताव रखा- एलेप्पी में मेरे साथ रहो और देवथार में शमन का पात्र निभाओ। यह अभूतपूर्व नाटक था। साक्षी और तिरूवजिथान और कुछ दूसरे नाटकों के बाद देवथार करना एक भिन्न अनुभव था।

उदयन : लोग कितनी सुन्दरता से एक स्थान से दूसरे में जाकर नयी सम्भावनाएँ रचते हैं, मैं गोपी के बारे में कह रहा हूँ।

पणिक्कर : तिरुवनन्तपुरम् में घर लेकर जब मैं वहाँ आया, अवनवन कडम्बा का नाट्यपाठ अधूरा था और मैं चाहता था कि सभी मित्र साथ हों। वेणु को एक स्थानीय पत्रिका में नौकरी मिल गयी और वो उसमें लिखने लगा। वो अच्छा लिखता था। वो लोगों के साक्षात्कार करता और लिखता। वेणु, परमशिवम् (नर्तक) के साथ तिरुवनन्तपुरम् में रहने लगा। उसने भरतनाट्यम् सिखाने की कक्षा शुरू कर दी। मैं चाहता था कि वो मोहनीअट्टम् में चला जावे। क्योंकि भरतनाट्यम उस पर आरोपित था, उसके स्वभाव में नहीं था। वो असल में थुल्लल कलाकारों के परिवार से था। इसीलिये मैं चाहता था कि सीखे हुए भरतनाट्यम् को भूलकर वो मोहिनीअट्टम् में काम करे।

उदयन : परमशिवम् थुल्लल में पारंगत थे, जो भरतनाट्यम से भिन्न है और मेरी समझ में मोहिनीअट्टम् के निकट है।

पणिक्कर : मोहिनीअट्टम् में मुझे उसकी ज़रूरत थी। उन दिनों मैंने मोहिनीअट्टम् पर काम शुरू कर दिया था। और चाहता था कि वे इस काम को करें। मुझे परमशिवम् बहुत रोचक लगा। वो ऐसा गुरु था जो सिखा सकता था और थुल्लल की पृष्ठभूमि से होने के कारण अपने को आसानी से मोहिनीअट्टम् के अनुरूप बदल सकता था। हम सबका उसके यहाँ मिलने का अड्डा हो गया। नृत्य के लिये उसके घर से लगा एक शेड था। हम लोग वहीं मिलते थे पर अभ्यास के लिये वह जगह पर्याप्त नहीं थी। १९७५ में हम लोगों ने जुटकर गोपी और अरविन्दन के साथ अभ्यास शुरू किया। अरविन्दन निर्देशन कर रहे थे। भाग्यवश, स्वाति तिरुनाल के अम्मावीडु नामक एक ऐतिहासिक महत्त्व की इमारत में हमें जगह मिल गयी। यहाँ मोहिनीअट्टम् का अभ्यास किया जाता था। स्वाति तिरुनाल ने यह स्थान अपनी पत्नी को दिया था, जो मोहिनीअट्टम् की नर्तकी थीं और जिनके कारण इसे अम्मावीडु कहा गया। इसमें एक सुन्दर चौकोर चबूतरा था, खुली जगह थी, भीतर आँगन था जो नृत्य के लिये उपयुक्त था। हमारे अभ्यास के लिये बाहर का चबूतरा एकदम ठीक था। हमने अवनवन कडम्बा के लिये वहाँ तीन माह तक अभ्यास किया। अभ्यास देखने के लिये बहुत से लोग आया करते। अरविन्दन के अनेक मित्र वहाँ आते। ये सभी लोग जो फ़िल्मों से थे या कला में रुचि लेते- जब तिरुवनन्तपुरम् आते तो वहाँ अभ्यास देखने भी आते। अपनी फ़िल्म कांचन सीता पूरी करने के बाद अरविन्दन के पास पर्याप्त अवकाश था। रबर बोर्ड, जहाँ वे एक अफ़सर थे, वहाँ केवल जाना होता था। उस समय वे पूरी तरह अभ्यास में डूबे हुए थे, इसी के द्वारा अपने अभिनेताओं को उस मुक्त वातावरण से उत्पन्न खुलापन देना चाहते थे, जिसमें रंगकर्म के हर तत्त्व की स्वछन्दता थी। यह अरविन्दन के सिनेमा में काम करने की पद्धति से बिलकुल भिन्न था। उन्होंने सिनेमा में जो खोया था, उसे रंगकर्म में पा लिया। प्रतिदिन अनेक लोग उनकी रिहर्सल देखने आते, युवा दर्शक नाटक के गीतों को वहाँ गाकर समारोह मनाने लगते। अयप्पा पणिक्कर सरीखे लोग हमारे

इन प्रयासों में शरीक थे। वातावरण में रचनात्मकता और भरपूर आनन्द था। अरविन्दन अपनी ही बात चलाने वाले निर्देशक नहीं थे। सभी के सुझावों का स्वागत करते, किन्तु अन्तिम निर्णय उन्हीं का होता। गोपी को छोड़ सभी लोग उनके निर्देशन को मानते थे। अरविन्दन गोपी की परेशानियों को हल करने का प्रयास नहीं करते। क्रमशः सभी मित्र हो गये और घुलमिल गये। नब्बे दिनों चली रिहर्सल के कारण ऐसा सम्भव हुआ। नाटक को हम लोगों ने स्कूल के खुले प्रांगण में मंचित किया क्योंकि नाटक को इस तरह के खुलेपन की ज़रूरत थी। यथार्थवादी नाटकों के स्थानीय रंगकर्म से जुड़े लोग भी नाटक देखने आये। उनकी अपनी आशंकाएँ और सोच थी। पहले दिन तो हम लोग गणेश भगवान की पूजा कर रहे थे कि कहीं बारिश न हो जाये। बारिश की रोकथाम के लिये मन्दिर में तीन नारियल फोड़े गये, एक मेरे नाम से, एक अरविन्दन के नाम से और एक मोंगर नटराजन के नाम से। जब मन्दिर में नारियल फोड़कर लौट रहे थे तो रास्ते में मेरा एक रिश्तेदार मिल गया और बोला - लगता है बारिश होने वाली है। नटराजन चिढ़ गये और बोले- क्या बोलते हो। बिलकुल नहीं होगी, हम लोगों ने सारा इन्तज़ाम कर लिया है। चिन्ता की कोई बात नहीं है। बारिश तो नहीं हुई किन्तु बूँदा-बाँदी हुई। बाकी तमाम नाटकों के मंचन के दौरान बारिश हुई। हमेशा लोग पानी के थमने, अहाते के साफ़ किये जाने और नाटक के शुरू होने की प्रतीक्षा करते। अभी भी ऐसा ही होता है। मेरी सत्तरवीं सालगिरह पर यही नाटक लम्बे अन्तराल के बाद दोबारा किया गया। गोपी लकवा लग जाने के कारण अभिनय नहीं कर सका। वेणु था, बारिश भी थी। इसे अस्सीवें जन्मदिवस पर फिर किया गया। यह नाटक समय के साथ बढ़ता गया...

उदयन : नाटक जब पहली बार किया गया था, तब लोगों की प्रतिक्रिया कैसी थी?

पणिक्कर : अद्‌भुत थी, लोगों ने बड़े स्तर पर उसका स्वागत किया था। यथार्थवादी रंगकर्म की दृष्टि के बावजूद ऐसे नाटक के लिये यह बड़ी बात थी। उन लोगों में भी, प्रगट तौर पर नहीं पर उनके अभिप्रायों से इसकी सहमति दिखी। सभी ने इसे खुले दिल से स्वीकारा। इस नाटक की कई बातों पर खुलकर बहस चली।

उदयन : इन बहसों के मुद्दे क्या थे?

पणिक्कर : नाट्यपाठ से शुरू करके रंगकर्म के हर पहलू पर बहस हुई। उदाहरण के लिए श्रीकण्ठन नायर से इस पर बोलने को कहा गया कि नाटक के लेखक की स्वतन्त्रता नाटक के मंचन में कहाँ तक जायज है। इस पर विस्तार से वाद-विवाद हुआ।

उदयन : हम लोग अरविन्दन की काम करने की शैली और उनकी देन की बात कर रहे थे। आपने बताया था कि वे अपने पहले नाटक में बुरी तरह विफल रहे थे, फिर भी अपने नाटक को करने का प्रस्ताव आपने उन्हें दिया।

पणिक्कर : हाँ, अवनवन कडम्बा को करने का प्रस्ताव मैंने उन्हें दिया था। उसे उन्होंने बहुत खुशी से स्वीकारा और बोले- यदि पणिक्कर चेट्टन मेरे साथ हैं, मैं पूरी तरह आश्वस्त हूँ। मैंने उनसे कहा कि- मैं तुम्हारे पीछे ही रहूँगा। मैंने स्वयं नाटक निर्देशित नहीं किया है किन्तु जिन्होंने मेरे नाटक किये उनके साथ सहयोग किया है, तुम्हें भी सहयोग दूँगा। अरविन्दन बड़े संगीत प्रेमी थे पर अपनी फ़िल्मों की संगीत रचना नहीं करते थे। उनकी फ़िल्म पोक्कुवेल का संगीत पण्डित हरिप्रसाद चौरसिया ने दिया था। दूसरी

फ़िल्मों के लिये भी दूसरे संगीत निर्देशक लिये गये थे। अवनवन कडम्बा फ़िल्म के लिये गीत और संगीत मैंने ही किये। इस नाटक को लिखते समय इसके गीतों की धुन मेरे मन में आ गयी थी। यह लिखने का एक अंदाज़ है जिसमें लेखक भाषा और संगीत दोनों एक साथ जुड़ा देखता है। इन्हें वाग्गेयकार कहा जाता है।

उदयन : मुझे लगता है कि ऐसे लेखक संगीत की भाषा में कल्पना करने की क्षमता रखते हैं। आप निःसन्देह ऐसे वाग्गेयकार हैं।

पणिक्कर : मैं अपने को ऐसा नहीं सोचता किन्तु लोगों में शब्दों को उनकी संगीतात्मक सम्भावनाओं में सोच सकने की क्षमता होना चाहिये। ख़ासकर उन लोगों को जो रंगकर्म से सम्बन्ध रखते हैं क्योंकि रंगकर्म में समय और आयाम की निरन्तरता होती है। भाषा, दृश्य और संगीत तीनों एक-दूसरे से अभिन्न हैं। इनको इसी प्रकार लिया जाना चाहिये। जब आपने उत्तररामचरितम् के लिये पंक्तियाँ या छन्द लिखकर मुझे दिये, मैंने उन्हें गाकर देखा। आप शब्दों में संगीत को महसूस कर सकते हैं। शब्दों में आन्तरिक और बाह्य संगीत होता है। आप जब इन दोनों को एक साथ पकड़ पाते हैं तब यह अद्‌भुत होता है, क्योंकि जब आप किसी भाषा के शब्द का अर्थ भी नहीं जानते हैं तो भी उसकी ध्वनि से उसकी लय का सूत्र आपको मिल जाता है। जब आप लय के साथ उसके अर्थ को भी जानते हैं तब आप उसके वाक् अर्थात् बाह्य और आन्तरिक संगीत को एक साथ पा लेते हैं। वाक् (भाषा) और गेय (संगीत) को दृश्य से जोड़ना आवश्यक है। रंगकर्म के लिये यह अनिवार्य है। इसके बारे में अरविन्दन से रिहर्सल के पहले से ही चर्चा होती रही। अरविन्दन कभी कुछ पूछते नहीं थे। वे सुन लेते थे। सब कुछ मान लेते थे, किन्तु वे काम अपनी इच्छानुसार ही करते थे।

उदयन : मैं जानना चाहता हूँ कि आपमें यह वाग्गेयकार कहाँ से आया होगा या आपमें वाग्गेयकार के स्रोत कौन-से हैं।

पणिक्कर : सबसे पहले तो ये कि वैसी बड़ी उपाधि का मैं हकदार नहीं हूँ। ऐसा कह सकता हूँ कि कावालम आने पर इसे मैंने अपने में खोज निकाला। यहाँ जब था मैं खेतों में जाया करता था। मुझे लगता है कि वाग्गेयकार की भावना मुझमें धान के खेतों में काम करते मजदूरों से पनपी। खेतों में फसल की कटाई गीत गायन के साथ चलती है। एक स्थान पर कटाई करते हुए मजदूर, काटते हुए पंक्ति में पीछे की ओर चलते जाते हैं। देखने में यह बहुत सुन्दर लगता। पीछे हटते जाते वे हाथ के हँसिये से काटते चले जाते और ढेर बनाकर बगल में रखते जाते। साथ-साथ झुण्ड में गाते जाते। गाना उनके लिये अनिवार्य था। ऐसे ही धान की नपायी के साथ भी गीत गाना अनिवार्यतः चलता। एक छोर से दूसरे छोर तक धान की नपायी चलती। एक आदमी नपायी के परा में धान डालता जाता, एक लोहे की छड़ से इकट्ठा धान को परा में भरता जाता। तीन परा भरने से बाँस की एक बड़ी टोकनी कुट्टा भरती। वह जैसे ही धान को टोकरी में भरना शुरू करता, साथ में गाने के शब्द उभरते उन्न (एक)। जब तक नपायी चलती रहती और धान एक टोकरी में न भर जाती, ऐसा उच्चारित कर दोहराता गाना चलता। इसके बाद वो गाता रण्ड (दो)। फिर मुन्न (तीन) तक पहुँचने तक इसे दोहराता गाता। इस तरह गाता बढ़ता हुआ वह सौ तक पहुँचाता, तब वह गाता धरना। यानी कि मन में रखो (सौ हो गया है)। इस तरह नापने वाला आदमी, दूसरे

निगरानी कर रहे आदमी को (जो कि मालिक का आदमी होता) बताता चलता कि नपायी में वो सौ पार कर रहा है, और वह आदमी तब नारियल की एक डण्डी मोड़कर रख लेता।

उदयन : इसका मतलब होता कि सौ परा धान की नपायी पूरी हुई?

पणिक्कर : फिर इसी तरह वह दूसरे सैकड़े तक जाता। खेती की सारी गतिविधियों में संगीत होता। संगीत के बिना ये थकाऊ और उबाऊ हो जातीं। इस तरह संगीत जीवन के व्यावहारिक रूप का एक अंग होता। ठीक वैसे ही जैसा कि गाड़ी को ठेलते हुए, गाते हुए, उसे धक्का देते समय बढ़ते जाते हैं।

उदयन : इस तरह शरीर ऊर्जा भी पाता है।

पणिक्कर : गाँव के हर काम में वहाँ ऐसा था। जीवन का ढँग ही ऐसा था। आप मछली बेचने वालों की वेल्लम (नाव) का संगीत सुन सकते थे। वे लोगों को मछली खरीदने बाहर बुलाते थे। वे चिल्लाते थे, मीन। यह शब्द मीन एक तरह से गाया जाता था। रात में जब आप गाँव की नहर में वेल्लम में जाते थे और कोई मोड़ आ जाता था, आप चिल्लाते थे वेल्लम, जिसका आशय होता था वेल्लम आ रही है, बायें भागो। गाँव की सब बातें संगीत के सहारे ही सम्प्रेषित होती थीं।

उदयन : आप अपने अन्तस में उस सब संगीत को ग्रहण कर रहे थे, बचपन में...

पणिक्कर : वहाँ संकेतों का सम्प्रेषण ऐसे ही होता था। घर में बड़े-बूढ़ों के बात करने के अंदाज़ में भी ऐसे संकेतों के, सिद्धान्त के अभ्यास थे। ऐसे इशारों को ही आनन्दवर्धन ध्वनि कहते हैं। घर की बूढ़ी अपनी बहू से कहती है- पशूने केत्तू (गाय को बाँधो) या बाहर से कपड़े भीतर लाओ। इन वाक्यों को दूसरे अर्थों में भी उपयोग किया जाता था। ऊपर कहे गये सन्दर्भ में इसका अर्थ होता : अन्धेरा हो रहा है। कुछ जब कहा गया होता तो उसका अर्थ कुछ और भी होता जो उसी में निहित रहता। वही ध्वनि है। इस तरह समय और स्थान का उपयोग करते हुए ध्वनि और भाषा जीवन में निरन्तर चलते रहते हैं, विशेषकर खेतीप्रधान ग्रामीण जीवन में। मोटे तौर पर यह सीधे-सादे तरीके से होता है, इसे औपचारिक तौर पर सीखा नहीं जाता। यह स्वतः आता है। फसल की कटाई के बाद जब हम मन्दिर जाते हैं तो एक गाड़ी मक्का देवी को चढ़ाने मन्दिर ले जाते हैं।

प्रत्येक कुट्टनाड गाँव इसी तरह का होता है और फसल की कटाई के बाद सारी गतिविधियाँ खेतों से हटकर मन्दिर में चली जाती हैं। फसल की कटाई स्वयं एक उत्सव की तरह होती है। मन्दिर के उत्सवों में एक बाली उत्सव होता है जिसका सबसे विशेष हिस्सा होता है मुख्य देवी के साथ के देवी-देवताओं को अर्घ्य चढ़ाने की रस्म। लोग भक्ति-भाव से भरे इसमें भाग लेते हैं। मेरी माँ हमें वहाँ ले जाती थीं- रस्मों में भाग लेना अनिवार्य था, लेकिन हम सबकी रुचि या तो गीतों में होती या दूसरे कलारूपों में या फिर हाथी के पीछे-पीछे चलते रहने में। बाली उत्सव मन्दिर के भीतर के कमरों में होता। मन्दिर के दरवाज़े बन्द करके भीतर भूतगणों को भोजन का अर्घ्य देने की रस्म की जाती। यह गाजे-बाजों के साथ होती।

उदयन : मन्दिर में वहाँ मैंने परिक्रमा के साथ पत्थर देखे पर समझ नहीं सका कि वे वहाँ क्यों थे...

पणिक्कर : वे भूतगण हैं। उन्हें पवित्र जल और चावल चढ़ाया जाता है। मन्दिर की परिक्रमा की जाती, पहले भीतरी

फिर बाहरी। भीतरी परिक्रमा पूरी कर बाहर आकर बाहरी परिक्रमा पूरी की जाती।

उदयन : क्या भूतगण बाहर और भीतर दोनों स्थानों में होते थे?

पणिक्कर : मन्दिर के बाहर के चढ़ावे का मुख्य बड़ा पत्थर बिल्लूकालू होता है, जो मन्दिर के सामने होता है।

उदयन : ये क्या मुख्य भूतगण माने जाते हैं?

पणिक्कर : हाँ, बड़े पत्थर के चारों ओर छोटे पत्थर होते। जल और चावल चढ़ाया जाता। इसे चढ़ाते समय ताल वादक पुजारी का अनुसरण करते चलते। चढ़ावा पुजारी चढ़ाते और एक समय वे जल और चावल छिड़कते। जल चढ़ाने के लिये एक ख़ास घास होती, जिसे दर्भा कहते हैं। जल चढ़ाने के लिये ऐसे कई घासों का प्रयोग होता है। इस काम में पुजारी का सहायक उनकी मदद करता है।

उदयन : आप बता रहे थे कि पुजारी के चढ़ावा चढ़ाते समय ताल वादक उनका अनुसरण करते हुए कुछ सांकेतिक करते, वह क्या था?

पणिक्कर : पुजारी जो कहते या करते, परोक्ष रूप में ताल वादक उनकी मदद करते। वे समझते थे कि यह समारोह को सक्रिय करने का संकेत है। वह पूजा के साथ अन्तर्सम्बन्धित था।

उदयन : आपके कहने का मतलब है कि भोजन चढ़ाने की रस्म में ताल वादकों के काम के कुछ अर्थ हैं।

पणिक्कर : हाँ, चढ़ावे की रस्म में ताल वादक पुजारी के साथ रहता है और जैसे ही पुजारी को रस्म बदलनी होती, वो अपना दर्भा घास उठाकर संकेत देता।

उदयन : मतलब पुजारी स्वयं संकेत देता है?

पणिक्कर : हाँ, तब ताल वादक संकेत पाकर अपनी धुन बदल देता। इस पर मैंने पुजारी से विस्तार से बातें कीं। रस्म बदलने का संकेत हाथ से घास को हिलाकर दिया जाता। संकेत का यह तरीका चाक्यार ने कुडियाट्टम में उपयोग में लिया। वे इसे कौट्टविलाक्कुका कहते। यह कोट्टू अर्थात् क्रीड़ा और विलाक्कु अर्थात् रोको इन दोनों शब्दों से बना संयुक्त शब्द है। वादक जब तक मिड़ाऊ बजाना आरम्भ नहीं करता, वाचिक (गद्य का उच्चारण) आरम्भ नहीं होता। नाट्यशास्त्र में बताया गया है कि जब भांडवाद्य रुक जाता है तभी वाचिक होता है, इसके बजते समय नहीं होता। कुडियाट्टम में कौट्टविलाक्कुका का यही अर्थ है। मिड़ाऊ वादक को रुकने का संकेत अभिनेता देता है। इस तरह अभिनेता वाचिक के एक हिस्से से दूसरे में प्रवेश करता है। ये तरीके अनुष्ठानों से लिये गये हैं। घास के लिये प्रयुक्त शब्द है कूर्चम। कुडियाट्टम में इसे चाक्यार इसी तरह करते हैं और वादन समाप्त होने पर ही वाचिक आरम्भ करते हैं।

उदयन : यह पाठ में प्रवेश का संकेत बन जाता है।

पणिक्कर : यह दृश्य और ध्वनियों का सन्धि स्थल बन जाता है। इस तरह से ये दोनों मिलकर पाठ को आगे बढ़ाते हैं।

उदयन : यह एक अच्छी यात्रा थी जिसमें हमने पुजारी के साथ मन्दिर जाकर अनुष्ठान सम्बन्धी रिवाज़ों को रंगकर्म के सन्दर्भ के साथ समझने की चेष्टा की, किन्तु इस प्रयास में अरविन्दन के बारे में आप जो बता रहे थे हम उससे भटक गये।

पणिक्कर : वे संगीत को अच्छी तरह समझते थे। उन्हें यदि कोई धुन अच्छी नहीं लगती, वे मुझसे उसे बदलने को भी कहते।

उदयन : ऐसा भी था? पर वे स्वयं संगीत नहीं देते थे।

पणिक्कर : शाजी करुण की फ़िल्म पिरावी में उन्होंने संगीत दिया था। हम लोगों का प्रयास सम्मिलित होता था। अरविन्दन बहुत तेज थे। उनमें नाट्यपाठ की समझ थी, उसके साथ चलने की चिन्ता भी करते थे, ये सब तो था ही। पर स्वयं पर आत्मविश्वास भी था। अड़चनों को समझकर स्वयं सुलझाने की चेष्टा करते थे। उनके चेहरे पर ये सब दिखता था। पर कुछ कहते नहीं थे। मैं उनके ठिकाने पर जाता था। वे क्या चाहते थे और उनका संघर्ष क्या है, यह मैं समझता था।

उदयन : हाँ।

पणिक्कर : फिर गोपी की छेड़छाड़ भी रहती। वो बगैर रोक-टोक के था। वेणु उसकी तरह खुला नहीं था। वो इतना साहस नहीं कर पाता था। गोपी का तरीका अलग था। वो इस तरह का था कि मन में जो एक बार ठान लेता, वैसा ही करता। उसने बकायदा भारतीय जनता पार्टी की सदस्यता ले ली थी। उसके कई साथियों को लगा था कि उसने ऐसा क्यों किया पर उसने परवाह नहीं की। वह उसका अपना निर्णय था, भले ही कुछ लोगों को पसन्द नहीं था। फिर भी सभी उसका सम्मान करते थे। अरविन्दन के साथ उसके सम्बन्ध इस तरह के थे कि वह फ़िल्मों और रंगमंच दोनों में ही दखल देता था। रंगकर्म में उसका दखल कम था, केवल मुझसे थोड़ी स्वतन्त्रता लेता था। वह जबरदस्ती कभी नहीं करता था और अपने विचार भद्रता के साथ रखता था। समझाने पर आसानी से राजी हो जाता था।

उदयन : अवनवन कडम्बा को करते हुए क्या अरविन्दन ने इसमें कोई बदलाव किये थे?

पणिक्कर : जब नाटक का अभ्यास चल रहा था, उसमें मैंने कुछ बदलाव किये थे। उदाहरण के लिये उसमें एक चरित्र है मन्त्री माखन यानी मन्त्री का बेटा। मैंने उसे बदला क्योंकि मैं उस पात्र से सन्तुष्ट नहीं था। उसे ठीक करना चाहता था। मेरा एक रिश्तेदार जो बड़ा अभिनेता भी था, सुकुमारन नायर जिसे मैं सुकुमारन चेट्टन भी कहता था, अवनवन कडम्बा की रिहर्सल देखने आता था। उसने मुझे आगाह किया था कि ये ठीक नहीं है, इसे बदल दूँ, किन्तु मेरे सोचने के कारण अलग थे। वो आपातकाल का समय था और इसका आशय कुछ और ही सोचा जाता...

उदयन : कोई विशेष मन्त्री?

पणिक्कर : नहीं! इन्दिरा गाँधी का बेटा....

उदयन : वो संजय गाँधी का जमाना था।

पणिक्कर : तो उसे लगा कि मैं बदल दूँ पर मुझे उन्हीं कारणों से संकोच था। फिर हम सभी ने यानी अरविन्दन, गोपी, वेणु और मैंने, मिलकर नया नाम खोजने का प्रयास किया। मैंने उसका नाम वेदीवेलवन सुझाया। उस पात्र का अभिनय गोपी को करना था। इसी तरह के कुछ अन्य बदलाव भी किये गये। अरविन्दन के सुझाव पर कुछ पंक्तियाँ भी जोड़ीं, जैसा कि उत्तररामचरितम् में किया गया है। गीतों की रचना मैं ही करता था। गीत तैयार होने के बाद, हम सब मिलकर इसे गाते और फ़िल्मकार भारतन सरीखे लोग जो रिहर्सल देखने आते, वे इसका आनन्द लेते। हम लोगों के बीच में गीत प्रचलित रहते।

उदयन : अभ्यास के दौरान ही ये प्रचलित हो जाते?

पणिक्कर : बहुत से लोगों के लिये ये प्रिय बने रहते।

उदयन : उसी नाटक को आपने कई जगह मंचित किया।

पणिक्कर : इसे केरल और दिल्ली में किया गया, यह मलयालम में था और यहाँ बहुत पसन्द किया गया। यहाँ विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में भी इसे शामिल कर लिया गया। इसे पहली बार १९७५ में किया गया था। आज पैंतीस साल बाद भी इसे किया जाता है।

उदयन : इसमें तथा आपके अन्य नाटकों में लय की उपस्थिति केन्द्रीय है। इनमें लय प्रवाहित होती प्रतीत होती है, एक लय के बाद एक और जैसा कि आप मन्दिर के बारे में कह रहे थे। इतनी विविध प्रकार की लयों और तालों का ज्ञान आपको कहाँ से मिला? आपने किसी विशेष गुरु से यह सीखा अथवा अपने वातावरण से इसे पाया?

पणिक्कर : ऐसा नहीं कह सकता कि कोई गुरु नहीं था। कला को उस तरह से नहीं सीख सकते। गुरु तो होता ही है। मेरी माँ ही मेरी गुरु थीं। वे संगीतज्ञ नहीं थीं। लेकिन उन्हीं के कारण मेरा रुझान लोकरीति, लोक संगीत की ओर हुआ। वे थिरूवतीरा करती थीं। मुझमें जो राग सम्बन्धी बोध है, उसके लिये मेरे पिता का बड़ा योगदान है। हमारा परिवार मातृप्रधान होने के कारण दैनिक कामों का दायित्त्व और व्यवस्थाएँ परिवार के करनावर अर्थात् मेरे मामा की थीं। इनका चरित्र उच्च आध्यात्मिक स्तर का बनाने में मेरे पिता ने अपना दायित्त्व निभाया था। हम सबको भी विभिन्न आध्यात्मिक ग्रन्थों जैसे कि भगवद्गीता, भागवतम् आदि से परिचित करवाया था। हमें उन्होंने संगीत की शिक्षा भी दिलवायी। इस तरह वे हमारे पहले गुरु थे। एक गुरु कनियन समाज से थे जो ज्योतिषियों का समाज होता है। मेरे संस्कृत के गुरु एक महान कनियन थे। उनका नाम गोविन्दा गणकन था। उनसे मैंने श्रीरामादन्तम् और अन्य काव्यों की शिक्षा पायी। हमारे घर में संगीत के एक शिक्षक साथ में रहते थे। उन्हें हम भागवतार सर कहकर पुकारा करते। उनका नाम परमेश्वरन् पिल्लै था। हमारे परिवार में सभी को उन्होंने पढ़ाया था। जैसे कि मेरी पत्नी शारदामणि, सबसे छोटा भाई बलणुध पणिक्कर, मेरे बेटे हरि एवं श्री, भतीजा पद्मनाभन और बहन सरस्वती। वे परिवार के सदस्य की तरह थे और मेरे संगीत के पहले गुरु थे। मेरे पिता ने भी उन्हीं से सीखा था। मेरे सबसे बड़े भाई भी मेरे गुरु थे। उन्होंने मुझे मृदंग बजाना सिखाया था। इस तरह संगीत सीखने की प्रक्रिया में मेरा संगीत बोध बढ़ता गया। मुझे गाँव के सामान्य जनजीवन, खेती प्रधान कामों और ऐसे ही अनेक स्रोतों से सीखने को मिला। साहित्य और संगीत दोनों की इसी तरह शिक्षा मिलती रही। ऐसा नहीं

था कि मैं किसी एक गुरु से संगीत की शिक्षा ले रहा था। मैं अक्सर गाता, बड़े भाई मृदंग बजाते, मेरी पत्नी के सबसे बड़े भाई रामचन्द्रन नायर जिन्हें मैं रामचन्द्रन मचून कहता, वायोलिन बजाते। गैर पेशेवर होते हुए भी सभी पेशेवर स्तर के माने जा सकते थे।

उदयन : आप अपनी माँ के बारे में बता रहे थे।

पणिक्कर : मेरी माँ हमारे सम्बन्धियों के सभी घरों में थिरूवतीरा का आयोजन करती थीं। यदि एक ऋतु में अयप्पा पणिक्कर के घर तो दूसरी ऋतु में हमारे अपने घर (थिरूवतीरा स्त्रियों का उत्साह भरा उत्सव होता है)। उत्सव के कुछ दिन पहले से उसकी तैयारी होने लगती है। मैं मृदंगम् बजाता हालाँकि थिरूवतीरा में उसे नहीं बजाया जाता। केरल के उत्तरी भाग में थिरूवतीरा को कोट्टाक्कालि के नाम से जाना जाता है। काई का अर्थ है खेल और काई कोट्टी का अर्थ था, हाथ से ताली बजाना। वे गोला बनाकर नाचते। यह एक तरह से मोहनीअट्टम् का उद्गम था। मेरी माँ थिरूवतीरा में दक्ष थीं। वह मुक्त शैली का नृत्य था। मेरी दादी, छोटी उम्र की लड़कियों से नाच में शामिल होने को कहतीं। अगर कोई संकोच में, नाचना नहीं आता कहता, वे उत्तर देतीं, इसमें जानने का है ही क्या, बस मिलकर नाचने लगो। लड़कियाँ शामिल हो जातीं और नाच सीखने लगतीं। दूसरों का अनुकरण करतीं। फिर सबसे कहतीं कि देखो हम नाच सीख गये।

उदयन : और आप मृदंग बजाते थे?

पणिक्कर : नहीं। मैं उन्हें प्रोत्साहित करता और अपना वाद्य बजाता। मुझे माँ अयप्पा पणिक्कर के यहाँ बुलवा लेतीं। मैं बहुत छोटा था। भाई गाँव कावालम में नहीं थे। वे एलेप्पी में थे, पर मैं गाँव में ही रहा। ये मेरे गाँव के अनुभव थे। कावालम में यह आम था। कला तब जीवन का एक हिस्सा थी। जीवन के ज़रिये कला की आत्मा आती है, प्रभावित करती है, बस जाती है।

उदयन : यह सच है। कल आप देवथार के बारे में बता रहे थे कि कैसे यह नाटक लिखा गया और कैसे किया गया...

पणिक्कर : देवथार के अधिकांश पात्र गाँव के परिवेश से थे। देवथार में चार या पाँच मुख्य पात्र थे जैसे धोबिन मन्नथि। वह पूरा नाटक गाँव की पृष्ठभूमि में है। कनियन ज्योतिषी है जिसे वेणु ने निभाया था। आज भी आपको ज्योतिषी मिलेंगे पर पहले की तरह हर कहीं नहीं। वो एक भिन्न समाज था जो काम-काज़ के आधार पर था... स्थानीय पेशों पर आधारित कला के स्वरूप भी उन्हीं सबसे जुड़े हुए थे। यह सम्भवतः प्राचीन द्रविड़ संस्कृति से आया होगा जिसमें प्रत्येक थीन स्थानीय भौगोलिक आवश्यकताओं पर आधारित था। ये थीन, मुलाई (जंगल), कुटिंची (पहाड़), पलाई (मरुभूमि), नयतल (सागर तीर) और मुरुतम (मैदानी) थे। इसके अलावा भू-भाग मुख्यतः पठारी और समुद्री इन दो हिस्सों में बँटा था। ऐसा माना जाता था कि समुद्री किनारों की रक्षा अम्मान तथा पठारी इलाकों की रक्षा अय्यान करते थे। इन्हीं की अर्चनाओं से जुड़े कई कलारूप हैं। अय्यान को समर्पित कलारूपों में पड़यानी भी है।

उदयन : पड़यानी?

पणिक्कर : यह सामान्य जन की भागीदारी वाला एक कलारूप है जिसमें गाँव के सभी लोगों की भागीदारी रहती। यह अनुष्ठानिक नृत्यों का समूह था जिसमें ढेरों आत्माएँ आकर ऊर्जास्फूर्त नृत्य करती हैं जो कि टप्पू नामक वाद्य की थिरकनों के साथ चलता है। इनमें कुछ आत्माओं के नाम हैं भैरवी, कलान, सुन्दरा यक्षी, सुकुमार यक्षी आदि। इनमें कलान प्रधान है एवं समय का प्रतिरूप होता है। शास्त्रीय चरित्र मार्कण्डेय, जो सोलह वर्ष की अल्पायु में मर जाने वाले थे, उनका पीछा मृत्यु के देवता यम करते हैं। वे भगवान शिव के चरणों में शरण लेते हैं, जो अपने भक्त की रक्षा करते हुए, यम का वध करते हैं। शिव अमरत्व के प्रतीक हैं, मृत्यु के देवता हैं, कालनाशक हैं और अनन्त के अवतार हैं। यम यानी लघुकाल का वध होने से, सभी जीवों के लिये समस्या पैदा हो जाती है क्योंकि काल स्थिर हो जाता है जो सदा से एक रोचक किस्सा है।

उदयन : आप बता रहे थे कि यह एक प्रचलित कला रूप रहा है जिसमें समाज के सभी लोग शामिल होते हैं।

पणिक्कर : गाँव के विभिन्न पेशों के लोग मिलकर इसकी तैयारी करते हैं। जैसे कि मन्नथि प्रदर्शन करने वाले लोगों का पहनावा तैयार करती है, मन्नन कपड़े लाता है आदि।

उदयन : सन् १९७८ में आपने पहली बार नाटक निर्देशित किया, जो मध्यमव्यायोग था। आपको अशोक वाजपेयी ने संस्कृत नाटक निर्देशित करने को कहा था।

पणिक्कर : मध्यमव्यायोग में सीधे आना नहीं हुआ था, बल्कि वह घूमकर आना था। वह सीधी लकीर नहीं थी।

उदयन : वह कैसे हुआ था?

पणिक्कर : मैंने ओट्टायन के ज़रिये नाटक में प्रवेश किया था, जो मूलतः अभिनय की कला के बारे में है: अभिनेता की कला, उसकी मंच पर उपस्थिति, जीवन में उपस्थिति, इनके अन्तर्सम्बन्ध, रूपान्तरण के सिद्धान्त जिनका मेरे रंगमंचीय पेशे में बहुत महत्त्व था। रूपान्तरण रंगकर्म का मूल तत्त्व तथा आधार होता है। रंगकर्म क्या है? मैं कहूँगा कि मूलतः यह रूपान्तरण है। रूपान्तरण के ये सिद्धान्त ओट्टायन पर लागू थे। पहले कुमार वर्मा ने इसका निर्देशन किया था, ठीक लिखे के अनुसार ही। मैंने इसे बदलकर किया। निर्देशक के तौर पर यह मेरा पहला प्रयास था, संस्कृत नाटक पहला नाटक नहीं था। मैंने इसे बदलाव के साथ किया जिसमें गोपी ओट्टायन थे, एक चाक्यार अभिनेता थे। कुमार वर्मा ने इसे ठीक लिखे के अनुसार करते हुए, इसमें दो लकड़हारे और एक जगन्नाथ चाक्यार रखे थे, जिन्होंने चाक्यार का काम बखूबी किया। हमारी बहुत आलोचना हुई, विशेषकर अप्पूकुट्टन नायर द्वारा जो कुडियाट्टम् कला के विशेषज्ञ थे और सम्माननीय नाट्य लेखक साहित्यकार थे।

उदयन : मैं जानता हूँ, उन्होंने कुडियाट्टम् पर बहुत काम किया।

पणिक्कर : वे कुडियाट्टम् विशेषज्ञ थे। उन्होंने और कुमारपिल्लै ने हमारे काम की आलोचना की। कुमारपिल्लै ने कहा कि वे इसे साहित्य का हिस्सा नहीं मानते, उन्हें यह अद्भुत लगा पर अभिनय ख़राब लगा। मैं और कुमार वर्मा इससे निराश नहीं हुए। बाद में वे चले गये और मुझे नाटक गोपी के साथ करना पड़ा। मैं इसे दूसरा रंग देना चाहता था। इसलिये इसे मैंने दोबारा लिखा। नाटक को मैंने बदलकर सामूहिक कर दिया। जिससे कथानक इकाई और समूह के द्वन्द्व को उजागर करता था। समूह मन्दबुद्धि है, इकाई उसमें से ही

निकलकर बाहर आती है। व्यक्ति को ऐसा भ्रम होता है कि वह समूह को बनाता है, वह उसकी रचनात्मक ऊर्जा है। इसलिये बाहर चला जाता है। समूह उसके पीछे आता है। वो समूह से दूर जाना चाहता है। जब मैंने इसे गोपी और समूह के अन्य लोगों के साथ किया तब, इन तत्त्वों का समावेश किया। इसमें समस्याओं की बारीकियों को दिखाया गया जिससे नाटक को, जो मैंने ही लिखा था, गहरायी से जाना जा सके। उस नाटक को करते हुए मैंने अपने में नाटक के लेखक और निर्देशक को ठीक तरह पहचाना, साथ ही साथ दर्शक और रसिक को भी पहचान सका। गोपी के साथ उस नाटक को करना बहुत महत्त्वपूर्ण अनुभव था।

उदयन : कुमार वर्मा ने इस नाटक को कैसे किया था, क्या इसे आप संक्षेप में बता सकते हैं?

पणिक्कर : कुमार वर्मा ने ओट्टायन को चाक्यार के अनुभव की तरह प्रस्तुत किया। चाक्यार का जंगल में कुछ लकड़हारों से सामना हो जाता है जो उसे खत्म कर देना चाहते हैं पर वह अपने को इस खतरे की स्थिति से बचा लेता है। वह ऐसा अपनी अद्‌भुत अभिनय क्षमता से ही कर पाता है। नाट्यपाठ में यह सब भी था किन्तु कथानक के ऊपरी हिस्से के तौर पर ही था। इसके मंचन में उनसे जो कुछ छूट गया था, वह मैंने किया। यह उन्होंने जो किया था उसे खारिज करने के लिए नहीं था, बल्कि उनसे मैंने यह उत्साह पाया कि इस नाटक के आन्तरिक ढाँचे में उतरूँ। आन्तरिक ढाँचे को थोड़ा ही परखा गया था, बाहरी ढाँचा दुरुस्त था। फिर गोपी सरीखे महान कलाकार के साथ काम करते हुए इतना कुछ मिला, वह इतना समय देने के लिये तैयार रहता था, घण्टों मेरे साथ में प्रयत्न करता, बहस करता, खोजने का प्रयास करता, जानने का प्रयास करता कि नाट्यपाठ में और क्या सम्भव है जो उतना स्पष्ट नहीं है, मुकम्मल नहीं है। इस तरह ओट्टायन की पूरी सोच उभरकर सामने आ सकी, जिसमें अकेला आदमी या अकेला हाथी, समूह में रहते हुए भी कितना अकेला होता है, निखर सका। यह दार्शनिक भाव सम्भव हो सका। फिर वह पगला ओट्टायन लोगों से दूर भागना चाहता था, समूह से दूर भागना चाहता था पर समूह उसके पीछे लगा रहता है, उसे भागने नहीं देता था। सारा लकड़हारों का समूह है। समूह में रचनात्मकता सम्भव नहीं है। हम अकेले होकर समूह के हित में काम करते हैं। कुमार वर्मा के मंचन में इसे इतना नहीं तराशा गया था। अपनी तमाम फ़िल्मों में काम करना छोड़कर, अपने पैसों का नुकसान कर, गोपी ने मेरे साथ काम किया। वह सुबह से ही इसमें एकाग्रता से जुट जाता था। उसने इसमें २०-२५ दिन बिताये। वादक भी वहीं होते। हमने सब कुछ भूलकर काम किया। फिर इसका मंचन ईस्ट मीट्स वेस्ट कार्यक्रम के तहत मुम्बई में किया गया जो अत्यन्त सफल रहा।

उदयन : ओट्टायन के निर्देशन ने आपको क्या दिया?

पणिक्कर : ओट्टायन के ज़रिये मैंने निर्देशन सम्बन्धी अपनी सोच में सचमुच पहला कदम रखा, जो मेरे तब तक के काम करने के ढँग से भिन्न था। मेरे लिये यह रंगमंच में आँख खोल देने वाला अनुभव था। इकाई और समूह का यह प्रश्न तबसे सदा बना रहा। आप ग्रीक कोरस में समूह गाने को देखते हैं, मैं नहीं कहता कि मैं ही इसे लाया, समूह पहले से वहाँ था।

समूह कई तरह से काम करता है। एक ही समूह रूपान्तरित होकर भिन्न पात्रों का निबाह कर सकता है। पशुगायत्री सरीखी कृति में, नागा समूह काम करता है जो तान्त्रिक को धन-सम्पदा भरा घड़ा सौंपता

है, लेकिन पृथ्वी के पहरेदार विरोध करते हैं। वे ऐसा किये जाने के विरुद्ध हैं। जो समूह नागा का काम कर रहा होता है वही समूह कथा के अन्त में जन-सामान्य बन जाता है, उस समय जब बच्चा डूब रहा होता है। समूह में एक-सा होने का गुण है और सभी एक तरह से व्यवहार करते हैं। पशुगायत्री में जन्म से भोंदू बच्चा तेज बन जाता है। यह ऐसे भारतीय युवा का किस्सा है जो अपनी क्षमताएँ हासिल करता है। उसे पाकर वह समूह में एक हो जाता है। समूह में एक हो जाने का अर्थ हुआ, अपनी सामाजिक चेतना को पा लेना, जो कि इकाई के समूह से अपने सम्बन्धों की निष्पत्ति से बनती है। एक सिद्धान्त के तौर पर यह आशय व्यक्त करने की, यह पद्धति कई नाटकों में उपलब्ध है। जैसे कि कालिदास के शाकुन्तलम् में।

ओट्टायन से कालिदास की शकुन्तला तक का रास्ता लम्बा था क्योंकि कालिदास तक पहुँचने के लिये मुझे मध्यमव्यायोग, कर्णभारम् और उरुभंगम् से होकर गुजरना पड़ा। इस बिन्दु पर मैं भास के नाटकों को करते हुए पहुँचा जहाँ मुझे कालिदास की शकुन्तला तक पहुँचने का रास्ता मिला। मध्यमव्यायोग में समूह बहुत छोटा है, केवल तीन ब्राह्मण बच्चे, उनके पिता और माँ, किन्तु कर्णभारम् में यह भिन्न है। कर्णभारम् में समूह महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। इकाई और समूह के बीच के द्वन्द्व का सोच, ओट्टायन में विकसित किया गया था। जब शकुन्तला सरीखा नाटक मंचित किया गया, तब यह प्रस्फुटित हुआ, उसमें समूह दुष्यन्त की मदद करता है। समूह वन को छान डालता है। राजा के द्वारा मृगया करने का अवसर बनाता है। जब शिकार हो जाता है, मृगया सम्पन्न हो जाती है तब पता चला चलता है कि मृगया तो कन्या की हुई थी, पशुओं का शिकार मनुष्यों का शिकार हो जाता है, आश्रम की निरीह कन्या का फिर शिकारी राजा कन्या शकुन्तला के साथ अपने सन्तोष के लिए जीता है। यह तथ्य भी समूह पर अपनी छाया छोड़ता है। समूह के लोग कहते हैं, मृगया विहारी पार्थिवो दुष्यन्तः। राजा दुष्यन्त की मृगया ने अनचाहा मोड़ ले लिया होता है। समूह के सदस्य इसमें दोष देखते हैं पर राजा अपनी इस प्रजा की आवाज़ पर ध्यान नहीं देता। राजा के लिए अन्तिम सत्य तो प्रकृति हिताय पार्थिवः, प्रजा हिताय पार्थिवः है लेकिन प्रजा हिताय पर ध्यान नहीं दिया जाता। वह इसे छोड़ शकुन्तला के प्रति अपनी कामना में गहरे तक डूबता जाता है।

तीसरे अध्याय के अन्त में उसी पंक्ति को दोहराया जाता हैः मृगया विहारी पार्थिवो दुष्यन्तः। पहली बार जब लोग राजा को दोषी समझते हैं, यह शकुन्तला के द्वारा अभिव्यक्त होता है। राजा तब उसके साथ जाना तय करता है, समूह के साथ नहीं। चिनांशुकमिव को, मेरा मन चिनांशुक (चीनी रेशम) की तरह है, हवा में यहाँ-वहाँ होता है और वह शकुन्तला के साथ जाना तय करता है। तीसरे अध्याय में जब वह अपनी प्रेम क्रीड़ा की पराकाष्ठा तक पहुँचता है, उस पंक्ति को फिर से दुहराया जाता है। जब मृगया विहारी की ध्वनि पीछे से आती है, वह अपना दायित्त्व चुनता है, शकुन्तला को पीछे छोड़ते हुए। इस तरह इस पूरी प्रक्रिया में समूह का उपयोग होता है। मेरे शकुन्तला के मंचन में आप वैसा आख़िरी में भी पाते हैं। समूह दुष्यन्त और शकुन्तला के पुनर्मिलन को अँगूठी देखकर स्वीकारता है। विदूषक अँगूठी लेकर सबको दिखाता है। इसे मछली पकड़ते समय मछुआ पा लेता है फिर जब विदूषक के साथ यह अँगूठी राजा के पास पहुँचती है तो उसकी स्मृति जाग जाती है। इस तरह अँगूठी वह शक्तिशाली बिम्ब है जो शकुन्तला के कथानक के केन्द्र में है, जैसे कि वह अभिज्ञान शकुन्तला में खुलता है। अभिज्ञान अर्थात्

स्मृति का जागना। राजा की स्मृति का लौटना केवल उन लोगों के प्रयासों से सम्भव होता है जो इस प्रतीक को पाने के लिये जिम्मेदार थे। इसलिये इस नाटक को मैंने वैसा नहीं किया जैसा कालिदास चाहते थे, बल्कि जैसी समय की माँग थी और इसके लिए मुझे समूह उत्प्रेरित करता गया। यह केवल मेरी सोच और मेरी अवधारणा है। पर जैसा समूह का उपयोग वहाँ हुआ, वह महत्त्वपूर्ण है। इसी तरह उत्तररामचरितम् में भी समूह को बड़ी जिम्मेदारी निभानी होगी, जो मूल में नहीं है। उसमें निश्चित ही सैनिकों के पीछे से गरजने की ध्वनि होती है। कहानी समूह की मौजूदगी में बढ़ती है जो कि ओट्टायन के मेरे अनुभवों के कारण मेरे नाटकों के मंचन में आया है। इसके पहले साक्षी में, थिःवजिथान में और देवथार में समूह बहुत सजीव नहीं था। देवथार को छोड़कर वैसे में समूह वहाँ है.... चार पाँच लोग. . ... लेकिन वे सब इकाइयाँ हैं, उनके अपने नाम हैं, अपनी विशेषताएँ हैं। वे सामूहिक विशेषताएँ नहीं हैं। यह सम्मिलित मन नहीं, सामाजिक मन नहीं, समूह चेतना नहीं। समूह के तौर पर समूह चेतना का होना मेरे लिये एक संघटना की तरह हो गया है, रंगमंच का एक ऐसा महत्त्वपूर्ण अंग जिसे मैं आज के जीवन या जनतान्त्रिक ढाँचे में बहुत महत्त्वपूर्ण और सामयिक समझता हूँ। आज हम जनतन्त्र में हैं और राजा को आज के सन्दर्भ में देखते हैं। आज उसे वैसा नहीं देख सकते जैसा उसे कालिदास के समय में देखा जाता था। यह सोच मेरे लिए दार्शनिक दृष्टि की तरह महत्त्वपूर्ण है।

उदयन : क्या आप सोचते हैं कि रंगकर्म बिना किसी सचेत प्रयास के अपने दर्शकों को विभिन्न अन्तर्सम्बन्धों के विषय में सजग करता है? मेरा आशय शासक और शासित और ऐसे ही अन्य सम्बन्धों से है। कविता से अलग रंगकर्म बहुत ही भौतिक कर्म है। यहाँ आप उदाहरण के लिए एक अभिनेता विशेष को दुष्यन्त या राम कहकर बुलाते हैं।

पणिक्कर : रंगकर्म में बिम्बों के सहारे पात्र बनता जाता है और इसीलिये इसे दृश्यकाव्य या चाक्षुष कविता कहा जाता है।

उदयन : क्या आपको ऐसा लगा कि दर्शकों को और सजग होना चाहिये, उन नये सामाजिक सम्बन्धों के प्रति जो भारत में उभर आये हैं। क्या ऐसा विचार आपके मन में आया। क्या आप ऐसा सोचते हैं कि जब आप रंगकर्म करते हैं, वह लोगों को उन नये सामाजिक अन्तर्सम्बन्धों के प्रति सजग करता है जो समाज में उभर आये हैं।

पणिक्कर : रंगकर्म कुछ सामाजिक सम्बन्धों को अवश्य प्रकट करता है। कृति स्तर पर रंगकर्म का (जो कि वाचिक है, कृति को वाचिक में ढालना होता है) सामाजिक सन्दर्भों से निश्चित सम्बन्ध है। चूँकि चरित्र (पात्र) वहाँ हैं, बाकायदा अपने नामों के साथ हैं, इसलिये सामाजिक सन्दर्भ वहाँ होता ही है। चाहे वह राजा हो या पौराणिक चरित्र कर्ण, वे केवल चरित्र होकर वहाँ नहीं हैं, इससे अधिक हैं, एक सामाजिक अनुभव में उनकी उपस्थिति है। कथ्य में वे सामाजिक सन्दर्भ के ऊपर अलग उभरते हैं, कथ्य सामाजिक है ही, जमीनी है, पूरी वास्तविकता में है। इस तरह रंगकर्म स्प्रिंगबोर्ड की तरह हो जाता है। केवल इन्हें रचते हुए, हम इन्हें रोज़मर्रा के जीवन के पात्रों की तरह बनाने का प्रयास करते हैं पर इन्हें सीधा वैसा नहीं कहा जा सकता। पर रोज़मर्रा के चरित्रों या पात्रों से इनकी सादृश्यता रहती है। जैसे कर्ण का चरित्र और उसके जीवन का घटनाक्रम महाकाव्य के अनुसार है, उसका चरित्र कहानियों पर आश्रित है जो कि पूरी

तरह जमीन से जुड़ी हुई हैं। रंगमंच में, वहाँ से लिये जाकर ये चरित्र, जीवन से उभरकर ऐसा आयाम ग्रहण कर लेते हैं जो कला के नाट्यधर्मी और मनोधर्मी स्तरों पर चल जाते हैं। यह सच है कि यहाँ भी हम उन्हें अभिव्यक्त करते हैं पर यह उनके गुणों की अभिव्यक्ति होती है, उनके गुणों का प्रतिनिधित्व और ये गुण कई बार चरित्रों के व्यक्ति से परे चले जाते हैं और तब ऐसा व्यक्तित्व जीवन को निर्वैयक्तिक ढँग से प्रकट करने लगता है। यही हमारी महान दार्शनिक परम्परा की परिपुष्टी है।

उदयन : भारतीय जीवन का हमारे महाकाव्यों से क्या सम्बन्ध है? हमारे रोज़मर्रा के जीवन में महाभारत और रामायण सरीखे महाकाव्यों का क्या महत्त्व है?

पणिक्कर : महाकाव्यों को मनुष्य ही रचता है। ये मनुष्य की कल्पना और अनुभव से उपजे हैं और जीवन से पूरी तरह असम्बद्ध नहीं हो सकते। इनमें ख़ास रुझान हैं। देशकाल की और जनजीवन की जड़ें हैं। भूत हो, भविष्य हो या वर्तमान हो, इनके चरित्रों को आप जीवन की स्थितियों से अलग करके या काटकर नहीं देख सकते। कर्ण का चरित्र इडिपस की तरह नहीं हो सकता, वह पश्चिमी समाज के किसी भी महानायक की तरह नहीं हो सकता। उसका व्यवहार, उसके आदर्श, उसके धर्मशास्त्र की जड़ें यहाँ हैं, वे भारतीय जीवन की जड़ें हैं। साथ ही साथ एक स्तर पर कर्ण उन स्थितियों का प्रतीक है जो महज व्यक्तिगत स्थितियाँ नहीं सार्वभौमिक हैं।

उदयन : वह जीवन का प्रतिबिम्ब और जीवन पर चिन्तन है।

पणिक्कर : यह उस तरह के जीवन का प्रतिबिम्ब है जो जिया गया है। इस जीवन को यहाँ जिया गया था। अनिवार्यतः यह वाल्मीकि सरीखे मनीषियों या अन्य समय में वायकुम मोहम्मद बशीर सरीखे लेखकों के सोच से सम्बन्धित है। आप अपने सन्दर्भ में कुछ चरित्रों को रचते हैं जो केवल आज के समय तक सीमित नहीं होते। आप इन्हें आज के समय से लेते हैं पर वे केवल आज के समय के नहीं हैं। वे अपने समय के पार जाते हैं वरना, इन सबका भागते हुए जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं बन पाता। इन चरित्रों का सम्बन्ध जीवन से तभी प्रामाणिक होता है जब ये अपने समय के पार जाते हैं।

उदयन : यह सच है। इसीलिये ये चरित्र अपने ही समय में जीते हैं। नाटक के निर्देशक को इन्हें नाटक की खातिर अपने ख़ास समय सन्दर्भ में लाना होता है। जब अभिनेता एक चरित्र को निभाता है, वह अपने या निर्देशक के सोच के समय को उसमें ले जाता है और उस चरित्र को दूसरे विशेष समय और सन्दर्भ में सजीव कर देता है। साथ ही साथ नयी सम्भावनाएँ प्रस्तुत करता है। आपको ओट्टायम के बाद मध्यमव्यायोग का प्रस्ताव मिला।

पणिक्कर : हाँ।

उदयन : उसे आपने कैसे स्वीकारा? मतलब यहाँ आपको स्वयं अपना नाटक मलयालम में करने को नहीं कहा गया था। ओट्टायन के बाद आप स्वयं निर्देशन कर रहे थे। अचानक एक संस्कृत नाटक करने का प्रस्ताव मिला। आपकी आरम्भिक प्रतिक्रिया कैसी रही? इससे आपके जीवन में एक नया मोड़ आने वाला था।

पणिक्कर : मैं वह नहीं जानता था। मैं पारम्परिक रचनाओं की खोज में था। उनमें मुझे नयी तरह की रचनात्मकता

मिल रही थी। इसकी अन्तर्निहित सम्भावनाएँ सभी समय पर लागू होती हैं। इस तरह भास को पढ़ने के बाद मैं इसे आसानी से समझ सका। मैंने मूल को नहीं बल्कि उन्हें मध्यमव्यायोग और उरूभंगम् के अनुवादों में पढ़ा था। जब मध्यमव्यायोग को पढ़ा, मैंने सोचा कि यह ऐसा किस्सा है जो किसी भी समय हो सकता था। यह बहुत पहले हुआ था, लेकिन अभी भी हो सकता है। मेरा मतलब था कि ये सार्वकालिक हैं। आप जानते हैं ऐसा कहीं भी हो सकना सम्भव है। पारिवारिक सम्बन्ध आदर्श पर टिके होते हैं। इस तरह का आदर्श, पारिवारिक सम्बन्ध, पारिवारिक रिश्ता आज भी भारत में है। इस आपसी रिश्ते को परिवार में पाला जाता है। एंजेल्स ने भी परिवार की सोच को, बुनियादी स्तर पर लोगों के करीब आने की संस्कृति से एकदम भिन्न माना है। इस तरह से एक परिवार की सोच होती ही है और पारिवारिक रिश्तों की पवित्रता भी होती है। परिवार में हर सदस्य की एक सीमा (लक्ष्मण रेखा) होती है जो धर्म तय करता है। परिवार का हर सदस्य एक विशिष्ट रिश्ते को निभाता है। पिता का एक चरित्र है, वे परिवार में हर किसी को समझते हुए, हर किसी के साथ के सम्बन्ध को ख़ास-ख़ास तरह से निभाते हैं। पिता अपनी पत्नी, पुत्र या पुत्री की तरह व्यवहार नहीं कर सकते। परिवार के भले के लिये कुछ मान्यताएँ बनायी रखी जाती हैं।

मध्यमव्यायोग में पिता भीम और पुत्र घटोत्कच एक-दूसरे को पहचानने की चेष्टा करते हैं। पिता, पुत्र और माता के रिश्ते बहुत प्रमुख होते हैं। भास ने परिवार के बीच इस मध्यता को दर्शाया है। मुझे लगता है कि पारिवारिक जीवन में हरेक को त्याग के लिये तैयार रहना चाहिये। यदि परिवार में झगड़ों से बचना है तो एक-दूसरे को समझते हुए स्थान देना सीखना होगा। वह व्यक्ति जो परिवार के भले के लिये इसे समझता, करता चलता है, मध्यमा कहलाता है। आप इसे हरेक भारतीय परिवार में पायेंगे। जब वैचारिक मतभेदों के प्रश्न उठने लगते हैं, अपने जिद्दीपन को छोड़, सन्तुलित होना चाहिये। ऐसा व्यक्ति जो वस्तुपरक (ऑब्जेक्टिव) रुख रखता है, मध्यमा है। भले ही उसे कष्ट सहना पड़े, जिसे वह आसानी से झेल लेता है। इसे वह अपना दायित्त्व मान खुशी से स्वीकार कर लेता है। भारतीय परिवार व्यवस्था की बारीकियाँ जो आज हैं, वे तब उन दिनों भी थीं और मध्यमव्यायोग में भास ने इनकी पड़ताल की है।

उदयन : उज्जैन में मध्यमव्यायोग की प्रस्तुति को लेकर किस तरह की प्रतिक्रियाएँ हुई थीं?

पणिक्कर : प्रदर्शन को ज़बरदस्त तरीक़े से सराहा गया। दर्शक एक ऐसी चीज़ देख रहे थे जो उनके लिए पूरी तरह से नयी थी। उन्होंने इसके पहले ऐसी कोई चीज़ देखी ही नहीं थी, न सिर्फ़ संस्कृत रंगमंच में, बल्कि समकालीन रंगमंच में भी! २ नवम्बर, १९७८ के इस प्रदर्शन के बाद जल्दी ही हमें फ़रवरी में दिल्ली में कमलादेवी चट्टोपाध्याय द्वारा आमन्त्रित किया गया, जिन्होंने इस नाटक की कामयाबी के बारे में पढ़ा था। हमें दिल्ली में दो बार आमन्त्रित किया गया, एक बार फ़रवरी में और फिर मार्च के अन्त में। पहला प्रदर्शन श्रीराम सेण्टर में हुआ था और रंग जगत के बहुत से लोगों ने उसको देखा था!

उदयन : आपका मतलब है अल्काज़ी इत्यादि ने?

पणिक्कर : अल्काज़ी, सुरेश अवस्थी, नेमि जी आदि ने।

उदयन : हबीब तनवीर?

पणिक्कर : हबीब तनवीर नहीं थे। उन्होंने कहीं और देखा था।

उदयन : मैंने इसलिए पूछा कि उन्होंने उसको देखा था, उन्होंने मुझे बताया था।

पणिक्कर : दूसरे बहुत से लोग थे, कपिला वात्स्यायन, कमलादेवी चट्टोपाध्याय और अन्य अनेक लोग और नाटक की आलोचना से जुड़े बहुत सारे लोग। प्रदर्शन के बाद, सिर्फ़ कपिला जी मुझसे मिलने नहीं आयीं। वे पीछे खड़ी रहीं, लेकिन वे मेरे भतीजे पद्मनाभन से मिलीं जो तालवाद्य पर था और उससे बोलीं, कृपया अपने चाचा से कहिए कि कल मैं उनसे ज़रूर मिलूँगी। कृपया उनसे अनुरोध करिये कि वे मुझसे ज़रूर मिलें। इसलिए अगले दिन मैं उनसे मिलने गया। वे प्रदर्शन को लेकर प्रशंसा से भरी हुई थीं । अल्काज़ी मुझसे थिएटर में ही मिलने आये थे। अल्काज़ी देखना चाहते थे कि मुकुट किस चीज़ से बनाये गये थे। घटोत्कच का मुकुट अरविन्दन का डिज़ाइन किया हुआ था।

उदयन : शुरुआत में अभिनेताओं के प्रशिक्षण को लेकर आपके क्या विचार थे?

पणिक्कर : अवनवन कडम्बा के पहले मैंने कुछ प्रशिक्षण एलेप्पी में लिया था। वहाँ वायकोम के एक कलरी गुरु थे। वह आकर हम सब की मालिश किया करते थे। यही थे जिनसे मैंने पहली बार कलरी सीखी थी। जब तेल की मालिश चल रही होती, तो वे मुझे कुछ अदावुस, यानी कलरी की गतियाँ सिखाया करते थे, लेकिन निश्चय ही वे बुनियादी और शुरुआती पाठ थे। मध्यमव्यायोग के दौरान भी हमने लोगों को प्रशिक्षण दिया था। बालकृष्णन भीम की भूमिका कर रहे थे। वे कथकलि के अच्छे कलाकार रहे थे, लेकिन अभ्यास में न रहने के कारण कथकलि को भूल जाने के बाद, यह उसके लिए नाटक में भाग लेने का एक दुर्लभ अवसर था। वे कथकलि को भले ही भूल गये हो सकते थे लेकिन उसकी ऊर्जा उनमें क़ायम थी। मैं सोचता था कि कलरी, जिसका अनुभव मुझे एलेप्पी में हो चुका था, उनके सीखने के लिए सही चीज़ होगी। मैं सी. वी. एन. कलरी गुरुकुल गया और मैंने भी अभ्यास के लिए वहाँ दाखिला ले लिया। शुरू में शंकर पिल्लै और अय्यप्पा पणिक्कर कार्यशालाएँ संचालित किया करते थे जिनमें उन्होंने पाश्चात्य ड्रिल शामिल किये थे, क्योंकि अभिनेताओं को समझ में नहीं आता था कि अपने शरीर का उपयोग कैसे किया जाये। इसलिए उन्होंने ड्रिल को रोज़मर्रा की गतिविधियों का हिस्सा बना लिया था।

उदयन : अभिनेताओं के लिए।

पणिक्कर : और फिर वाचिक अभ्यास। ये मौखिक अभ्यास तमाम तरह की आवाज़ों के माध्यम से किये जाते थे। मैं इनमें से एक शिविर में गया था और उनके साथ चर्चाएँ की थीं और अय्यप्पा पणिक्कर के साथ भी। बेशक वे जानते थे कि मैं पाश्चात्य ड्रिल-पद्धति का पक्षधर नहीं हूँ। मैंने अय्यप्पा पणिक्कर से कहा कि ड्रिल ठीक चीज़ नहीं है, ड्रिल हमें शरीर को नियन्त्रित करना नहीं सिखा सकती। सिर्फ़ कलरी ही उस क़िस्म का सम्पूर्ण शारीरिक नियन्त्रण प्रदान कर सकती है। आज भी हमारे अभिनेताओं को नियमित रूप से कलरी प्रशिक्षण के लिए भेजा जाता है। अब हमारे पास दो नये कलाकार हैं, वे आपको यहाँ मिलेंगे। मैंने उनको विशेष प्रशिक्षण देने के लिए कलरी गुरुकुल से अनुरोध किया है।

उदयन : किस तरह का प्रशिक्षण दिया जाता है?

पणिक्कर : यह प्रशिक्षण पाश्चात्य ड्रिल-पद्धति से बिल्कुल अलग क़िस्म का होता है। यहाँ वह चीज़ हासिल की जाती है जिसे गुरुकल शरीर भाव के नाम से पुकारते हैं। भाव मन में घटित होता है। शरीर उस भाव को व्यक्त करता है। वे उसको वायु स्तोभ कहते हैं। उन्होंने हमें बहुत-सी मुद्राएँ सिखायी हैं, जैसे बिल्ली-मुद्रा, अश्व-मुद्रा आदि। इसीलिए मैं आपसे कह रहा था कि हम मानव अश्व की रचना कर सकते हैं! मानव अश्व को मंच पर तभी लाया जा सकता है जब आप अश्व की तरह व्यवहार कर सकें , जब आप अपने शरीर से वैसी मुद्रा रच सकें । टी. आर. सुकुमारन यथार्थवादी रंगमंच के एक वरिष्ठ अभिनेता थे। वे यथार्थवादी तो थे ही साथ ही साथ वे सी. वी. रमन पिल्लै के मार्तण्डवर्मा (नाट्यरूपान्तरण) जैसी महाकाव्यात्मक विषयवस्तु वाले नाटकों में भी काम किया करते थे। उनका अभिनय अतिनाटकीयता से भरा होता था...और शम्भु मित्र की तरह उनकी आवाज़ बहुत अच्छी थी। लेकिन जब शरीर भाव का अवसर आता था तो इस तरह के अभिनेता विफल होते थे, क्योंकि उनकी शैली के लिए इसकी ज़रूरत नहीं थी। वे एक महान कथकलि अभिनेता के पुत्र थे और अपने अभिनय में वे देह-भाषा के कुछ ख़ास सूक्ष्म अनुप्रयोग किया करते थे जैसे कि चरित्र का अपने पैर की अंगुलियों पर खड़े होकर बड़ा हो जाना आदि। इस तरह के प्रयोग केवल उन्हीं के मामले में सम्भव थे, यथार्थवादी रंगकर्म के हर अभिनेता के मामले में नहीं। लेकिन वे इसकी कल्पना नहीं कर सकते थे कि मेरे नाटक करीमकुट्टी में मंच पर एक अभिनेता हाथी के रूप में प्रवेश कर सकता है। वे मेरे पास अकेले में आये और बोले, हम मंच पर हाथी को लाना क्यों नहीं टाल सकते? यह बहुत अजीब-सा लगता है। इसकी बजाय क्या अभिनेता यह नहीं कह सकता कि वह हाथी पर बैठकर आया है जिसको वह बाहर छोड़ आया है? मैंने उनसे कहा, चेट्टन, हो सकता है यह आपको अच्छा न लगता हो, लेकिन यह भारतीय नाट्य की अवधारणा है, जो मूलतः नाट्यधर्मी है जिसमें आप हाथी का हाथीपन प्रस्तुत कर हाथी की भूमिका ओढ़ सकते हैं... ये ऐसी चीज़ है जो यथार्थवादी रंगकर्म में नहीं है। वे सहमत हुए और उन्होंने विश्वास करने की कोशिश की, यह कहते हुए कि अगर मानव हाथी को प्रस्तुत किया जाता है तो वह हास्य का भाव पैदा कर सकता है।

उदयन : लेकिन क्या वे कथकलि से गहरा प्रेम रखने वाले व्यक्ति नहीं थे?

पणिक्कर : लेकिन यह एक गहरा विश्वास था कि कथकलि और नाटक दो अलग चीज़ें हैं। मैं भी मानता हूँ कि नाटक कथकलि नहीं है। लेकिन हमें इस पर सहमत होना चाहिए कि कथकलि नाटक है। नाटक थय्यम्, मुडियेट्टू और ऐसी ही अन्य आरम्भिक नाट्यरूपों से बहुत कुछ सीख सकता है।

उदयन : उन्होंने आपको सिखाया कि रावण कैसे बना जा सकता है।

पणिक्कर : नहीं, बल और विशालता को कैसे प्रस्तुत किया जाय। उनका विश्वास दिलचस्प था। लेकिन यथार्थवादी रंगकर्म के पास ऐसा कुछ नहीं है जिसका वह सहारा ले सके, जैसा कि हमारे पास नाट्यशास्त्र है। वह तो हमारा लोकधर्मी भी नहीं था। सुकुमारन नायर जैसे कुछ लोग यथार्थवादी रंगकर्म से बाहर आकर अपनी समझ और प्रतिभा के बूते पर यह कल्पना करने में कामयाब हुए कि किस तरह नाट्यशास्त्र में धर्म का उपयोग किया जा सकता है...

उदयन : क्या आप नाटक में भी उनके साथ रहे?

पणिक्कर : नहीं, मैं तो सिर्फ़ उनसे मिलने जाया करता था और उनके अभिनय का आनन्द लेता था। जब शुरुआती

दौर में कालीकट विश्वविद्यालय के स्कूल ऑफ़ ड्रामा में रंगकर्म विषय को शामिल किया जा रहा था तब पाठ्यक्रम की समिति में मैं भी था। शंकर पिल्लै निदेशक थे। वे तब उस समय योजना बना रहे थे कि क्या पढ़ाया जाय। मैं यह दावा नहीं करता कि मेरे पास देने के लिए कोई खास चीज़ थी! इसकी बजाय, वह हम सभी के लिए एक धीरे-धीरे विकसित होने वाली चीज़ थी। मैं समिति में था, कारन्त थे, सुकुमारन नायर और एन. कृष्णा पिल्लै भी। कृष्णा पिल्लै एक लेखक थे और वे अपने भग्नभवनम् बलाबलम् और कन्यका जैसे सशक्त नाटकों के लिए जाने जाते थे। वे नाट्यलेखन की पाश्चात्य यथार्थवादी संरचना से प्रभावित थे। सही या ग़लत जो भी कह लें, वे केरल के इब्सन कहे जाते थे, जिसे मुझे नहीं लगता कि वे कभी पसन्द करते रहे हों! लेकिन यह क्षेत्रीय भाषाओं के हमारे लेखकों के बीच एक सामान्य चीज़ थी, वह चाहे उपन्यास का मसला हो चाहे नाटक का।

उदयन : क्या आप उस वक्त की बात कर रहे हैं जब त्रिचूर में नाट्यसंस्थान बनाया जा रहा था?

पणिक्कर : हाँ। कृष्णा पिल्लै मेरे प्रति बहुत सद्भावना रखते थे, सुकुमारन नायर भी। वे दरअसल मेरे काम में दिलचस्पी रखते थे और मेरे शुभचिन्तक थे लेकिन यथार्थवाद में उनको बहुत गहरा विश्वास था और उस मामले में हमसे पूरे सम्मान के हक़दार हैं। जिस स्थिति के बारे में मैं आपको बताने जा रहा हूँ, वह बहुत दिलचस्प है। पाठ्यक्रम पर चर्चा चल रही थी (संस्कृत के प्रसिद्ध अध्यापक और विद्वान नारायण पिशॉरिटी भी समिति के सदस्य थे लेकिन वे नहीं आये थे) और शंकर पिल्लै अध्यक्षता कर रहे थे। एक सवाल था और वे शंकर पिल्लै थे जिन्होंने उसको उठाया : हमें पढ़ाने के लिए कौन-सा नाट्यरूप (फॉर्म) चुनना चाहिए?' यह सवाल उन्होंने मुझसे और कारन्त से पूछा और फिर आगे बोले, हम हर साल अलग-अलग रूप चुन सकते हैं। क्या इस साल के लिए हम मुडियेट्टू चुनें?'

उदयन : मुडियेट्टू क्या है?

पणिक्कर : यह एक आनुष्ठानिक नाटक है जिसमें धर्म-धर्म के विरुद्ध लड़ता है। भगवान शिव की पुत्री कालि देवी धर्म का प्रतिनिधित्व करती हैं, दारिका राक्षस अधर्म का रूप होता है। युद्ध मन्दिर के खुले प्रांगण में होता है। कुलिस या भूतगण कालि के पक्ष से लड़ते हैं। दारिका के पक्ष में उसका भाई दानव भी होता है। एक और दिलचस्प चरित्र है कोइमपिडार जो समाज का प्रतिनिधित्व करता है और जो कालि के साथ होता है। इन दोनों पक्षों के बीच खुले में अनेक स्थलों पर युद्ध होता है। कालि आविष्ट और क्रुद्ध हो जाती हैं और अन्त में (जब वे दारिका को मारने को होती हैं) दारिका पूरी तरह से ख़त्म हो जाता है। मुडियेट्टू कालिनाटकम् का ही एक रूप है जिसमें कालि और दारिका युद्ध होते हैं और इसकी कुछ विशिष्ट पद्गतियाँ है। मुडि का अर्थ है मुकुट। जब कालि की भूमिका कर रहे अभिनेता के सिर पर मुकुट रखा जाता है तो वह आविष्ट हो जाता है और जब वे दारिका को मारने को होती हैं, तो मुडि (कालि के मुकुट) को हटा लिया जाता है और अभिनेता सामान्य अवस्था में आ जाता है। ये इस तरह होता है। शंकर पिल्लै का विचार था कि हर नाट्यरूप की शिक्षा दी जाये। सुकुमारन नायर का विचार था कि कुछ देसी नाट्यरूप ही पढ़ाये जाएँ। उनको हर वर्ष के लिए हर नाट्यरूप का चुनाव करना था। उन्होंने कथकलि तक को चुना था। लेकिन उनको यह नहीं मालूम था कि इससे क्या प्रयोजन सिद्ध होगा। लेकिन इसके पहले कि हम अपनी बात कहते, कृष्णा पिल्लै ने कहा, सुकुमारन नायर, ये लोग इस पर इतना ज़ोर क्यों

दे रहे हैं कि विद्यार्थियों को कोई नाट्यरूप पढ़ना चाहिए?' यह बात आंशिक रूप से सही और आंशिक रूप से ग़लत थी क्योंकि रंगकर्म के लिए अपने आप में किसी निश्चित कलारूप को सीखना ज़रूरी नहीं है। यही वजह थी कि मैं कलरी के पक्ष में तर्क दे रहा था जो कि कोई कलारूप नहीं है।

उदयन : वह एक विधान है और आप किसी ख़ास विधान को सीख सकते हैं। रूप तो आपको रचना होता है।

पणिक्कर : कलरी आक्रमण और बचाव की एक कार्यविधि है जो नितान्त निरपेक्ष है। देशज रंगकर्म के सन्दर्भ में दो अवधारणाएँ थीं। शंकर पिल्लै का मानना था कि एक नाट्यरूप को सीखा जाना चाहिए। उनको इस बात का अहसास नहीं था कि किसी नाट्यरूप को सीखने का मतलब एक निश्चित व्याकरण को सीखना है और उस व्याकरण को रंगकर्म में प्रयुक्त नहीं किया जा सकता। लेकिन कृष्णा पिल्लै का अभिप्राय कुछ और था। किसी भी नाट्यरूप को सीखा ही क्यों जाये?

उदयन : उनका क्या मतलब था?

पणिक्कर : कृष्णा पिल्लै ने सुकुमारन नायर से पूछा, शंकर पिल्लै इस बात पर ज़ोर क्यों दे रहे हैं कि विद्यार्थियों को कोई नाट्यरूप या नृत्यरूप या ऐसी ही कोई चीज़ पढ़नी चाहिए। हमें इस तरह की चीज़ पाठ्यक्रम में क्यों रखनी चाहिए?' उस बिन्दु पर मैं और कारन्त सामान्यतौर पर शंकर पिल्लै का समर्थन करना चाहते थे। हमें लगा कि हमको उनका समर्थन करना चाहिए। कारन्त और मैं वहाँ पर देशज रंगमंच के समर्थकों के तौर पर मौजूद थे और ये दो लोग यथार्थवादी रंगकर्म के पक्के समर्थक थे, जिसको सीखना भी ज़रूरी था, उसको भी पाठ्यक्रम के हिस्से के रूप में पढ़ाया जाना चाहिए था। इसलिए मैंने इस मसले पर कुछ नहीं कहा। 'हमें इस बारे में सोचना है कि इसे सीखना चाहिए या नहीं,' मैंने कहा। कारन्त इस पर सहमत हुए और हमने एक-दूसरे की तरफ़ देखा...जो मेरा मतलब था और जो उनका मतलब था वे दोनों अलग थे।

उदयन : ये किस साल की बात है?

पणिक्कर : अस्सी के दशक के आखिरी किसी साल की।

शंकर पिल्लै नाट्य विद्यालय के संस्थापक निदेशक थे। बाद में उसी बैठक में उन्होंने कहा, इस बात को फ़िलहाल मुल्तवी कराया जाना ज़रूरी नहीं होगा तो हम उस पर बात नहीं करेंगे। लेकिन नारायण पिशॉरिटी की सलाह थी कि उरुभंगम् को पाठ्यक्रम में रखा जाये। इस नुक्ते पर मैंने हस्तक्षेप किया और कहा कि उरुभंगम् और मध्यमव्यायोग के बीच पिशॉरिटी को उरुभंगम् का चुनाव नहीं करना चाहिए। मैं मध्यमव्यायोग को रखने की सलाह दूँगा क्योंकि वह एक सरल पाठ है। उरुभंगम् संरचना की दृष्टि से कुछ मुश्किल पड़ सकता है।

कृष्णा पिल्लै सर के प्रति मेरे मन में बहुत सम्मान था और वे भी मुझे पसन्द करते थे। एक बार एक विश्वविद्यालयीन समिति में उन्होंने सलाह दी थी कि अवनवन कडम्बा को पाठ्यक्रम में शामिल किया जाना चाहिए। हमारे निजी सम्बन्ध थे। मैंने कृष्णा पिल्लै को सम्बोधित करते हुए कहा सर, शंकर पिल्लै का परामर्श है कि हम मुडियेट्टू जैसे कलारूप को पढ़ायें और मुझे लगता है कि वे जो कह रहे हैं वह

आंशिक रूप से ठीक है। और उन्होंने पूछा, क्यों? उसका इससे कोई लेना-देना नहीं है, यह नाटक है। मुडियेट्टू महज़ एक कलारूप है, मध्यमव्यायोग एक नाटक है, इस पर मैंने पूछा, अगर आप इस पर सहमत हैं कि मध्यमव्यायोग एक नाटक है, तो मैं यह जानना चाहूँगा कि घटोत्कच किस तरह वृक्ष को उखाड़कर उससे भीम को पीटेगा?

उदयन : इस तरह आपने परोक्षतः अपनी धारणा को पेश कर दिया?

पणिक्कर : हाँ। और उन्होंने सुकुमारन नायर से कहा, ये जो कह रहे हैं, एकदम सही है। सच है, अगर घटोत्कच यह नहीं सीखेगा कि पेड़ को कैसे उखाड़ा जाय तो वह भीम को उससे पीटेगा कैसे?'

उदयन : और इसके लिए शारीरिक कर्म ज़रूरी है।

पणिक्कर : सुकुमारन नायर की अभिनय-पद्धति या कृष्णा पिल्लै की लेखन-पद्धति घटोत्कच द्वारा पेड़ को उखाड़ने या पर्वत को उखाड़ने की भास की कल्पना के करीब कभी नहीं पहुँच सकी थी। उनकी पद्धति के अनुसार यह एकदम असम्भव कर्म था।

उदयन : तो आपने उनसे पूछा कि यह किस तरह किया जा सकेगा?

पणिक्कर : ये किस तरह किया जा सकता है जब तक कि कुछ खास नृत्य संचलन या देहगतियाँ नहीं सीख ली जातीं? ये बहुत अनिवार्य हैं। इसके बाद कृष्णा पिल्लै मुडियेट्टू को शामिल करने पर सहमत हुए। चूँकि वे यह सब नहीं जानते थे, छात्रों को उस शिक्षण व्यवस्था से गुज़रना पड़ा, जो कि मैकाले की विरासत थी, स्कूलों और कॉलेजों में भी। जब अवनवन कडम्बा पढ़ाने का अवसर आया तो अध्यापकों को यह बहुत मुश्किल लगा लेकिन अब अध्यापकों में भी बदलाव आ चुका है। अब कई महाविद्यालयों में अध्यापक महसूस करने लगे हैं कि उनको अवनवन कडम्बा देखना चाहिए ताकि वे इसको समझ सकें या कम से कम प्रस्तुति के कोण से किसी नाट्यालेख की व्याख्या करने की समझ विकसित कर सकें । यह बहुत देर से शुरू हुआ है। लेकिन हम भटक गये हैं!

उदयन : हम आपके अभिनेताओं के लिए कलरी के प्रशिक्षण की चर्चा कर रहे थे।

पणिक्कर : हाँ, इसलिए अब यह सवाल था कि मुडियेट्टू और कलरी क्यों? उस समय इन विषयों को बरतने के मामले में मैं बहुत काबिल नहीं था, क्योंकि मैं खुद भी सोच-विचार और विकास के दौर से गुज़र रहा था। लेकिन तब तक मैं कलरी शुरू कर चुका था और मैं कुछ चीज़ों को समझना शुरू कर रहा था। मैंने १९८० के दशक में कलरी शुरू कर दी थी, लेकिन मैं हमेशा सोचा करता था कि क्या कथकलि जैसा रूप भी मददगार हो सकता है। बालकृष्णन ने, जो भीम की भूमिका निभाया करते थे, कथकलि के एक वरिष्ठ गुरु से कथकलि की शिक्षा ली थी, हालाँकि वे प्रस्तुतियाँ नहीं देते थे। लेकिन उन्होंने उसकी बुनियादी बारीकियों को सीखा था। यह बात कि वे मेरे लिए उपयोगी थे, मैंने इसलिए कही थी क्योंकि जो कथकलि उन्होंने सीखी थी उसको भूलने की क़ाबिलियत उनमें थी। वे धीरे-धीरे कथकलि की सारी शिक्षाएँ भूलते गये और इस तरह आसानी से मेरी ज़रूरतों के मुताबिक ढल गये और ठीक इसी कारण से मैं यह कहता हूँ कि कलरी जैसा तटस्थ रूप एक अभिनेता के निर्माण में बहुत बड़ी भूमिका निभाता है। यदि

आप एक स्थापित व्याकरण वाले किसी स्थापित कलारूप को, जैसे कि कथकलि को, या कि मुडियेट्टू जैसे लोक या आनुष्ठानिक रूप को सीखते हैं और उसकी नक़ल करते हैं, वह रंगकर्म के लिए मददगार नहीं होगा। सीखना अपनी जगह पर ठीक है, लेकिन सीखने के बाद भूलने की एक अक्लमन्दी से युक्त प्रक्रिया भी उतनी ही ज़रूरी है, जिसके प्रति अध्यापक को भी सजग होना चाहिए...लेकिन वहाँ ऐसा नहीं था! और इन रूपों को इस्तेमाल में कैसे लाया जाय ये तब भी एक मुश्किल सवाल बना रह जाता है। राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के सामने इस वक्त यही समस्या है। उन्होंने कई कलारूपों को जगह दी, मसलन, उन्होंने कई छाऊ कलाकारों आदि को आमन्त्रित किया जो शारीरिक रूप से काफ़ी सशक्त रूपों को प्रस्तुत करते हैं। छात्र इन छाऊ पद्गतियों को देखकर चकरा जाते हैं। गोपी भी, जो कलरी जानते हैं और जिनको उसकी सही पद्धति की समझ है, वहाँ जाते हैं और अभिनेताओं की कक्षाएँ लेते हैं, लेकिन वे बहुत नाख़ुश हैं क्योंकि वहाँ पर ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है जो उसका उपयोग कर सके। वे महज़ सीखने की ख़ातिर उसको सीखते हैं और कुछ समय बाद कुछ छात्र ऊब जाते हैं और पूछने लगते हैं, हमें इसको सीखने की क्या ज़रूरत है?' यही हाल उच्चारण के अभ्यास का है। एक बार जब मोहन महर्षि निदेशक थे, वे यहाँ आये और उन्होंने वैदिक संगीत रिकॉर्ड किया और हम पन्नियार गये। हमने मूल वेदपाठियों के पास जाकर ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद के मन्त्र एकत्र किये।

उदयन : आप अपने अभिनेताओं को उच्चारण की शिक्षा किस तरह देते हैं?

पणिक्कर : इस पर मैं अरसे से काम कर रहा हूँ। क्या हम चाक्यारों का अनुकरण करते हुए अपने उच्चारण बरत रहे हैं? नहीं। महज़ नकल से कोई मदद नहीं मिलने वाली। उच्चारण करना और सिर्फ़ बोल देना दो अलग चीज़ें हैं। किसी पाठांश का उच्चारण हवा के निक्षेप या वायुस्तोभ के माध्यम से ही सम्भव है। नाटक में वायुस्तोभ शब्दों के निक्षेप पर निर्भर है, भावानुरूप निक्षेप पर, पाठ के भाव की माँग पर। यह उस भाषा के सापेक्ष होगा जिसका इस्तेमाल किया जा रहा है। भाषा की वाक्य रचना इसमें शामिल है, उसका भाषा की विशेष सामर्थ्य के एकदम अनुरूप होना आवश्यक है...जैसा कि आप कह रहे थे, हिन्दी में यह सम्भव था, आप उस तरह की बात कह सकते थे क्योंकि आप महसूस करते हैं कि वहाँ क्या स्वीकार्य होगा। यह केरल में भी मान्य था। यहाँ तक कि संस्कृत नाटक करते समय संस्कृत के उच्चारणों को भी भाषा के गुण के अनुरूप स्वीकार्य बनाया जाना ज़रूरी है। यह चाक्यारों के मामले में स्वीकृत था। मसलन क्या आप विसर्ग के बाद स्वर को खींच सकते हैं? मुझे लगता है हम कर सकते हैं। कैसे? उदाहरण के लिए रामः में विसर्ग को लें। रामहा और रामः दोनों ही उच्चारण सही हैं। चेन्नई के ब्राह्मण इसका उच्चारण रामहा करेंगे, जबकि हम इसका उच्चारण रामः करते हैं या कभी-कभी दोनों तरह से करते हैं। ह की ध्वनि वहाँ पर है। जब आप किसी सांगीतिक प्रस्तुति का समापन करते हैं, जैसे कि रामायण के संवाद की सस्वर प्रस्तुति का, तो विसर्ग के बाद आऽऽ आता है। चाक्यार कभी-कभी ग़लत करते हैं, आप कह सकते हैं कि यह ग़लत है, पण्डित ऐसा कह सकते हैं, लेकिन तब भी इसकी छूट है। क्यों है छूट? क्योंकि भाव का प्रवाह ज़रूरी है। इसे प्रचारणम् कहा जाता है, जिसका मतलब होता है, भाव को गूँजना चाहिए। विचार का उद्गम पूर्व अभिनय से, वाचिक अभिनय से उत्तर अभिनय तक होना चाहिए। अगर आप अभिनय के एक अंश को लें, तो उसमें पूर्व अभिनय की अवस्था होनी चाहिए, जैसे कि मसलन, पत्थर का उठाना पूर्वाभिनय है, उसको किसी कुत्ते पर फेंकना अभिनय है और फिर

आप उसको एक झटके के साथ फेंकते हैं और इसी झटके के साथ, कभी-कभी वाचिक भी शामिल होता है और उसके बाद फिर...

उदयन : ...आप उसकी तरफ़ देखते हैं...

पणिक्कर : आप उसकी तरफ़ देखते हैं और उसका अभिनय करते हैं, ओह! वह चला गया। यह उत्तर अभिनय अवस्था है। इस तरह अभिनय की प्रत्येक इकाई में पूर्व अभिनय, अभिनय और उत्तर अभिनय अवस्था शामिल होती है।

उदयन : जो पूर्व-वाचिक, वाचिक और उत्तर वाचिक भी हो सकती है...

पणिक्कर : सम्भव है। कभी-कभी स्वयं वाचिक पूर्वाभिनय के रूप में शुरू में आ सकता है।

वह पूर्व अभिनय बल्कि उत्तर अभिनय तक हो सकता है। मुद्राएँ किसी एक स्थिति के भीतर विकसित हो सकती हैं और उसके बाद वाचिक आ सकता है, ये भी सम्भव है। उच्चारण के ये तमाम पक्ष हैं। उच्चारण के लिए मैंने जो किया वो ये था : मैं खुद से सवाल करूँगा, ये मेरा पाठ है, ये इसकी सम्भावना, इसकी ज़रूरत है और मैं उस शैली के बारे में सोचूँगा जिसमें संगीत को आलापना या लय में बाँधा जाना है। यही प्रक्रिया थी जो उत्तररामचरितम् में अपनायी गयी जहाँ आपने मुझे लय को खोलने या बाँधने की स्वतन्त्रता दी थी। कभी-कभी जब मैं खोलने को होता हूँ, आप उसको बाँध देते हैं। यह सब कुछ स्थिति पर निर्भर करता है, गति और दृश्य-श्रव्य के संयोजन पर निर्भर करता है और मैंने पारम्परिक वैदिक मन्त्रपाठ से भी लिया है। मैं पारम्परिक लोक और आदिवासी उच्चारण शैलियों से भी उत्प्रेरित हुआ हूँ। उनमें ऐसे व्यवहार हैं जिनको जानना बहुत दिलचस्प है।

उदयन : आपका मतलब है कि आपने लोक प्रस्तुतियों और वैदिक गायन से प्रेरणा ग्रहण की है?

पणिक्कर : आदिवासी प्रस्तुतियों से भी। आपको याद है कि राम सीता को जंगल में किस तरह पुकारते हैं? उच्चारण का मेरा स्रोत यह था। इस भाव को लाने और उसकी ज़रूरतों को पूरा करने के लिए मेरे पास ऐसी सामग्री है जिसके साथ मैं उन प्राचीनतम स्रोतों तक जाता हूँ जहाँ से चाक्यारों ने उत्प्रेरणाएँ हासिल की थीं। चाक्यारों ने भी वैदिक गायन ओत्थु से प्रेरणा ली थी। यही वजह है कि ब्राह्मण कहा करते थे कि ओत्थु पिड़च्चु कुत्थयी, यानी आपने ओत्थु से लिया और उसको ग़लत कर दिया और अब यह आपकी कुत्थु या कि नाटकीय प्रस्तुति है। जब वैदिक गायन ग़लत हुआ, वह चाक्यारों की प्रस्तुति बन गया। हमें इन सारे पूर्ववर्तियों की ज़रूरत है। हमें जितना सम्भव हो सके उतना पीछे जाना चाहिए, इस बात से निरपेक्ष रहते हुए कि वे आर्य हैं या द्रविड़ हैं, अभिजात हैं या असंस्कृत। इस तरह हम यह सब ग्रहण करते हैं क्योंकि यह सब हमारा अपना है। दूसरा स्रोत है वैदिक गायन का। भावों को व्यक्त करने के लिए वायु निक्षेप का प्रयोग हममें और चाक्यारों में एक-सा है। हम देहभंगिमाओं के साथ इसका रिश्ता बिठाने के लिए इसको और ज़्यादा सशक्त बनाने की कोशिश करते हैं और इस तरह देश-कालपरक नैरन्तर्य की रचना करते हैं।

उदयन : और जिस भाव-पक्ष की बात आप पाठ के सन्दर्भ में कर रहे थे उसको दरअसल उसी प्राण और

वायुस्तोभ के साथ आना चाहिए।

पणिक्कर : प्राण और वायुस्तोभ।

उदयन : वैदिक गायन में यह वायुस्तोभ बहुत ज़्यादा होता है।

पणिक्कर : बहुत ज़्यादा। यहाँ तक कि मन्त्रों के उच्चारण में भी।

उदयन : देहगतियों में भी...

पणिक्कर : देहगतियों से भी उसका सम्बन्ध है बशर्ते कि हम इस शब्द को सही अर्थ में लें।

उदयन : जिस तरह आपने कलरी के बारे में कहा कि उसमें एक क़िस्म की तटस्थता है, क्या आप उच्चारण की तटस्थता के बारे में भी बताएँगे?

पणिक्कर : अभिनेता श्लोकों को अपने मन में सीखते हैं। उदाहरण के लिए उरुभंगम् में एक श्लोक है :

श्रीमान् संयुगचन्दनेन रुधिरेणार्द्रानुलिप्तच्छवि-

र्भूसंसर्पणरेणुपाटलभुजो बालव्रतं ग्राहितः।

निवृत्तेऽमृत मन्थने क्षितिधरान् मुक्तः सुरैः

सासुरैराकर्षनिव भोगमर्णव जले श्रान्तोज्झितो वासुकिः।।

भास दुर्योधन के प्रवेश का चित्रमय विवरण देते हैं। दुर्योधन किसी साँप की तरह रेंगता आ रहा है।

उदयन : उसकी देह पर रक्त चन्दन की तरह लिपटा हुआ है।

पणिक्कर : और वह बहुत आर्द्र यानी नम है। छवि कान्तिमय है। इनमें से हर शब्द पर अभिनेता के शरीर में प्रतिक्रिया होनी चाहिए : भूसंसर्पण रेणु पाटलभुजो धरती पर रेंगते हुए रक्त पर धूल...'

उदयन : लगता है जैसे पराग-कण हों।

पणिक्कर : और अमृतमन्थने सुरा असुरा इत्यादि जैसे अमृतमन्थन के बाद देवताओं और दानवों द्वारा तज दिये गये सर्प... सर्प की तरह वह रेंगता है। समूचे श्लोक के अभिनय के लिए उच्चारण का आधार ऐसा स्वरसन्धान होना चाहिए जो संचारियों के अनुरूप हो और स्थायी को अक्षुण्ण रखे। मसलन, जब दुर्योधन, 'भीमेनभित्वा, आह! उस भीम ने मुझ पर वार किया!' कहता हुआ भीम शब्द का उच्चारण करता है, उसको ऐसा भाव जगाना चाहिए जो अधिकतम...

उदयन : अवहेलना...घृणा का हो।

पणिक्कर : उसे कहना चाहिए भीऽमेऽनभित्वाऽऽ

उदयन : और इस तरह कटूक्ति और घृणा का भाव पैदा हो।

पणिक्कर : और फिर सारे नियमों को तोड़ते हुए, यहाँ आश्चर्य (अद्‌भुत रस) का भी भाव है। 'गदाभिघातक्षतजर्जरोरु.... गदा के प्रहार से मेरी दोनों जंघाएँ टूट गयी हैं!' यह बहुत दुःखद है और इसलिए करुण भी है...

उदयन : इस तरह के उच्चारण के माध्यम से रसों और संचारियों की समूची शृंखला प्रगट होनी चाहिए।

पणिक्कर : हाँ, और फिर अन्त में वह, यानी दुर्योधन, इस सब के बावजूद अपराजेय है, यही स्थायी रस है : वीर। इस सबको आपको रूपायित करना होगा अपने अभिनय में, देह की सूक्ष्म भंगिमाओं में और अन्ततः अपने उच्चारण में स्थायी भाव को कायम रखना होगा। हमने इन सारी चीज़ों पर ध्यान दिया है। मैं अभिनेता के साथ बैठता हूँ। अभिनय करने के उनके तरीक़े में भागीदारी करता हूँ। यह कवायद की जा चुकी है। अब गिरीशन निश्चय ही इसे खुद-ब-खुद कर सकते हैं, मुझे चिन्ता करने की ज़रूरत नहीं होती।

उदयन : आप अपने अभिनेताओं का चयन किस तरह करते हैं, अपनी नाट्यमण्डली में किसी व्यक्ति को शामिल करते हुए उसमें क्या चीज़ देखते हैं?

पणिक्कर : कास्टिंग वाक़ई एक मुश्किल काम है। जब मैं अपनी मण्डली से इतर किसी मण्डली के साथ काम करता हूँ, मैं कलरी के एक कलाकार को इस काम में लगाता हूँ, आमतौर से गोपी को इस आरम्भिक काम के लिए भेजा जाता है। मण्डली के हर सदस्य के बारे में उनकी रिपोर्ट कास्टिंग के मामले में मुख्य रूप से मार्गदर्शक होती है। दूसरे आधार भी होते हैं, जैसे की आवाज़, संगीत के प्रति रुझान, आदि। जब मैंने राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के दूसरे वर्ष के छात्रों के साथ १९९१ में उरुभंगम् किया था, मैंने इसी तरह कास्टिंग की थी। शेल्का नाम के एक विद्यार्थी को दुर्योधन की भूमिका दी गयी थी। जो अनुभव मुझे वहाँ हुआ, मुझे अभी भी याद है। रिहर्सल के पहले ही सप्ताह में, शाम की रिहर्सल के लिए मुझे जो अभिनेता उपलब्ध कराये गये थे, उनमें से एक ने शेल्का के नेतृत्व में इस तरह का सवाल उठाया था : आप हमको ये देहगतियाँ क्यों सिखा रहे हैं? आप इस पर इतना ज़ोर क्यों दे रहे हैं कि अपनी दोनों टूटी हुई जाँघों के साथ दुर्योधन नृत्य करे? यह कैसे सम्भव है? मेरी त्वरित प्रतिक्रिया थी कि मैं आपके इस सन्देह को पूरी गम्भीरता से लेता हूँ और निश्चय ही राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के निदेशक से अनुरोध करूँगा कि वे शेल्का को अस्पताल में भर्ती कराएँ और मेरे लिए कोई दूसरा अभिनेता उपलब्ध कराएँ जिसको मैं यह भूमिका सौंप सकूँ! अरविन्दन भी उस समय मेरे साथ थे जो प्रस्तुति की वेशभूषा पर काम कर रहे थे।

उदयन : दिलचस्प है कि आप अभिनेता को अस्पताल में भर्ती कराने की सिफ़ारिश करना चाहते थे।

पणिक्कर : यह सवाल नाट्य के समूचे भारतीय सिद्धान्त के सन्दर्भ में चौंका देने वाला है। दुर्योधन को गतिशील कैसे बनाया गया? वह बहुत आसानी से मंच पर एक सुविधाजनक जगह घेरकर एक ऐसे व्यक्ति के रूप में अपनी भूमिका निभा सकता था जिसकी दोनों जंघाएँ टूटी हुई हैं। लेकिन भारतीय रस की अवधारणा माँग करती है कि वह मुख्य करुण रस के दौरान स्थिर नहीं रह सकता। इस स्थायी रस को संचारी भावों से अलंकृत होना होगा और यह स्थिति अनिवार्यतः देहगतियों की माँग करती है।

उदयन : इसलिए जिन कलाकारों का आप चयन करते हैं उनको भारतीय सौन्दर्यशास्त्र के समग्र दृष्टिकोण की जानकारी होना ज़रूरी है।

पणिक्कर : निश्चय ही इसके लिए समुचित प्रशिक्षण आवश्यक है। अभिनेताओं की उपलब्धता तो एक बड़ी समस्या है ही लेकिन उपलब्ध व्यक्ति उपयोगी भी होना चाहिए।

उदयन : बिल्कुल।

पणिक्कर : अभिनेता उपलब्ध भी हों और उपयोगी भी। उनमें विश्वास की दृढ़ता भी होनी चाहिए। अभी ये जो दो लड़के आये हैं, शिक्षित हैं। इनमें से एक वकील है दूसरे के साथ उसकी माँ आयी हुई है। दोनों बहुत अच्छे हैं। उत्तररामचरितम् में लव और कुश की भूमिका के लिए दोनों बहुत अच्छे हैं। उनमें लय की समझ है।

उदयन : अभिनेताओं को चुनने से पहले क्या आप उनसे कुछ प्रस्तुत करने को कहते हैं?

पणिक्कर : हाँ। मैं स्वरों पर विशेष ध्यान देता हूँ, सुस्वर जिसका मतलब है उनको स प स प स गाना आना चाहिए। अगर कोई यह कर सकता है, इतना पर्याप्त है। वे इस पर बढ़त कर सकते हैं। एक बार मेरे पास एक लड़की को लेने के सिवा और कोई विकल्प नहीं था। वह शंकर पिल्लै के नाट्य विद्यालय से थी। अब वह बहुत अच्छी है। लेकिन शुरू में उसको स्वरों की कोई समझ नहीं थी... लेकिन जब वह आयी थी, कभी भी श्रुति का निर्वाह नहीं कर पाती थी और लय को लेकर भी उसको समस्या होती थी। लेकिन बाद में वह सीख गयी। जब मैं उदीयमान अभिनेताओं को देखता हूँ, मुझे लगता है कि उनको बेहतर बनाया जा सकता है और उनको श्रुति और लय में दीक्षित किया जा सकता है।

उदयन : किसी लड़के या लड़की को देखकर क्या आप फैसला कर पाते हैं कि वे यह कर पाएँगे?

पणिक्कर : मैं समझ सकता हूँ, वे कर पाएँगे या नहीं। यानी उनमें इस काम के प्रति गहरा लगाव है या नहीं। पुराने ज़माने में, बहुत ही नौजवान लड़की को कथकलि आशन (गुरु) के पास ले जाया जाता था और वे उनकी अंग-भाषा और हावभाव को देखकर समझ लिया करते थे कि उनमें कथकलि नर्तक बनने की काबिलियत है या नहीं। हाल ही में हमें एक लड़की मिली थी, जो पहली नज़र में ठीक-ठाक नहीं लगती थी। लेकिन तब भी उसके उत्साह और समर्पण-भाव को देखकर मैंने कह दिया था कि उसमें सम्भावनाएँ हैं। उसने चण्डा (संगीत-वाद्य) सीखा हुआ था और उसमें लय और उसकी बारीकियों की ज़बरदस्त समझ थी। एक ही कमी थी कि उसे स प स श्रुति नहीं आती थी! उसका नाम है पार्वती... मैंने सरिता को उसकी ज़िम्मेदारी सौंपी और उससे कहा कि वह उसकी सम्भावनाओं को सामने लाये। उसने बहुत मेहनत की और उसका वैसा ही परिणाम सामने आया। यह ठीक-ठीक कह पाना सम्भव नहीं है कि चयन अन्ततः सही साबित होगा या नहीं। रंगकर्म में किसी को उस तरह उठाकर नहीं फेंक देना चाहिए। हर व्यक्ति मेल बैठा सकता है, ऐसा हर व्यक्ति जो पूरी योजना के भीतर कड़ी मेहनत करता है।

किसी व्यक्ति का उपयोग, मसलन, समूह के लिए किया जा सकता है और समूह, आप जानते हैं कि ग़ैर महत्त्वपूर्ण नहीं होता। समूह बहुत महत्त्वपूर्ण है, अभिनेताओं को यह नहीं लगना चाहिए कि वे

कोई कम महत्त्व का काम कर रहे हैं। यह समूह ही है जो 'मालविकाग्निमित्रम्' में वृक्ष की रचना करता है और वृक्ष उस प्रस्तुति में केन्द्रीय महत्त्व रखता है।

उदयन : आपकी प्रस्तुति में वह बहुत महत्त्वपूर्ण है, लगभग एक चरित्र जितना महत्त्वपूर्ण।

पणिक्कर : जब मैं सोवियत संघ गया था, टोबाकोव नाम के रंगनिर्देशक के साथ मेरी बातचीत हुई थी जिनसे मेरी मुलाक़ात भारतीय दूतावास में हुई थी। मैंने उनसे पूछा कि वे अभिनेताओं का चयन किस तरह करते हैं। उन्होंने तुरन्त जवाब दिया, 'ओह, मैं सिर्फ़ प्रतिभाशाली लोगों को ही चुनता हूँ!' फिर उन्होंने मुझसे पूछा कि मैं किस तरह चयन करता हूँ, जिसपर मैंने उनसे कहा, मेरे लिए प्रतिभा ज़रूरी है! लेकिन आपको उसका पता कैसे चलेगा जबकि वह उसमें उसी तरह कहीं गहरे में छिपी होती है जिस तरह पत्थर में कनमदम छिपा होता है?'

उदयन : ये क्या चीज़ है?

पणिक्कर : यह चट्टान के भीतर छिपी हुई एक काली चीज़ है जो बहकर बाहर आ जाती है और जिसका औषधि के रूप में इस्तेमाल किया जाता है।

प्रश्न ये है कि आप किसी मनुष्य की रुचि और प्रतिभा का अन्दाज़ा उसके बाहरी रूप को देखकर नहीं लगा सकते। मैंने अपनी बात उनके सामने रखी और पूछा, 'आप इस नतीजे पर कैसे पहुँचते हैं कि अमुक व्यक्ति में रुचि या प्रतिभा का अभाव है? ये तो सिर्फ़ ईश्वर ही जान सकता है कि उसने प्रतिभा को कहाँ रखा है!' चट्टान ऊपर से पूरी तरह सख़्त होती है, लेकिन उसके अन्दर कनमदम होता है। आपको खोजना होगा, आपको उस सख़्त चट्टान के पार जाना होगा। आपको उस चट्टान में एक अहिल्या भी मिल सकती है! इतना ज़रूर है कि आपको ग़ैर ज़रूरी हिस्सों को तराशकर अलग करना पड़ सकता है और अहिल्या प्रगट हो सकती है! अगर आपको तराशना आता है, आप उसको हासिल कर सकते हैं। ख़ैर, उस सोवियत निर्देशक टोबाकोव के पास कोई जवाब नहीं था।

उदयन : नाटक का चुनाव कर लेने के बाद आप अपनी रिहर्सलें किस तरह शुरू करते हैं?

पणिक्कर : मेरी पहली चिन्ता वाचिक की होती है क्योंकि नाट्यपाठ तात्कालिक तौर पर वाचिक से ही सम्बन्ध रखता है। किस्सागोई, जिसके अपने बहुत ही साधारण क़िस्म के अवलम्ब होते हैं, वह प्रस्थान या वह चीज़ होती है जिस पर से आप छलांग लगाते हैं। हम उस जीवन से जुड़े होते हैं जिसका बखान नाटक में किया गया होता है। पाठ माध्यम है और इसलिए उसकी इज़्ज़त की जानी चाहिए। इसके लिए मैं ज़्यादातर संगीत पर ध्यान देता हूँ। एक समग्र सांगीतिक प्रारूप मेरे लिए सब कुछ दे सकता है - पर्याप्त सामग्री, दृश्यों के बारे में सोचने का पर्याप्त प्रोत्साहन। मुख्य मुद्दा है संगीत। इसलिए जब मैं नाटक उठाता हूँ, सबसे पहले भाषा पर केन्द्रित होता हूँ, वैसे ही जैसे आप अपनी भाषा पर केन्द्रित होते हैं... मैं एकदम सरल भाषा में विचार रखता हूँ। ये-ये चीज़ें ज़रूरी हैं। अगर मैं अपने विचारों को सम्प्रेषित कर देता हूँ, तो आप मेरे नाटक के लेखक, अपनी काव्यात्मक अभिव्यक्तियों को उन बिम्बों के माध्यम से सामने लाएँगे जो कि अभिव्यक्ति का सामान्य ढँग नहीं होगा। अभिव्यक्ति का इसके अलावा कोई तरीक़ा हो

सकता है?

उदयन : नहीं।

पणिक्कर : आप इसी तरह व्यक्त कर सकते हैं। अगर मैं आपसे कहता कि मैं एक कुलाँचें भरता हुआ घोड़ा चाहता हूँ, आप निश्चय ही इसके बारे में सोचते और कुलाँचें भरते हुए घोड़े का विचार आपके मन में काव्यात्मक रूप लेता। इसी तरह, जब उसको क्रिया में परिणित करना होता है, तो मुख्य चीज़ लय के बारे में निर्णय करने की होती है, पूरे नाटक के लय के बारे में और किसी अवसर-विशेष की लय को उस सम्पूर्ण लय के साथ संगत बनाने की। लय की एक सम्पूर्ण बाहरी संरचना और एक आन्तरिक सांगीतिक संरचना होती है। स्थितियों को कैसे खोला जाए, कैसे बाँधा जाए? मेरी चिन्ता के मुख्य विषय ये होते हैं, विशेष रूप से तब जब मैं संस्कृत नाटकों को उठाता हूँ और उसके बाद निश्चय ही दृश्य आते हैं। दृश्य आपके पास सिर्फ़ संगीत के माध्यम से ही आएँगे। संगीत से मेरा आशय सिर्फ़ ध्वनि के पैटर्न से नहीं है। यह उस अर्थ में भी संगीत नहीं है जो हम लोकप्रिय फ़िल्मी संगीत के रूप में सुनते हैं, या जो तथाकथित लोकप्रिय व्यावसायिक रंगमंच में देखने में आता है। मैं उस तरह के संगीत की बात नहीं कर रहा हूँ जहाँ आप बात करते हैं और उसके बाद गीत आता है। यह महज़ गीत नहीं है, बल्कि सम्पूर्ण चीज़ है, यह फ़िल्म में की जाने वाली रि-रिकॉर्डिंग जैसी चीज़ है, एक सम्पूर्ण संगीत, रूप, विषयवस्तु और अन्य तमाम कारक। यहाँ तक कि संवाद भी सांगीतिक प्रभाव लिये होते हैं। उसमें भाव के अनुरूप वायु-निक्षेप, वायुस्तोभ होना चाहिए। तभी वह सम्पूर्ण संगीत होता है और हम एक बार में एक ही हिस्सा लेते हैं और इस पर विचार करते हैं कि इस हिस्से की उपज कैसे की जाए। उपज की ख़ातिर उपज नहीं, बल्कि इसलिए ताकि वह आम दर्शकों को रुचिकर लगे, किसी विशिष्ट समूह के लिए नहीं। यह दर्शक महज़ मैं भी हो सकता हूँ। वह मेरे लिए सन्तोषप्रद होना चाहिए। जब मैं उसको प्रस्तुत करूँ, तो अन्ततः वह मेरे लिए सन्तोषप्रद हो। मुझे सुनाने के पहले आपके लेखन को प्रथमतः आपको सन्तुष्ट कर सकना चाहिए, तभी आप उस आत्मविश्वास की स्थिति में आ पाएँगे कि बाक़ी लोग उसको पढ़ सकते हैं। इस तरह एक स्वयं प्रेक्षक के रूप में मैं दर्शकों का एक प्रतिनिधि होता हूँ जो नाटक को देख रहा होता है और वहाँ बैठकर मुझे खुद को अवधि के बारे में, अवधि की अवधारणा के बारे में, गति या लय के बारे में खुद को रिपोर्ट देनी है।

उदयन : विक्रमोर्वशीयम में कुण्डलिनी आदि का विचार किस तरह आया? मेरा मतलब है, वह मंगलाचरण के साथ शुरू होता है और उसमें कुण्डलिनी के जाग्रत होने का स्पष्ट संकेत है।

पणिक्कर : एक ओर तो वहाँ वट वृक्ष का बिम्ब है। पुरुरवा इस वट वृक्ष का प्रतिनिधित्व करता है जिसकी जड़ें ज़मीन में हैं और जिसकी शाखाएँ स्वर्ग की खोज में ऊपर की तरफ़ जा रही हैं। लेकिन वह अपनी जड़ों को एक बार फिर ऊपर से नीचे, मिट्टी की ओर भेजता है। ये पुरुरवा है। वह स्वर्ग जाता है लेकिन हमेशा वापस आता है। वह इन्द्र के साथ निरन्तर सम्बन्ध बनाये हुए है। इस वृक्ष के नीचे पुरुरवा अपना सूर्य नमस्कार करता है, वह एक ख़ास मुद्रा में खड़ा होता है और कुण्डलिनी क्रियाशील होती है। एक लड़की उसकी काया में प्रवेश करती है, वह उसकी काया में उतरती है। यह पुरुरवा की यात्रा की पूर्वसूचना है। इसके अलावा भी एक प्रतीक है जो किंचित भ्रामक है लेकिन वट वृक्ष के इस स्थायी प्रतीक

को मैं वहाँ रखना चाहता था और इसके बाद इस कुण्डलिनी से पुरुरवा का परिचय होता है जो स्वर्गारोहण में उसकी मदद करती है। वह इस कुण्डलिनी शक्ति के बल पर ही स्वर्ग पहुँचता है। कुण्डलिनी भी अपने समरूप की, मेरा मतलब है ईश्वर की तलाश में है। इस तरह स्वर्ग की यह यात्रा उसको उर्वशी से भेंट का और उस दैत्य के हाथों से उसको छुड़ाने का अवसर प्रदान करती है जिसने स्वर्ग से उसका अपहरण कर लिया था।

उदयन : एक अर्थ में आपने इस नाटक की कुण्डलिनी के माध्यम से व्याख्या की है और यह संकेत दिया है कि जो कुछ भी आप देखने जा रहे हैं वह कुण्डलिनी के सहारे की गयी पुरुरवा की कल्पना है।

पणिक्कर : सही है। यह अलग-अलग दर्शकों के लिए अलग-अलग अर्थ रखता है। ये आपकी समझ है, जैसा आपने महसूस किया है वह भी सही है। कोई कुण्डलिनी शब्द का प्रयोग नहीं भी कर सकता है क्योंकि वह मेरी व्याख्या, प्रस्तुति या पाठ में कहीं पर भी नहीं है।

उदयन : ये विचार आपके मन में कैसे आये?

पणिक्कर : इसके मंगलाचरण की शुरुआत से, जो इस तरह होती है, वेदान्तेषु यमाहुरेक एक पुरुषम् पुरुष प्रकृति की खोज में निकला है। वह एक पुरुष है। एक पुरुष किसको कहते हैं? वह सिर्फ़ ईश्वर हो सकता है। यह पुरुष ईश्वर के समान है। उसके भीतर आत्मा है और इसीलिए कुण्डलिनी क्रियाशील होती है। वेदान्तेषु यमाहुरेक पुरुषम् व्याप्य स्थित रोदसि। पुरुरवा का अर्थ है महत् ध्वनि। महत् ध्वनि ओम् हो सकती है, प्रथम ध्वनि या यह मेघगर्जना भी हो सकती है जो बिजली चमकने के बाद होती है और उर्वशी वह बिजली है। उर्वशी की तुलना हमेशा बिजली से की जाती है और पुरुरवा की तुलना बिजली चमकने के बाद की ध्वनि से, रव से, गर्जना से की जाती है। वे एक दूसरे से आकाश में मिलते हैं।

उदयन : गर्जना और बिजली कुछ क्षणों के लिए ही साथ होते हैं और फिर वे अलग हो जाते हैं। उनको अलग होना होता है और इसी रूप में यह बिम्ब काम करता है। लेकिन आपके नाटक में एक और सशक्त बिम्ब है : भेड़ियों का बिम्ब।

पणिक्कर : भेड़ियों का बिम्ब बाद में आता है।

उदयन : वह उर्वशी की कामासक्ति को प्रतिबिम्बित करता है।

पणिक्कर : यह ऋग्वेद में है क्योंकि आपने देखा होगा कि नाटक में ये भेड़िये समूह के पीछे हैं। आदिपक्षी भी वहाँ है। उर्वशी खुद को छिपा लेती है और आदिपक्षी के रूप में आचरण करती है, वह पक्षी जो अपने पंखों में छिप सकता है।

उदयन : वह दरअसल अपने पंखों में ग़ायब हो सकता है और यही वो चीज़ है जो उर्वशी के मामले में होती है। वह भी कुमारवनम में अपने भीतर ग़ायब हो जाती है।

पणिक्कर : वह ग़ायब हो जाती है। ये वो चीज़ है जो पाठ में कहीं पर नहीं कही गयी है। यह पाठेत्तर संकेत है जिसे

ऋग्वेद से लिया गया है, जो कालिदास के लिए भी प्रेरणा का स्रोत रहा है।

उदयन : यह पाठ में नहीं है। क्या आपको लगता है कि भारत की विभिन्न नाट्य परम्पराएँ और कुण्डलिनी जैसी उसकी आध्यात्मिक परम्पराएँ किसी रूप में आपस में सम्बन्ध रखती हैं? आपको क्या लगता है, ये दो अलहदा परम्पराएँ हैं या वे एक दूसरे में प्रवाहित होती हैं?

पणिक्कर : निश्चय ही दार्शनिक तत्त्व तो हमारी कलाओं में भरपूर है। लेकिन नाट्यशास्त्र की इस तरह की व्याख्या बहुत बाद में, नौवीं सदी के आसपास सामने आती है। उसके पहले तक अभिनय के हेतु और उसकी निष्पत्तियों को लेकर तर्क-वितर्क अवश्य ही चलते रहे थे। इसके बाद अभिनवगुप्तपादाचार्य आते हैं। दार्शनिक तत्त्व मौजूद तो पहले से ही था, लेकिन वह सचेत रूप से उच्चरित या अन्वेषित या व्यवहृत नहीं था। इसका अन्वेषण शायद उन्हीं ने किया। प्रत्यभिज्ञा उस चीज़ को पहचानना है जिसको हम पहले से जानते हैं। रससंकल्प अपने दार्शनिक स्तर पर तब पहुँचता है जब आपको आनन्द की अनुभूति होती है। मस्तिष्क के भीतर पाँच परतें होती हैं। मस्तिष्क की ये पाँच परतें हैं, अन्नमय कोष, प्राणमय कोष, मनोमय कोष, बुद्धिमय कोष और आनन्दमय कोष। कला को इन पाँचों कोषों को उत्प्रेरित कर सकना चाहिए। जब वह इन पाँचों कोषों को उत्प्रेरित करती है तभी वह ब्रह्मानन्द सहोदर में प्रतिफलित होती है, वह बौद्धिक मानसिक से परे है। बुद्धिमय कोष बुद्धिमय है, प्राणमय कोष अत्यन्त गौण है। मनोमय कोष मानसिक कल्पना है। ये सारे कोष मौजूद हैं लेकिन चरम अनुभव आनन्दमय कोष में ही होता है। इसको संगीत के सहारे आसानी से हासिल किया जा सकता है, उससे कहीं ज़्यादा जिसे किसी दूसरी कला के माध्यम से हासिल किया जा सकता है। यही वजह है कि रंगमंच में सक्रिय लोग इस प्रक्रिया को बिल्कुल भी विचारणीय नहीं मानते। जब तक तर्कशक्ति प्रभावी बनी रहती है, तब तक उसको हासिल नहीं किया जा सकता। लेकिन यहाँ यह इसलिए सम्भव है क्योंकि यहाँ हम उस अवस्था को सामने ला रहे हैं जहाँ आप पुरुरवा के भीतर कुण्डलिनी के उत्कर्ष का आनन्द ले सकते हैं। अगर आप सिर्फ़ पाठ का अनुसरण करेंगे और उसकी अव्यक्त ध्वनियों पर ध्यान नहीं देंगे, आप उस चीज़ का स्पर्श नहीं कर पाएँगे।

उदयन : आनन्दमय कोष का।

पणिक्कर : हाँ।

उदयन : क्योंकि तर्क या बुद्धि के रास्ते आप वहाँ नहीं पहुँच सकते।

पणिक्कर : तर्क-बुद्धि आपको उस कोष तक नहीं ले जा सकती। हमारी बातचीत जिस बिन्दु पर पहुँच गयी है, वहाँ मुझे डर लग रहा है। मैं वाक़ई भयभीत हूँ इस बात को लेकर कि हम नीचे की तरफ़ जा रहे हैं या ऊपर चढ़ रहे हैं!

उदयन : क्या तर्क-बुद्धि को थामे रखते हुए आप संगीत के सत्त्व का आनन्द ले सकते हैं?

पणिक्कर : बिल्कुल नहीं। उदाहरण के लिए एक माँ की अनुभूति को लें। उसका कोई तर्क नहीं होता। आप कह सकते हैं कि होता है क्योंकि उसने जन्म दिया है। ये सारी बातें कही जा सकती हैं, लेकिन मातृत्व की

अनुभूति इन सबसे बढ़कर है।

उदयन : हम आपके दूसरे नाटक कलिवेशम् पर बात करते हैं। आपने मुझे इसके बारे में थोड़ा-सा बताया था और मुझे लगा था कि यह ख़ासा जटिल नाटक है।

पणिक्कर : इस नाटक का विचार कथकलि के नलचरितम् से लिया गया था। लेकिन यह उसकी महज एक प्रतिलिपि नहीं है। यह नलचरितम् नाटक के भीतर से एक धागे की तरह गुज़रता है। इस नाटक को करने की प्रेरणा मुझे तब मिली जब मैंने कलिसन्तरणम् नामक कविता लिखी थी। कविता में उठाया गया सवाल यह है कि कलि से कैसे बचा जाए। मेरा एक दोस्त है, वासुदेवन नम्बूदरीपाद, जो कथकलि का बहुत ही प्रसिद्ध गुरु है। वह एक नम्बूदरी ब्राह्मण है, बहुत ही धर्मशील प्रकृति का व्यक्ति, जिसने नम्बूदरी गोत्र के निर्देशों का बहुत ही एकाग्रता से पालन किया था। वह सन्ध्या वन्दना और अन्यान्य मन्त्रोच्चार आदि अनुष्ठान किया करता था। वह और उसका बेटा, जो खुद भी एक कथकलि कलाकार है, हमारे बहुत करीबी हैं। छोटे-से समूह में हम साथ-साथ जापान की यात्रा पर गये थे जहाँ उसने मेरे नाटक ओट्टायन में लकड़हारे की भूमिका की थी। हम तादाशी सुजुकी के आमन्त्रण पर टोगामोरा समारोह में भाग लेने जापान गये थे। यह बहुत ही प्रसिद्ध समारोह है। वासुदेवन जहाँ कहीं भी जाता था, अपनी दिनचर्या में ब्राह्मणीय निर्देशों को उपलब्ध सुविधाओं के भीतर जारी रखता था। यहाँ तक कि उसके लिए जो भी जगह और जो भी पानी उपलब्ध होता, उसमें वह पूजा तक किया करता था। अगर किसी नैसर्गिक स्रोत से पानी नहीं मिल पाता था। वह उसको नल से ले लेता था। उसने कभी भी शराब नहीं पी, मांस नहीं खाया, और पूजा के दौरान वह किसी का स्पर्श नहीं करता था। इस तरह वह बहुत ही शुद्धतावादी और धर्मनिष्ठ था। कथकलि में वह कलि की भूमिका के लिए प्रसिद्ध था। कलियुग, अपनी तमाम बुराइयों के साथ, आज का समय है। कथकलि की नलचरितम् की कथा में कलि नायक, नल को अपने वशीभूत कर लेता है। नल दमयन्ती के विवाह में उपस्थित था, लेकिन उसी तरह तमाम दूसरे देवता, वायु, वरुण आदि भी गुपचुप उपस्थित थे। वे सब दमयन्ती से विवाह करने की इच्छा रखते थे, लेकिन नल उसको हासिल करता है। मेरे नाटक में मुख्य मुद्दा है कलिवेशम्, जिसमें कलि के चरित्र और उस अभिनेता के बीच का संघर्ष ध्वनित है जिसको यह नकारात्मक भूमिका निभानी पड़ रही है। यह संघर्ष धर्मनिष्ठ अभिनेता के मानस में घटित होता है। कलि अभिनेता को मदिरापान, स्त्रीगमन, जुआ और अन्त में हत्या के लिए उकसाता है।

उदयन : मुझे लगता है, यह महत्त्वपूर्ण है। इसमें यह संकेत है कि कलि युग, उथल-पुथल से भरा वह युग जिसमें हम रह रहे हैं, हमारे मानस में प्रवेश कर जाता है और व्यक्ति को एक ख़ास ढँग से आचरण करने को विवश कर देता है। अगर आप युग को अपने अस्तित्व में, उसको अपने तरीके से व्यवहार करने के लिए जगह दे देंगे, तो वह आपको छोड़ेगा नहीं।

पणिक्कर : इसीलिए मैं युग धर्मों की बात करता हूँ, बरक्स उनके जिनको आप स्थिर धर्म कहते हैं। किसी प्रच्छन्न अर्थ को विकसित करने के मामले में हमें रिहर्सल के दौरान मानवीय व्यवहार पर काम करना होता है, यहाँ तक कि प्रस्तुति के बाद भी हम रिहर्सल के दौरान उपपाठ (प्रदर्शन पाठ) में सुधार के लिए लगातार काम करते रहते हैं। मूल व्याख्या में बाधा डाले बग़ैर अर्थ के सूक्ष्म स्तरों पर परिवर्तन किये जाते हैं

इसलिए ये संचारियों में परिवर्तित होते हैं।

उदयन : आप अपने नाट्यालेख को भी उसी तरह बरतते हैं जिस तरह दूसरे नाट्यालेखों को बरतते हैं? मेरा मतलब है, आप अपने नाट्यालेख में भी उपपाठ की रचना करते रहते हैं?

पणिक्कर : मैं अपनी ही क़ैद से बाहर निकलने को लेकर बहुत चौकन्ना रहता हूँ! इस सन्दर्भ में हम उत्तररामचरितम् के अगले बिन्दु पर आ सकते हैं। क्योंकि उत्तररामचरितम् में दो सृजनात्मक मानस एक साथ मिलकर एक ही लक्ष्य के लिए काम कर रहे हैं। हालाँकि हमारे दोनों के लक्ष्य अलग हैं, हम एक व्यंग्यार्थ पर काम कर रहे हैं। यह ऐसा नाटक नहीं है जो प्रस्तुति की सम्भावनाओं के संकेत के बग़ैर लिखा गया हो। तब आप अपने दिमाग़ में एक मंच और प्रस्तुतिपरक स्वरलिपि रचते हैं। दूसरी तरह से काम करते हुए आप नाटक को इस तरह से भी लिख सकते हैं कि उसमें मंचीय सम्भावनाओं का कोई संकेत ही न हो। लेकिन यहाँ हम दोनों एक विशेष सन्दर्भ में काम कर रहे हैं। आपकी प्राथमिक चिन्ता उसके साहित्यिक पक्ष को लेकर है। साहित्यिक पक्ष, यानी उसे किस तरह बिम्बों, कविता या उन अलंकारों आदि के माध्यम से व्यक्त किया जाए जो काव्य-लेखन के लिए आवश्यक होते हैं। जब हम नाटक पर बातचीत करते हैं, मैं एक सामान्य स्तर पर हो सकता हूँ और हम अगले क़दम के बारे में सोचना शुरू कर सकते हैं। ये कहानी है। कहानी निश्चय ही वह पाठ है जो उस चीज़ से जुड़ा हुआ है जो वास्तव में घटित होता है। यहाँ पाठ के भीतर से बाद में जो कुछ भी निकाला जा रहा है वह भी एक रचनात्मक कर्म होगा। यहाँ तक कि यह लेखन भी अन्तिम रूप से व्यंग्यार्थ नहीं कहा जा सकता, लेकिन जब मैं रिहर्सल शुरू करता हूँ, तो यह मददगार होता है क्योंकि इसके सहारे ही हम नाटक के अभिनय-व्यापार के क्यों और कैसे को लेकर सोच-विचार, तर्क और चर्चा करते हैं, उसको रूप देते हैं। जबकि अगर मैं मूल उत्तररामचरितम् लूँ और उसको संस्कृत में करने लगूँ, तो मुझको बहुत सारा सम्पादन करना होगा जैसा कि हमने किया है।

कुछ दूसरे मामलों में मैंने यह भी पाया है कि मूल के कुछ हिस्से बहुत उपयोगी नहीं भी हो सकते। यहाँ भी ऐसे बहुत से हिस्से हैं। व्यंग्यार्थ के बहुत से स्तर होते हैं। एक स्तर वह है जिस पर हमने काम किया है। अब सवाल उठता है कि इसको आगे कैसे ले जाया जा सकता है और इस प्रक्रिया में इसको प्रभावशाली बनाने के लिए किन अतिरिक्त दृश्यों का समावेश किया जा सकता है। ये चीज़ें आगे आएँगीं। इनमें से कुछ की रूपरेखा तो हम बना ही चुके हैं। उदाहरण के लिए, चित्रपट दर्शन में मंच से गुज़रती हुई तीन तस्वीरों को लें। ये सब मूल पाठ में हैं लेकिन हमने उन्हीं तस्वीरों को लिया है जो हमारी इस प्रस्तुति के अनुरूप होंगी। हम दूसरी तस्वीरें भी ले सकते थे, जैसे कि गंगा, लेकिन इनको रखने की योजना हमने दृश्यों की अपनी कल्पना के अनुसार की थी। ये हमारा काम करने का ढँग है। मेरा ख़याल है, आजकल इस तरह कोई नहीं लिखता, इस दृष्टिकोण के साथ, जब तक कि इसकी विशिष्ट रूप से योजना न बनायी गयी हो जैसा कि हमने किया है। मान लीजिए कि आपने इस तरह का नाटक लिखा होता, यह ज़रा भी ध्यान में रखे बग़ैर कि आपको इसे अभिनेय बनाना चाहिए, तब पूरी चीज़ बिल्कुल ही अलग होती। उस हालत में मुझ जैसे निर्देशक को इसे फिर से अपने अनुरूप ढालना होता।

उदयन : दरअसल मैं लक्ष्य कर रहा था कि मैं जैसे ही कोई चीज़ लिखूँगा, तुरन्त ही आपके दिमाग़ में एक

निश्चित बिम्ब बनने लगेगा, एक निश्चित मंचीय चेष्टा रूप लेने लगेगी। आप तुरन्त ही उस वाक्य या सम्वाद को उस सन्दर्भ में रखकर देखेंगे, उसको परखेंगे, फिर आप उस सम्वाद को अपने मन में चरित्र को बोलते हुए सुनेंगे और इसके बाद आप उस सम्वाद की अनुगूँज उस बिम्ब के सन्दर्भ में सुनेंगे। इसके बाद ही आप उसको स्वीकार करेंगे।

पणिक्कर : आप इस पूरी प्रक्रिया को जो हमने अपनायी है अपनी पुस्तक में ले सकते हैं। यह किसी नाट्यलेखन कार्यशाला के लिए उपयोगी हो सकती है। इस पुस्तक में वह सारी सामग्री आ सकती है जिसे हमने अपने अनुभव से रचा है। वस्तुतः, जब मैं संगीत नाटक अकादमी का उपाध्यक्ष था, तो हमने एक ऐसी नाट्यलेखन कार्यशाला आयोजित करने के बारे में सोचा भी था। मैं कर नहीं सका क्योंकि मैं अकादमी को अपनी इस कल्पना और इसकी उपयोगिता के बारे में सहमत नहीं कर सका। यह कुछ ख़ास चीज़ों की माँग करती है। आप जैसे कवि और मेरे जैसे निर्देशक, जिनकी कुछ समझ हो, को मिलकर ऐसी कार्यशाला के लिए काम करना चाहिए। अगर आप अपनी स्वायत्तता पर अड़े रहते हैं और मैं अपनी पर, तो नाट्यलेखन कार्यशाला सम्भव नहीं हो सकती। इसे एक साझा उद्यम की तरह ही किया जा सकता है।

उदयन : वह तभी आगे बढ़ेगी जब दोनों पहिए साथ-साथ चलें।

पणिक्कर : व्यक्तियों और उनके तालमेल की खोज अकादमी के वश की बात नहीं है। यह चीज़ तो इसी तरह के निजी सम्बन्धों से और संस्कृति के प्रति प्रेम की ख़ातिर परस्पर अन्तर्क्रिया करने की भावना से ही निकलकर आ सकती है, काम के प्रति प्रेम के भीतर से।

उदयन : कोई भी सार्वजनिक संस्था इस तरह का काम अपने बूते पर नहीं कर सकती। जब एक निर्देशक और एक कवि या नाटककार आपस में साझा करेंगे और उसको रूप देंगे, तभी वे एक नया नाट्यालेख रच पाने में सफल होंगे या वे कोई पुराना नाट्यालेख ले सकते हैं (जैसा कि हमने उत्तररामचरितम् को लिया है) और उसको एक नया रूप दे सकते हैं।

पणिक्कर : आपने मेरे साथ मिलकर उत्तररामचरितम् का एक नाट्यालेख तैयार किया है। लेकिन हम एक प्रयोग कर सकते हैं। आपने जो कुछ भी मेरे साथ किया है उसको पूरी तरह से भुलाकर, अपने स्तर पर उत्तररामचरितम् का एक नाट्यालेख तैयार करने की कोशिश करें। आप इसे वैसे ही लिखें जैसे आप अपनी कविताएँ लिखते हैं। ऐसा ही मैं भी करूँगा। इसके बाद हम मिलकर दोनों कामों की आपस में तुलना करें। मुझे पक्का यक़ीन है कि एक ही नाटक के ये दोनों आलेख बिल्कुल भिन्न होंगे।

उदयन : आपने अभिनेताओं के प्रशिक्षण में कलरी के महत्त्व की बात की है, मेरा आपसे अनुरोध है कि आप अभिनेताओं के पूर्ण प्रशिक्षण के बारे में कुछ और बताएँ, क्योंकि दरअसल दूसरी बहुत-सी रंगमण्डलियों में अभिनेता बिल्कुल ही अप्रशिक्षित बने रहते हैं। मेरा मतलब है वे सिर्फ़ तभी प्रशिक्षित होते हैं जब वे कोई नाटक कर रहे होते हैं, लेकिन वह कोई प्रशिक्षण नहीं है। आप क्या सोचते हैं?

पणिक्कर : भारतीय रंगकर्म प्रशिक्षण के कम से कम तीन पक्षों की माँग करता है, वाचिक, आंगिक और सात्विक। इनके सम्बन्धित परिप्रेक्ष्यों में सात्विक का स्थान प्रशिक्षण में बाद में आता है। अभिनेताओं को प्रशिक्षण

देते हुए मेरी योजना सबसे पहले आंगिक का प्रशिक्षण देने की रही है, जो कि प्राथमिक है, क्योंकि अभिनेता सिर्फ़ अंग के माध्यम से, सिर्फ़ अपने शरीर के माध्यम से ही सम्प्रेषित करता है। शरीर के भीतर कई सारे तत्त्व होते हैं जो प्रगट होते हैं, जैसे कि शब्द। शब्द भी शरीर का अंग है, वह प्रगट होता है और भाव भी मस्तिष्क भी शरीर का हिस्सा है और वह भी शरीर के माध्यम से, अंगों के माध्यम से, ख़ासतौर से आँखों, चेहरे और भंगिमाओं के माध्यम से व्यक्त करता है। इसलिए आंगिक प्राथमिक आधारभूत अभिनय है जहाँ से हमें शुरुआत करनी चाहिए।

अभिनेता के आंगिक को अनुशासित करने की प्रक्रिया में मैंने एक तटस्थ कला के रूप में कलरी को लिया। तटस्थ इस मायने में कि यह न तो किसी कथा को कहने वाला कलारूप है और न ही कथकलि की तरह इसका कोई व्याकरण है। मेरा ख़याल है कि इस बारे में मैं पहले विस्तार से बता चुका हूँ। कथकलि का एक व्याकरण है, कुडियट्टम् का एक व्याकरण है। कुडियट्टम् में एक तकनीक विकसित कर ली गयी है। कथकलि की भी एक तकनीक है, जहाँ, मसलन, जब दो लोग या चरित्र आपस में युद्ध करते हैं, तो वे यह युद्ध एक स्थापित तकनीक के अनुसार करते हैं। यह करने के उनके पास एक या दो तरीक़े हो सकते हैं, या किसी ख़ास भाव के लिए उनके पास लय के एक या दो विन्यास हो सकते हैं। यही चीज़ है जो उसको एक कला-रूप बनाती है क्योंकि यहाँ उसको वैशिष्ट्य प्रदान करने में रूप एक महत्त्वपूर्ण चीज़ है। कलरी भी एक रूप है लेकिन उसको मैं एक व्याकरण के रूप में नहीं बल्कि वर्णमाला के रूप में देखता हूँ। हम कलरी के तत्त्वों को लेकर देहभाषा के माध्यम से सम्प्रेषण की एक वर्णमाला तैयार कर सकते हैं। कलरी आक्रमण और बचाव की एक पद्धति है। कलरी में शस्त्रों के उपयोग के तरीक़े की शिक्षा भी दी जाती है - वह भी प्रासंगिक है, क्योंकि युद्ध में अपने शस्त्र का इस्तेमाल करना भी महत्त्व रखता है, लेकिन इससे कहीं ज़्यादा, शिक्षा के उद्देश्य से, अभिनेता की तैयारी के लिए, देह का सन्तुलन बनाने के लिए हम कलरी का इस्तेमाल करते हैं। इससे अभिनेता समूची देह के बारे में, उसके सारे अंगों के बारे में सजग होना सीखता है।

उदयन : शरीर के हर अंग को अपनी आँख में बदलना।

पणिक्कर : आप जहाँ कहीं भी चाहें, आपको अपने शरीर पर अपनी एकाग्रता कायम करने में सक्षम होना चाहिए। यह प्राथमिक चीज़ है जो अभिनेता का निर्माण करती है। अभिनेता रंगमंच का प्रजापति है, नटैव प्रजापति को सिद्धान्त-वाक्य बनाया जा सकता है। 'कविरेव प्रजापति' साहित्य की एक प्रसिद्ध उक्ति है, साहित्य में कवि प्रजापति है। यहाँ रंगमंच में कवि प्रजापति है लेकिन वह नट के लिए, अभिनेता के लिए, अपना पद छोड़ देता है क्योंकि वह दर्शक के साथ अपना संवाद स्थापित करता है और यह काम वह अभिनेता के माध्यम से ही कर सकता है। एक कवि, या निर्देशक भी, दर्शक के साथ परोक्ष रूप से ही संवाद स्थापित कर सकता है, यह काम वे प्रत्यक्ष रूप से नहीं कर सकते बशर्ते कि कवि अपनी कविता का पाठ न कर रहा हो। लेकिन जब वह इस तरह पाठ कर रहा होता है, तो वह अभिनेता नहीं होता बल्कि सिर्फ़ पाठ को पढ़ रहा होता है। लेकिन अपनी कविता पढ़ते हुए वह निश्चय ही अपने विचारों आदि का सम्प्रेषण कर रहा होता है...वैसे ही जैसे जब आप शुरू में अपनी कविताएँ मुझे पढ़कर सुना रहे थे, तो आप अपने विचार मुझे सम्प्रेषित करना चाहते थे। उस हद तक आपको अपने अर्थ का वायु

निक्षेप के माध्यम से उच्चारण करना ज़रूरी होता है, एक अभिनेता के लिए दर्शक के साथ संवाद स्थापित करने के लिए स्पष्ट उच्चारण का बहुत महत्त्व होता है। इसी में वाचिक की संगति है।

जो मैं करता रहा हूँ वह कलरी के आरम्भिक अभ्यास की कोशिश है और उसके बाद मैंने उसमें उन चीज़ों को भी जोड़ा है जिनके बारे में मैं आपको पहले बता चुका हूँ। मैं गोपी के साथ काम कर रहा था, जो एक अभिनेता के रूप में कलरी में प्रशिक्षित हैं और इसके बाद हमने उस पद्धति पर काम किया जिसके सहारे अभिनेता को कलरी में प्रशिक्षित किया जा सके। हमने लय का निवेश करते हुए वाचिक से परिचय कराया जहाँ अभिनेता स्वयं ही लय में उच्चारण करता है और इस तरह वाचिक प्रगट होता है। हमने नाट्यशास्त्र की चारियों को और किसी हद तक गतिप्रचार जैसे कुछ अन्य अध्यायों से लेते हुए और उनको कलरी में समाविष्ट करते हुए कलरी को वाचिक के साथ संयोजित किया और इस तरह कलरी द्वारा तैयार की गयी वर्णमाला की सम्भावनाओं का विस्तार किया। इसी रूप में और ज़ाहिर है अभिनेताओं के प्रशिक्षण की पद्धति विकसित करने की प्रक्रिया में हमने रंगमंच तक कलरी का विस्तार किया है। कलरी की देहगतियाँ शुष्काक्षरों (अर्थहीन ध्वनियों) पर टिकी हुई हैं और हमने उनको भाव और इस तरह रस प्रदान किये हैं। सात्विक अभिनय का प्रशिक्षण कुछ इस तरह दिया गया : दो व्यक्तियों, दो अभिनेताओं में से एक दूसरे पर बोलों का उच्चारण करते हुए और देहगतियों या भंगिमाओं के माध्यम से आक्रमण करेगा, और दूसरे अभिनेता की भंगिमा बचाव की होगी। हमने व्यवहार में और अलग-अलग तरीकों से आक्रमण और बचाव की पद्धतियों का समावेश किया है जिन सबकी दिशा रंगमंचीय वर्णमाला विकसित करने की ओर रही है।

उदयन : हमने कला के संरक्षण को लेकर ज़्यादा बात नहीं की है। मुझे लगता है कि कलाएँ, विशेष रूप से प्रदर्शनधर्मी कलाएँ संरक्षण की प्रकृति पर बहुत नाज़ुक ढँग से निर्भर करती हैं।

पणिक्कर : कभी-कभी संरक्षण नुक़सान भी पहुँचा सकता है। हम इसी की बात कर रहे थे...केरल के संगीत के संरक्षण के बारे में। आप जानते हैं कि संगीत-रचनाकारों की एक त्रयी है : त्यागराजस्वामी, दीक्षितार और श्यामाशास्त्री। राजा स्वाति तिरुनाल भी वाग्येयकार थे। उन्होंने कुल ३२ वर्ष की आयु प्राप्त की थी। वे महान संगीत-रचनाकार थे। मैं हमेशा कहता हूँ कि उन्होंने जब कभी भी अपने पद्यों की संगीत-रचना केरल की अपनी शैली में की, वे बहुत खरे साबित हुए, और जब उन्होंने दूसरी कृतियों, जैसे कि कीर्तनों की रचनाएँ कीं, तो वे उक्त त्रयी में से किसी एक की नक़ल कर रहे होते थे। उनके मन में, निश्चय ही, इस त्रयी के प्रति गहरे सम्मान का भाव था, इसलिए इसमें उनकी कोई ग़लती भी नहीं थी। उनके काल में अधिकृत तौर पर केवल एक संगीत-पद्धति केरल में उपलब्ध थी और वह थी कर्नाटक संगीत की। केरल के संगीत की देशज पद्धति पूरी तरह से उपेक्षित थी। उसे प्रस्तुत करने वालों को कलाकार ही नहीं माना जाता था। इसलिए इस प्रकरण में ग़लत संरक्षण ने स्थानीय संगीत पर बुरा प्रभाव डाला क्योंकि उसको राजा का संरक्षण प्राप्त नहीं था और वह ऐसी चीज़ के प्रचार में लगा हुआ था जो हमारे क्षेत्र के बाहर से आया था। यह ऐसे वक्त में हुआ था जब देशज संगीत के लिए राजकीय संरक्षण बहुत ज़्यादा ज़रूरी था। इसलिए संरक्षण ग़लत दिशा भी ले सकता है।

इसी के साथ, राजा सभी कलाकारों को संरक्षण देता था। संरक्षण देना और संरक्षण न देना, दोनों

साथ-साथ चल रहे थे। सारे स्थानीय भाग्वतकारों को उसी राजा, स्वाति तिरुनाल, का संरक्षण प्राप्त था। लेकिन उसने किस चीज़ को संरक्षण दिया?उसका संरक्षण उस ज़मीन पर उपलब्ध संगीत की जीवित परम्परा को एक हैसियत प्रदान करने के लिए नहीं था। अभिनिवेश, यानी बाहर से आती हुई चीज़, हमें नीचा दिखाने की कोशिश कर रही थी, हमारी अपनी विरासत को विस्थापित करने की कोशिश कर रही थी। अभिनिवेश कहीं से भी हो, चाहे हमारे अपने लोगों के यहाँ से या करीबी पड़ोसी के यहाँ से...वह समान रूप से बुरा होता है।

उदयन : चाक्यारों के मामले में संरक्षण की व्यवस्था का क्या रूप रहा?

पणिक्कर : स्वाति तिरुनाल के बारे में मैंने जो कुछ कहा, वह उनका एक पक्ष है। उनके महान योगदानों के प्रति मेरे मन में गहरा सम्मान है, वे एक महापुरुष थे उन्होंने और उनके पूर्वजों ने, साथ ही कोचीन के दूसरे राजाओं तथा दूसरी छोटी रियासतों ने कथकलि समेत अलग-अलग कलारूपों को संक्षण दिया था। वेलाकलि को एक छोटे-से देश, अम्बलपुज़ा के राजा का संरक्षण प्राप्त था, जो वहाँ का भूमिपति था।

कभी-कभी, संरक्षक स्वयं एक संवेदनशील कलाकार होता है, जैसे कि अम्बलपुज़ा का देवनारायण था। वह कलाकार और संवेदनशील मन का व्यक्ति था, जिसकी वजह से वेलाकलि की युद्धकला विकसित हुई थी। इसलिए कथकलि को न सिर्फ़ राजाओं से बल्कि भूमिपतियों से भी संरक्षण की विशेष सुविधा मिली हुई थी। उनके अपने व्यवसायिक कलाकार भी थे। ब्राह्मण समुदाय नम्बूदरी जैसे ओलपमन्ना, इल्लम ने भी कथकलि को संरक्षण दिया था। चाक्यारों को पूरी तरह से मन्दिरों का संरक्षण प्राप्त था। मन्दिर को ज़मीन, निश्चय ही, राजाओं की ओर से मिली हुई थी। उनके पास कई-कई एकड़ ज़मीनें हुआ करती थीं, इसलिए चाक्यारों को भरपूर संरक्षण उपलब्ध था। यही वजह थी कि जब स्थिति में परिवर्तन हुआ और इन मन्दिरों की सारी प्रदत्त सम्पत्ति तथा ज़मीन उनके मूल स्वामियों के हाथों में चली गयी, हालात पूरी तरह बदल गये।

उदयन : तब संरक्षण का क्या हुआ?

पणिक्कर : भूमिपतियों का निजी संरक्षण नहीं रह गया। इस परिवर्तन का दुष्प्रभाव मन्दिरों को भी भुगतना पड़ा।

उदयन : लेकिन जब मन्दिर चाक्यारों को संरक्षण दे रहे थे, तब दरअसल यह पूरा समाज था जो उनको संरक्षण दे रहा था, सिर्फ़ शासकों का अभिजात वर्ग नहीं।

पणिक्कर : मन्दिर भी तो राजा के संरक्षण में था। अन्तिम रूप से अधिकार तो राजा के हाथों में थे। जहाँ तक हिन्दुओं का सवाल था, उनके पास मन्दिरों की सम्पत्ति के रूप में और अन्य रूप में जो कुछ भी था, वह अन्ततः राज्य और सरकार की सम्पत्ति थी और यह सरकार कोई और नहीं बल्कि राजा स्वयं था। राजा ही तो सरकार चलाता था।

उदयन : यानी चाक्यारों के लिए मन्दिरों के संरक्षण का मतलब था कि मन्दिरों ने चाक्यारों को वह ज़मीन दे रखी थी जो उनको राजाओं से मिली थी।

पणिक्कर : हाँ, ज़ाहिर है। उनको मन्दिर में कुछ काम करना होता था। कुछ मन्दिरों में तो आज भी चाक्यारों को प्रस्तुति देनी होती है।

उदयन : हमारे इस समय में संरक्षण की क्या सम्भावनाएँ आप देखते हैं?

पणिक्कर : स्थितियाँ बदल चुकी हैं, भूमिपति ग़ायब हो चुके हैं, समर्थन-प्रोत्साहन की व्यवस्था भी बदल चुकी है।

उदयन : बदल चुकी हैं, से आपका मतलब लोकतन्त्र के आ जाने से है?

पणिक्कर : और लोकतान्त्रिक सरकार ने अकादमियों जैसी संस्थाएँ स्थापित करनी शुरू कर दीं। बहुत तरह की योजनाएँ आयीं। समर्थन की एक नयी व्यवस्था अस्तित्व में आ गयी।

उदयन : लेकिन आज भी वह बहुत कमज़ोर है।

पणिक्कर : वह बहुत कमज़ोर है लेकिन कुडियाट्टम् के मामले हम उसको पूरी तरह से कमज़ोर नहीं कह सकते। कुडियाट्टम् को संगीत नाटक अकादेमी द्वारा स्वीकृत किये जाने का दुर्लभ सौभाग्य प्राप्त हुआ है। वे कुडियाट्टम् के समर्थन में आगे आये हैं। मुझे याद है, जब केशव कोठारी सचिव थे, वे केरल आये थे। ये सन् १९६० की बात है। उसके बाद से लगातार उन्होंने यहाँ के समूहों की, गुरुओं की पहचान की थी, हालाँकि यह संख्या घटती गयी थी। लेकिन तीन-चार गुरुकुलम् बहुत सक्रिय थे, मणि, इरिंजलकुडा और पैमकुलम। इसलिए उनकी पहचान की गयी। तब तक कलामण्डलम् आ गया। कलामण्डलम् ने कुडियाट्टम् और कथकलि विभाग शुरू कर दिये। यूँ देखा जाए तो कलामण्डलम् को पहले से ही सरकार का समर्थन मिलना शुरू हो चुका था। कलामण्डलम् की शुरुआत से ही वल्लथोल ने बहुत संघर्ष किया था। वह संक्रमण का समय था जब कोचीन, त्रावनकोर और मालाबार स्वतन्त्र इकाइयाँ थीं। वल्लथोल किसी तरह से कोचीन की सरकार से सहायता हासिल करने में कामयाब रहे थे।

उदयन : आधुनिक लोकतान्त्रिक व्यवस्था के भीतर आज रंगकर्म के लिए, मेरा मतलब है समकालीन रंगकर्म के लिए किस तरह का संरक्षण सुलभ कराया जा सकता है? हर तरह के रंगकर्म के लिए सिर्फ़ कुडियाट्टम् के लिए ही नहीं, जो मेरी राय में आज भी समकालीन है...

पणिक्कर : उन सभी को समुचित सहायता मिलनी चाहिए।

उदयन : नहीं तो कुडियाट्टम जैसी रंगपरम्परा एक अवशेष बनकर रह जाएगी।

पणिक्कर : यहाँ तक कि अकादमी से वित्तीय समर्थन हासिल करने के बाद भी और यूनेस्को से यह अनुमोदन हासिल कर लेने के बाद भी कि यह मनुष्यता की महान् अनोखी धरोहर है, इसके भविष्य को लेकर मेरी अपनी आशंकाएँ बरकरार हैं, जिसकी मुख्य वज़ह यह है कि कुडियाट्टम् के सारे महान उस्ताद जा चुके हैं। उनकी अनुपस्थिति में उसके परम्परागत वैभव को साधने की सामर्थ्य रखने वाला कोई भी सक्षम कलाकार आज नहीं है। चाक्यारों का समुदाय लगभग लुप्त हो चुका है। नयी पीढ़ी में ऐसे बहुत थोड़े से कलाकार हैं जो मानते हैं कि अगर इस कला की अपनी महान परम्परा के साथ न्याय करना है तो इसे इसके प्रशिक्षण को मजबूत बनाकर ही जीवित रखा जा सकता है। इसके कुछ प्रतिनिधियों में

अपारम्परिक क़िस्म के प्रयोगों में मुब्तिला होने की प्रवृत्ति है। उनका दृष्टिकोण सराहनीय हो सकता है क्योंकि यह कला से बाहर की दुनिया में हो रहे परिवर्तनों के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर चलने का तरीक़ा है। लेकिन यह प्रशिक्षण के सर्वाधिक अपरिहार्य पक्ष की क़ीमत पर नहीं किया जाना चाहिए। प्रयोगों का निश्चय ही स्वागत है, लेकिन कुडियाट्टम् जैसी अन्तरराष्ट्रीय महत्त्व की महान कला के संरक्षण और विकास के लिए इस पद्धति को उसकी समूची शक्ति, गतिशीलता और शुद्धता में सहेजे रखना अत्यन्त अनिवार्य है। अब यहाँ, तिरुवनन्तपुरम में, संगीत नाटक अकादमी नयी दिल्ली द्वारा स्थापित एक कुडियाट्टम् केन्द्र है। चूँकि यह संगीत नाटक अकादमी की एक इकाई है इसलिए अकादमी का उपाध्यक्ष होने के नाते मैं इस केन्द्र के शुरुआती दौर में इसका अध्यक्ष हुआ करता था। जब मैं इस केन्द्र में काम कर रहा था, मैंने समकालीन रंगकर्मियों, रंग आलोचकों और विश्वविद्यालयीन छात्रों को इसके प्रति आकर्षित करने की भरपूर कोशिशें की थीं। इनमें से कई लोग कार्यशालाओं और परिसंवादों में आये भी थे। इसका परिणाम काफ़ी उत्साहवर्धक था। वहाँ पर अभिनय को लेकर बहुत जीवन्त चर्चाएँ हुआ करती थीं। भागीदारी करने वाले अधिकांश लोगों को लगता था कि हमारे समय में रंगमंच के कलाकारों को अपनी परम्पराओं के प्रति सजग होना और उसके मूल्यवान तत्त्वों का रंगमंच में समाविष्ट करना आवश्यक है। जब मैं अकादमी में था, मैं हमेशा यह आग्रह करता था कि केरल में कुडियाट्टम् का केन्द्र स्थापित करने का उद्देश्य इसे भारतीय रंगकर्म के ऐसे विशद अनुसन्धान केन्द्र के रूप में विकसित करना है जो समूचे रंग जगत का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर सके और कुडियाट्टम् की विरासत तथा भारत की अनेक दूसरी सक्रिय प्रदर्शनकारी कलाओं में संरक्षित रंगमंचीय तत्त्वों पर केन्द्रित अनुसन्धानपरक योजनाओं पर काम करने के अवसर जुटा सके। हमारा कोई भी संस्थान ऐसा नहीं है जहाँ नाट्यशास्त्र के अध्ययन का कोई व्यवस्थित पाठ्यक्रम लागू हो।

उदयन : यह भारतीय रंगकर्म के अध्ययन के लिए बहुत अनिवार्य है। अगर इस पाठ को भारत में ही नहीं पढ़ाया जा सकता तो उसे फिर कहाँ पढ़ाया जाएगा?

पणिक्कर : इस तरह का अध्ययन तब तक पूरा नहीं हो सकता जब तक कि उस व्यावहारिक रंगकर्म को लेखे में नहीं लिया जाता जहाँ नाट्यशास्त्र के सिद्धान्तों को बरता जा रहा है। ऐसे बहुत से आदिवासी कलारूप हैं जहाँ आप नाट्यशास्त्र के नियमों को व्यवहार में परिणत होते देख सकते हैं। जब तक हम इनको अपने रंगमंचीय अध्ययन में शामिल नहीं करते तब तक हम कैसे यह दावा कर सकते हैं कि हमारा अपना एक रंगमंच है?

उदयन : जिसका अर्थ है कि उन कलारूपों के संरक्षण का एक रूप उनको जीवित करने और जीवन्त बनाने का हो सकता है और जो उनको शिक्षा व्यवस्था में समाविष्ट करके किया जा सकता है।

पणिक्कर : बिल्कुल।

उदयन : और तब वे रोज़मर्रा की स्कूली और महाविद्यालयीन शिक्षा का अंग बन जाएँगे, जिससे लोगों का उनके साथ जीवन्त सम्पर्क बन सकेगा।

पणिक्कर : उनको अतीत का मूल्यवान अवशेष बनकर नहीं रह जाना चाहिए। लेकिन हमारे देश के बहुत से

रंगअध्येता इस पर ज़ोर देते हैं कि हमारे पाठ्यक्रम में हर वर्ष एक कॉकेशियन चॉक सर्किल या कोई एब्सर्ड नाटक शामिल होना चाहिए। राष्ट्रीय नाट्य विद्याालय में यही हो रहा है।

उदयन : ये हास्यास्पद है।

पणिक्कर : यहाँ तक कि वे टैगोर का कोई नाटक नहीं लेते! भले ही टैगोर नाट्यशास्त्र की परम्परा का अन्तिम शब्द नहीं हैं, लेकिन जो भी परम्परा वहाँ है, उसका अध्ययन किया जाना चाहिए। उनको टैगोर का नाटक करना चाहिए, उनको धर्मवीर भारती का नाटक करना चाहिए। उनको कालिदास या भवभूति का नाटक भी करना चाहिए। उनको इन सबकी कोशिशें करनी चाहिए। लेकिन यह नहीं किया जा रहा है, सिर्फ़ यहाँ-वहाँ कभी-कभार कुछ कोशिशें होती रहती हैं।

उदयन : लेकिन वे भी पाठ्यक्रम का हिस्सा नहीं हैं। पाठ्यक्रम में मुख्यतः पश्चिमी नाटक शामिल हैं।

पणिक्कर : और सारी कल्पना पाश्चात्य रंगमंच के इर्दगिर्द ही सक्रिय है और इसको वे यथार्थवादी रंगमंच कहते हैं। आज सवाल यह है कि क्या प्रकृतिवादी-यथार्थवादी रंगकर्म ही एकमात्र रंगकर्म है या कि क्या सारा का सारा ग़ैर यथार्थवादी रंगकर्म कचरा है। इस तरह की प्रस्तुतियों में वे संगीत का इस्तेमाल करते हैं, वे देहभाषा का इस्तेमाल करते हैं, लेकिन बहुत दरिद्र ढँग से...क्योंकि उन्होंने इसको हमारी परम्परा से या नाट्यशास्त्र से ठीक से सीखा ही नहीं है।

उदयन : हाँ।

पणिक्कर : इसलिए हम जब तक नाट्यशास्त्र के पाठ पर ज़ोर नहीं देते (और इसको पूरा का पूरा सीखना ज़रूरी नहीं है, ज़रूरी नहीं कि आप पूरे के पूरे ३६ अध्याय ही सीखें), तब तक हम अपने रंगकर्म को विकसित नहीं कर पाएँगे। उनको कुछ आधारभूत अध्यायों को पढ़ाने की ज़रूरत है जिनमें आंगिक, वाचिक, सात्विक और आहार्य अभिनय के बारे में बताया गया है। उतना पर्याप्त है। आहार्य की वैसे वाक़ई ज़रूरत नहीं है, लेकिन चूँकि यह अन्य के साथ सम्बन्ध रखता है, इसलिए हमें इसको भी ठीक से सीखना चाहिए...

उदयन : ताकि वे अभिनय के इन चारों अनुषंगों के प्रति स्वतन्त्र रूप से सजग हो सकें ।

पणिक्कर : और फिर चारी और करण आदि हैं। उनको लगता है कि करण हमारा विषय नहीं है, नृत्यांगना पद्मा सुब्रमण्यम उनको देखेंगीं, ये एक अलग मसला है। चीज़ों को उनकी समग्रता में देखने की बजाय उनको अलग-अलग देखने की इस प्रवृत्ति ने हमारे रंगकर्म को बहुत नुक़सान पहुँचाया है।

उदयन : और दूसरे यह कि राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय को सारे क्षेत्रीय रंगकर्मों को प्रतिनिधित्व देना चाहिए।

पणिक्कर : वह नहीं दिया जा रहा है।

उदयन : क्योंकि राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय ने शुरू से ही हमारे क्षेत्रीय रंगकर्म के बारे में एक बहुत ही विचित्र-सी धारणा विकसित कर ली है, यह देश के बारे में ही एक ग़लत धारणा के साथ विकसित हुई है। अब

इसकी वजह से पश्चिमी रंगकर्म हमें प्रासंगिक लगता है, वह सार्वभौमिक रंगकर्म के रूप में प्रस्तावित है और हमारी क्षेत्रीय संस्कृति की बहुलता को पूरी तरह से नज़र अन्दाज़ कर दिया गया है।

पणिक्कर : बिल्कुल। इसको रेखांकित करिए। अगर आप भारतीय रंगकर्म के सिद्धान्तों को बनाये रखना चाहते हैं, आपको स्वीकार करना होगा कि सिर्फ़ अंचल ही हैं जो राष्ट्रीय की रचना कर सकते हैं। इसलिए हमारे पास विभिन्न क्षेत्रीय नाट्यरूपों का होना ज़रूरी है। हमारे पास क्षेत्रीय-राष्ट्रीय रंगमंच होने चाहिए, क्षेत्रीय-राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय होने चाहिए, जो दिल्ली में या जहाँ कहीं भी एक सर्वोच्च निकाय को रूप दें। दो क्षेत्रों के बीच, मसलन उत्तर-पूर्व और दक्षिण आदि के बीच, आदान-प्रदान सम्भव हो सकता है। मान लीजिए कि आप २० विद्यार्थी लेते हैं (२० सबसे बड़ी संख्या है जो हम पूरे देश से लेते हैं), हर क्षेत्र के लिए २० विद्यार्थी दीजिए और उन्होंने अपने क्षेत्र के रंगकर्म का जो भी अध्ययन किया है उस पर उनको आपस में सम्वाद करने दीजिए।

उदयन : ऐसे पाँच केन्द्र हो सकते हैं : उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम और मध्य।

पणिक्कर : भारत सरकार उनको समुचित सहायता उपलब्ध कराए। हमें इस राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय को इन पाँच क्षेत्रों में विभाजित कर देना चाहिए।

उदयन : उस सूरत में राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय अलग ढँग से और कहीं ज़्यादा कारगर ढँग से काम कर सकेगा।

पणिक्कर : एक सर्वोच्च निकाय के रूप में।

उदयन : वह क्षेत्रीय संस्कृतियों के बीच सेतु ढूँढ़ निकालने का काम करेगा...

पणिक्कर : उसका क्रम छठवाँ होना चाहिए! और मौजूदा वित्तीय संसाधनों को बहुत ज़्यादा बढ़ाने की भी ज़रूरत नहीं है, वैसे भी वे संसाधन बहुत ज़्यादा हैं या इन संसाधनों को दुगुना या तिगुना किया जा सकता है।

उदयन : और वह राशि इन क्षेत्रों को दी जा सकती है।

पणिक्कर : बिल्कुल। अभी उनका एक क्षेत्रीय केन्द्र बेंगलूरु में है। लेकिन अवधारणा बिल्कुल अलग है। वह राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय का कार्यालय है, उनका क्षेत्रीय कार्यालय, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय द्वारा नियन्त्रित। ऐसा नहीं होना चाहिए। उसको क्षेत्रीय परम्परा को जज़्ब करने, उसका नवीनीकरण करने में अधिक सक्रिय होना चाहिए और उस मार्गी पद्धति को भी, जिस पर नाट्यशास्त्र में चिन्तन किया गया है।

उदयन : इन केन्द्रों को स्वायत्तता दी जानी चाहिए।

पणिक्कर : स्वायत्तता होनी चाहिए और अन्त में सर्वोच्च निकाय के प्रति उनकी ज़िम्मेदारी सिर्फ़ अन्तिम परिणामों के मामले में होनी चाहिए। विद्यार्थियों को अन्तिम डिग्री आदि के लिए ही सर्वोच्च निकाय के पास जाना चाहिए।

उदयन : मतंग का बृहद्देशी अनेक देशियों की अवधारणा प्रस्तुत करता है, यानी उन क्षेत्रीय कलारूपों की जो एक दूसरे के साथ आपस में जुड़े हुए हैं। आख़िर वे एक दूसरे से असम्बद्ध कैसे हो सकते हैं?

पणिक्कर : नहीं, सवाल ही नहीं उठता। इसीलिए मैंने कहा था कि मान लीजिए कि वे केरल के लिए १० या २० छात्र देते हैं, उनको कोई तीन साल का प्रशिक्षण दिया जाए। अगर तीन साल दिये जाते हैं, तो वे डेढ़ साल या दो साल यहाँ रहकर पढ़ें और फिर उनकी अदलाबदली मणिपुर या असम या मध्यप्रदेश के छात्रों के साथ कर दी जाए। मसलन जब हम यहाँ के केन्द्र में प्रवेश दें, तो चालीस प्रतिशत लोग स्थानीय, यानी केरल के हों और ६० प्रतिशत लोग दूसरे क्षेत्रों के होने चाहिए। इन चीज़ों को इसी तरह बरता जाना चाहिए - सिर्फ़ तभी, जैसा कि आपने कहा, दूसरे क्षेत्रों को बाहर नहीं रखा जा सकेगा, तभी उसके सूत्र दूसरे क्षेत्रों के साथ भी जुड़े रह सकेंगे।

उदयन : भारत की प्रदर्शनकारी कलाओं के प्रशिक्षण और नीति में दो स्तरों पर विरोधाभास रहा है : एक, हम 'राष्ट्रीय' को एक न्यूट्रल क़िस्म की चीज़ मानकर चलते रहें और इस तरह पाश्चात्य सार्वभौमिक बन गया। ये स्थिति राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय की है। दूसरी तरफ़, हमने विभिन्न क्षेत्रीय परम्पराओं के बीच के सेतु खोजने की दिशा में समुचित काम नहीं किया।

पणिक्कर : बहुत सही बात है।

उदयन : हमें यह कर सकना चाहिए ताकि राष्ट्रीय नाट्य विद्याालय जैसी संस्था को विभिन्न क्षेत्रीय रंगपरम्पराओं के बीच सेतु तलाशने की ज़िम्मेदारी सौंपी जा सके।

पणिक्कर : इन सेतुओं को खोज निकालना एक झटके में सम्भव नहीं होगा, लेकिन इसे धीरे-धीरे पाठ्यक्रम में शामिल किया जा सकता है। इसीलिए मैंने कहा कि ६० प्रतिशत छात्र दूसरे क्षेत्रों के होने चाहिए और तब आप अदला-बदली कर सकते हैं।

उदयन : अँग्रेज़ों के भारत आने के पहले तक ये सारे क्षेत्र आपस में जुड़े हुए थे। सेतु वहाँ मौजूद थे। अगर हम भारत को भारतीय राष्ट्र बनाने में दिलचस्पी रखते हैं और अगर हम राष्ट्रीय रंगमंच की रचना करना चाहते हैं, तो हमारे पास इन सेतुओं का होना बहुत ज़रूरी है। हमारे पास इन क्षेत्रों के अन्तर्सम्बन्धित होने की धारणा का होना ज़रूरी है।

पणिक्कर : यह एक अच्छा परामर्श है। इसे सिर्फ़ समर्थन की उचित योजनाओं के माध्यम से ही हासिल किया जा सकता है और इन क्षेत्रीय नाट्य विद्यालयों को कुडियाट्टम्, कथकलि तथा ऐसे ही अन्य क्षेत्रीय नाट्यरूपों को सँजोने-सँवारने का काम करना चाहिए। इनको संग्रहालय की शोभा बढ़ाने वाली चीज़ों की तरह नहीं बरता जाना चाहिए। उनको रंगमंच, रंगसिद्धान्त और रंगव्यवहार उत्पन्न कर सकने की स्थिति में होना चाहिए। बिना इसके हम खुद को अपनी परम्परा से कैसे जोड़ सकते हैं? और कैसे हम आगे बढ़ सकते हैं और अपना भविष्य रच सकते हैं?

उदयन : अन्यथा हमारी पारम्परिक कलाएँ चुपचाप मर जाएँगी।

पणिक्कर : लेकिन इस बातचीत का समापन करते हुए हमें सर्वोत्कृष्ट की उम्मीद करनी चाहिए।

शंख घोष की चौदह कविताएँ

मूल बाँग्ला से अनुवाद : प्रयाग शुक्ल

शंख घोष की कविता बाँग्ला भाषा ही नहीं भारतीय साहित्य की निधि है। वह सहज है, प्रवासी है, पर बीच-बीच में उसमें ऐसी गाँठें भी हैं जिन्हें खोलने में आनन्द आता है और कविता-मात्र का विलक्षण स्वाद मिलता है। उसकी जड़ें गहरी हैं, बँगभाषा में, बँगभूमि में पर उसमें जो पल्लवित-पुष्पित होता है, वह मानो सबके लिए है, सिर्फ़ बंगभूमि वालों के लिए नहीं। उसमें भावना, ऐन्द्रियता और विचार का ऐसा सानुपातिक वेग है, जैसा प्रायः दुर्लभ ही होता है। इसीलिए एक ओर वह जहाँ सहज ही हमारे भावना-जगत को स्पर्श करती हैं, वहीं दूसरी ओर या कहें साथ-साथ, हमें वैचारिक स्तर पर आन्दोलित करती है। उसमें निजता का आग्रह है, पर सामाजिक और सार्वजनिक का निषेध नहीं है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर, जीवनानन्द दास, विष्णु डे, सुभाष मुखोपाध्याय, बुद्धदेव बसु आदि के काव्यजगत के बीच, शंख घोष की कविता अपना ही एक स्वर लेकर उपस्थित हुई थी और उस स्वर की गहराई बढ़ती ही गयी है। उनके कई कविता-संग्रह और गद्य-संग्रह प्रकाशित हैं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के 'साहित्य संसार' के वे गम्भीर अध्येता हैं और साहित्य के साथ ही कई कला-रूपों में उनकी गहरी दिलचस्पी है। स्वयं कविता को लेकर उनके गम्भीर चिन्तन-मनन की कुछ पुस्तकें हैं। शब्द-सम्पदा के प्रति वे अत्यन्त सचेत हैं और इसका गहरा भाव उन्हें है कि जो शब्द-समूह या शब्द-युग्म आदि दैनन्दिन व्यवहार में अब उपयोग में नहीं लाये जाते, उन्हें कविता में 'लाकर' कैसे एक अनोखी काव्य-सृष्टि सम्भव है और दैनन्दिन जीवन के मर्म को स्वयं जीवन और मृत्यु के मर्म को वे शब्द किस तरह नये अर्थों से संपृक्त कर देते हैं। एक नये 'बोध' से भी। कविता यों तो अपने आप में एक नैतिक कर्म है; पर उसके 'सचेत' नैतिक आग्रह किस प्रकार उसे एक विरल मानवीय धरातल प्रदान करते हैं, यह भी उनकी कविता हमें सहज ही बताती है।

एक बहुत अच्छे सुयोग से 'भारत भवन' के आग्रह पर शंख घोष १९८३ में भोपाल आये थे, कोलकाता से और मैं उनके साथ ही बैठकर उनके अनुवाद करने के लिए दिल्ली से भोपाल पहुँचा था। उस अवसर से जो अनुवाद सम्भव हुए थे वे राजकमल प्रकाशन की प्रतिनिधि कविताओं वाली शृँखला में प्रकाशित हुए थे। उस संग्रह से भी यहाँ कुछ अनुवाद प्रस्तुत हैं। पर, कुछ अन्य कविताओं के अनुवाद बिल्कुल हाल ही में किये गये हैं, जिनमें 'काव्य तत्त्व', 'दुर्योधन', 'बोका', 'कवि धर्म', 'मुख ढकता विज्ञापन' आदि शामिल हैं। यह भी एक संयोग ही है कि उदयन वाजपेयी के आग्रह पर जब ये अनुवाद करने बैठा तो मैं भोपाल में ही था, जहाँ अब मैंने एक घर बना लिया है, और जहाँ हम महीने-दो महीनों पर कुछ दिनों के लिए आते हैं। शंख घोष उन आधुनिक बाँग्ला कवियों में भी हैं, जिनकी कुछ काव्य पंक्तियाँ अब सहज ही बाँग्लाभाषी समाज की स्मृति का हिस्सा हैं और बहुतों को लोकोक्तियों/ मुहावरों की तरह 'कण्ठस्थ' हैं, इन्हीं में 'मुख ढेके जाय विज्ञापने' और 'लाइने छिलाम बाबा' जैसी पंक्तियाँ शामिल हैं।

-अनुवादक

मौन की संकेत पताका

एक बार एक बच्ची ने एक पहेली पूछी- वह क्या चीज़ है जो एक भी शब्द बोलने पर गायब हो जाती है ?यह काफ़ी कठिन सवाल था और है।

दार्शनिक किर्केगार्द ने कुछ और ज़्यादा कठिन प्रश्न उठाया था, जब उन्होंने अपनी डायरी में लिखा- एक नश्वर मनुष्य को क्या यह अधिकार है कि वह अन्य मनुष्यों से ईश्वर की चर्चा करे ? क्योंकि तब, उसने सोचा, उस असीम के साथ जोड़नेवाला सूत्र टूट जाता है और मौन ही वह सूत्र है। लेकिन क्या शब्द ही मौन को नहीं रचते ?

हम कितना चाहते हैं कि अनौपचारिक अभिव्यक्ति से ही काम चला सकें, जो सहज और फिर भी आत्मीय हो, स्पष्ट और सरल। यहाँ तक कि शब्द भी बिल्कुल आड़े न आयें और आधुनिकता के प्रपंच से रहित हों। पर कुटिल प्रवृत्तियाँ आज के समाज पर शासन करती हैं, पाखण्ड का फण और

फैल रहा है– इन दिनों शायद ही कोई दूसरे की आँखों में झाँकता हो। हर कोई लोगों के बीच परेशान चेहरा पहनना चाहता है, जैसे किसी अनजाने समूह में हो। ऐसे में क्या हो कविता की प्रासंगिकता और भूमिका ?

हर थका देनेवाले दिन के बाद रात अवसाद और व्याकुलता लेकर आती है। शब्द और शब्द, केवल। जैसे कभी कहीं मौन नहीं था– कभी भी– जैसे कभी किसी हाथ ने दूसरा हाथ नहीं छुआ था। वह मौन, जिसकी खोज में तुम थे, हवा में ग़ायब हो गया है और क्या तुम्हें इसकी बिल्कुल परवाह नहीं! हमारी आँखें नहीं मिलतीं, हम सिर्फ़ एक-दूसरे का चेहरा देखते हैं। और चूँकि हम यह बात ठीक से जानते हैं, हम अपने चेहरों पर झूठी-सच्ची कहानियों का लेप चढ़ाकर घूमना पसन्द करते हैं, जैसे लड़कियाँ शाम का मेकअप करती हैं। पर आत्म-आख्यान कैसे सम्भव हो?ऐसा लगता है, लेप की बजाय मुखौटा बेहतर है। क्या किसी कविता के लिए एक बहुउद्देशीय मुखौटे से बेहतर कुछ हो सकता है– अपने को भीड़ में छुपाने के लिए ? हम चाहते हैं कि अपने को हरे शब्दों और कोमल जीवन के पर्दे के पीछे छुपा सकें। इसीलिए कविता मौन है और खामोश कविता हमें रचनी है। सिर्फ़ शब्दों को ही यह आता है कि मौन का तत्त्व धारण कर लें, बिना आध्यात्मिक जगत से रिश्ता तोड़े। इसके लिए छुपने की असहनीय जगह से जी-तोड़ कोशिश करनी होगी। असह्य, क्योंकि आदमी के लिए सबसे कठिन है, गुमनामी सहन करना। लेकिन चूँकि आज मनुष्य ने कवि को ढँक लिया है, कवि के पास इसके अलावा कोई चारा नहीं है कि वह आदमी का आखिरी उत्तराधिकार स्वीकार करे और उसे ढोये। गुमनामी की सीमाएँ पार करते ही एक जीव दूसरे का नैकट्य पाना चाहता है। दूसरी तरह से, सहनशीलता अपनी सीमा पार कर जाती है– लेकिन उस असह्य अन्धकार में भी वह दिनचर्या का एक मुखौटा रखे रहेगा, वह पहचाना नहीं जायेगा और कोई अँगुली उसकी ओर नहीं उठेगी– 'देखो! वह कवि आ रहा है!' सिर्फ़ तब मौन कविता जन्म लेगी।

क्या ऐसा नहीं लगता कि जीवनानन्द से हम कोई काम की बात नहीं सीख पाये? उनकी कविताई, लिबास की सारी शिल्पगत बुनावटें और कशीदाकारी, आज की कविता के शरीर पर सज्जाएँ बन गयीं। चीज़ें– सम्मानजनक लेकिन अनिवार्य– जो उनकी कविताओं में बहुत निजी थीं, समकालीन लेखन में प्रदर्शनी के लिए सजा दी गयी हैं, जैसे किसी अजायबघर में कफ़न जमा रखे हों। उनका ख़ामोशी का पारदर्शी परदा कहाँ गया? वही चीज़ थी उनकी कविता में जिसकी पूजा की जानी चाहिए थी।

हर चीज़ इतनी सस्ती हो गयी है। हम चिंगारियों की तरह यहाँ-वहाँ छिटक गये हैं और सड़कों के बीचों-बीच बिखर रहे हैं। क्या हम अब अभिमान और उदासीनता का ही आह्वान नहीं कर रहे ? हमारी अलिप्तता कहाँ गयी ? आज हम उद्दण्ड हैं बिना स्वाभिमान के, उदासीन हैं बिना अलिप्तता के, कृपण हैं बिना शामिल हुए। हम डरते हैं कि यदि हम सड़क की भीड़ में घुसे तो फेंक दिये जाएँगे। इसीलिए हम एक बालकनी में बैठे हैं, जो दूर है और फ़ैशनेबल है, काग़ज के फूल की तरह। लेकिन हमें इस ऊलजलूल हड़बोंग के बीच में रहना है और वहाँ उस शोरगुल में मौन की पताका उठानी है। कवि उस पताका की खोज में हैं।

क्या हम अपनी जननी, प्रकृति की ओर लौटें? लेकिन प्रकृति आपको कभी नहीं छोड़ती, उससे तो दिन-रात लड़ना होता ही है। आप उसके पास नहीं लौट सकते, वह इतनी वाचाल है। सिर्फ़ मानवीय हृदय मौन को अनुभव कर सकता है, सिर्फ़ उसके रिश्तों में मौन के बीज हैं, जैसा किर्केगार्द ने जाना था। बीज, जो सिर्फ़ तलाशते हैं। जीवन का सत्त्व– जीवन। मैं जीता हूँ, मैं हूँ– जब शब्द साँसों के आवर्तन में गूँजते हैं, सिर्फ़ तब, शब्दों का तोता एक अन्तहीन मौन की तरफ तिरना चाहता है। शायद अब कोई ऐसी कविता का कुछ पता दे– उत्कट धर्म की मौन, अनायास कविता, लगभग मृत्यु से मिलती-जुलती। डाली से तोड़ा जाकर जब कोई फूल किन्हीं हाथों में आता है, तो क्या इस पूरी प्रक्रिया में उसके गहरे मौन की सत्ता भी नहीं होती ? उंगारेती (इतावली कवि) क्या ऐसी ही एक अनिर्वचनीय निर्गुण सत्ता की खोज में नहीं रहे ? फूल जो सिर्फ़ मौन का दूसरा नाम है, जिसे उन्होंने मौन से बीना था, सिर्फ़ मौन में फेंक देने के लिए– जहाँ आवाज़ अपनी सुगठित ध्वनि पाती है, जहाँ गति निर्बाध रूप से अपने अन्दर विराम वहन करती है– कैसे हमें वह 'अव्यक्तता' मिले जो शब्द में वास करती है ?

शंख घोष

बात के भीतर बात

सब तो नहीं, पर, खोजते हैं बहुतेरे बात के भीतर बात
भितरघात।
भूल गये हो तुम सहज भाषा। आओ वर्षा के इस जल में
स्नान करें।
कितने मुक्तिपथ मैं जल के भीतर
देखो ज़रा सोचकर। फल की चिन्ता में सोचते
शुभ-अशुभ की बैठे हो बैठे हो बैठे हो बस।
तो फिर क्या नहीं है भाषा तुम्हारी अपनी कोई
गरिमामयी? क्यों आज हर क्षण अपने ही विरुद्ध
बोले जा रहे हो इतना?

दुर्योधन

नारायण नहीं, मिली है ऐना नारायणी मुझे,
जितनी दूर जाने को कहता हूँ जाते वे (सैनिक)
आते नहीं करने को कोई कुतर्क। करते हैं
भावहीन बस केवल ध्वंस।
कहता यदि दिन है कहते हैं दिन।
कहता यदि रात तो कहते हैं रात।
बारात बारात।
ऐसी बारात का जोर है भारी
मुट्ठी के भीतर ही काँपता हंस।
हिमाचल के शिखरों से सागर की दूरी तक
फैलाता हूँ ध्वंस और त्रास।
क्या आता-जाता है मेरा
बचे या बचे नहीं, कहते हैं जिसको इतिहास।
खेतों में मेरे ही धर्म का बोया है धान
सुई की नोक के बराबर भी माटी मैं दूँगा नहीं,
किसी को,
जान लें समस्त जन, लें इतना जान-
मैं ही हूँ। शिखर आज, मैं ही हूँ देश,
मैं ही समाज।

बोका

(बोका : बुद्धू। मन्दबुद्धि। जिसको कोई ज्ञान-भान न हो।)

कोई हठात् यदि हो जाये बोका
किसी दिन यह तो वह जान नहीं
पायेगा खुद। वह यदि समझ पाता इतना
तो कहलाता फिर तो वह समझदार ही।
तो फिर तुम बोका नहीं हो, बात भला
ली तुमने कैसे यह जान।

काव्य तत्त्व

कही भी कल यह बात?
सम्भव है। मानता नहीं हूँ, पर, आज।

कल जो था मैं, वही मैं हूँ आज भी
दो इसका मुझको प्रमाण।

मनुष्य नहीं है शालिग्राम
कि रहेगा एक ही जैसा जीवन भर।

बीच-बीच में आना होगा पास
बीच-बीच में भरेगा उड़ान मन।

कल कहा था पर्वत शिखर ही है मेरी पसन्द
सम्भव है मुझे आज चाहिए समुद्र ही।
दोनों में कोई विरोध तो है नहीं
मुट्ठी में भरता हूँ पूरा भुवन ही।

क्या होगा कल और आज का योग कर?
करूँगा भी तो कहूँगा वह बहुत बाद में।
अभी तो रहा हूँ मैं सोच यही
फुर्ती यह आयी कैसे विषम ज्वर में ।

मुख ढकता विज्ञापन

खड़ा अकेला दिख लाने मुख
तुमको यहाँ गली में,
आ जाता पर, आड़े अपने
मुख ढकता विज्ञापन

आँखों ही आँखों में होतीं
बातें ले अपनापन,
पर, जुलूस में, विज्ञापन में,
झुलस रही हर चितवन।

कौन आँकता कैसे किसको
लेना जान कठिन है।
हाँ! मेरा वह बड़ बोलापन
जन्मभूमि हा! मेरी!

बिका प्रेम वह आँखों वाला,
संग-साथ-गाढ़ापन
निऑन बत्तियाँ छेंक रही हैं,
निजता का स्पन्दन।

यहीं अकेली रही गली में
होंठों की हर बात,
क्लान्त मुखौटा मेरा केवल
झूल रहा विज्ञापन!

यौवन

रात और दिन के बीच तैरती उड़ती हुई चिड़िया की परछाईं
आतीं याद शेष मुलाकातें बातें तुम्हारी हमारी जब-तब।

कवि धर्म

तुम्हारा नहीं है कोई और धर्म
जड़ को पकड़े रहने के अलावा
तुम्हारा नहीं है कोई और धर्म
छाती पर कुठार सहने के अलावा।
पाताल-मुख खुल जाये हठात् यदि
तो फैला देना दोनों हाथ दोनों ओर
तुम्हारा कोई धर्म नहीं और, इस
शून्यता को भर देने के अलावा।

इस श्मशान से उस श्मशान तक
किया हुआ टुकड़ा टुकड़ा तुम से ही
शरीर यह, दुःख के समय में लेता पहचान-
हल्का नहीं है जीवन, बुनता है जरी,
कोई नहीं धर्म तब तुम्हारा और
प्रहर जोड़ गूँथता अलावा त्रिताल के,
मद्यपान करके तो माताल होते सभी
कवि ही है निज के बल पूरा माताल।

मूल बाँग्ला में यह कविता 'त्रिकाल' शीर्षक से है
माताल : शराब पीकर धुत रहने वाला

भूमध्यसागर

मिले हम अचम्भा एक
ठण्डे प्रदेश में
पश्चिम प्रवासी मैं, पूर्व की प्रहरी तुम
भिन्न दिशाओं से, भूमध्यसागर में
हाथों से मिले हाथ
गहरे तक काँपकर
बोलीं तुम-
'यह क्या
सजे हो किस भेष में नसेड़ी तुम
कैसी कलंक-रेखा हाथों में तुम्हारे यह
देह छिन्न, ध्वस्त, त्रस्त, लुटीपिटी भयभीत,
कितने दिन गये बीत
आये क्यों इस तरह ?
स्तब्ध रातों में
जिसे रचती रही थी मैं
यह तो नहीं थी देह वह!
आये क्यों इस तरह ?
किस धूसर तट पर मिले हैं हम,
इस गहरी ठण्ड में
पश्चिम-विलासी तुम, प्रहरी मैं
पूरब के दुःख की'

ठीक, मुझे भान है,
हुआ एक अरसा, हम सम्मुख सहज होकर
बैठ नहीं पाये, पर
श्यामल तुम्हारा मुख प्रेरक है आज भी
चंचल है दृश्य-पट समुद्री हवाओं से
मेरुदण्ड घेर मैं फिरता लिये दावानल
फेंकता हूँ जाल भी समुद्र में,
छोड़ो हाथ
देखो बस उठी हुई तर्जनी
भूमध्यसागर की - नीलाभ
पूरब-पश्चिम नहीं, देखो दक्षिण-जगत
उठता धधकता जो वनों को भेद
कौंधती अकल्पनीय अद्‌भुत दुनिया तीसरी
होता नत, उतर यहाँ
सम्मुख मैं उसके
भर उठती मेरी भी आँखों में ताँबई धरती
भले ही कलंकित हों हाथ ये,
उगती है फिर भी हमारी ही देह से दुनिया
भविष्य की!
डरो मत कलंक से,
दाह यह करेगा भस्म सारे कलंकों को
अग्नि-परीक्षा नहीं जानी हमने
इससे बड़ी कोई
हम-तुम कुछ भी नहीं, केवल हैं
एक झपक पलकों की
देश-देश जाते हम-आते हैं बार-बार
अंजुरी में रखते जो मिलजुलकर प्रेम हम
वह तो नहीं है केवल जलांजलि,
बीज वह-जन्माता हममें से अद्‌भुत तृतीय भुवन
तभी तो तभी तो हम मिले हैं,
सागर के तट पर इस!

जैसे कि अगरुधूप, उड़ जाता मेघाछन्न दिन वैसे
वैसे ही
देह आज, देखो तुम्हारी भी, अविच्छिन्न सागर के रंग से
मिले हैं तभी तो हम जैसे अचम्भा एक, भूमध्यसागर में
प्रेम यह हमारा न धूमिल न म्लान कभी,
तिल-तिल गलाते हुए, उड़ते दिनों में भी
बच जाता
अगर भ्रष्ट होऊँ मैं, तुम तो बढ़ाओ यह
आर्द्र हाथ अपना
व्याप्त करो मुझे और देश-देशान्तर में
गहरे और गहरे और
आँखों में भरने दो श्यामल तृतीय-भुवन
लहराता सागर-सा

लौटें हम-समय हुआ- होकर सहज, सादे,
आओ सँभालो अब हाथों में दुखियारा
अपना संसार यह,
लौटें हम, शेष हुआ, दिन देखो,
भूमध्यसागर में।

कतार

बढ़ो ज़रा आगे को आगे को
सरको कुछ, खड़े हुए वहीं-वहीं देर हुई
खोलो यह कुण्डली, सरको कुछ!
मानुष, माछी, अन्धकार, मानुष,
माछी अन्धकार
सर्पिणी कतार, कुछ सरको तो आगे को!

जल के संग सम्मुख हो स्रोत के
मुख के संग सामने प्रकाश के
मानुष, माछी, अन्धकार सरको कुछ
सरको कुछ आगे को, आगे को सरको...

वृष्टि

दुख के दिन मेरे तथागत हैं
सुख के दिन मेरे भासमान
ऐसी वर्षा के दिन रह-रह रस्ते-रस्ते
दिन, ध्यान मृत्यु का अपनी, मन में आता है
जल भरे खेत सुख के फिर से
दुख-धान भरे फिर एक बार
ऐसी वर्षा के दिन लगता- है नहीं जन्म का मेरे
कोई अन्त कहीं।

भाषा

झुका हुआ बैठा हूँ, सड़क-किनारे मैं, हाथ में कटोरा,
आते-जाते लोग, बस आवाजाही ही, नहीं टेक गहरी
रेखा ही जल भरती-सूरज की, इसमें बस।
सम्बल न दूसरा छोड़कर हवा को, जो सहलाती आँखें
हवा यही आँखों में तुम्हारे और उसके भी और उसके
फिर क्योंकर आपस में इतना अचीन्हापन।
लिपटा पड़ा धूल में, सूखी पर आँखें क्यों
क्यों गहरी नहीं टेक ?क्योंकर हथौड़ी आलोक की
बज उठती टन्न-से, शून्य में ?क्यों फिर झुकाये सिर
बैठा प्रतीक्षा में, मैं अविचल, हूँ इतनी देर से
आँखें हैं इधर-उधर घूमतीं, पथरीली आँखों में उठते बवण्डर
नाम नहीं लोगों के जानता, न ही भेद करुणा औ' क्रोध में
यहाँ तक कि छूता नहीं हूँ मैं नीम या शिरीष को, डर लगता
डर लगता बोल कहीं उठें नहीं वे भी अँग्रेज़ी में।

भीड़

'उतरना है? उतर पड़िए हुजूर,
उतारकर चर्बी कुछ अपनी यह।'
'आँखें नहीं हैं ?अन्धे हो क्या ?'
'अरे तिरछे हो जाओ, ज़रा छोटे और।'

भीड़ में घिरा हुआ,
कितना और छोटा बनूँ मैं,
ईश्वर!

रहूँ नहीं अपने जितना भी -
कहीं भी,
खुले में, बाज़ार में, एकान्त में ?

हुई थी उस दिन वृष्टि
हुई थी अनन्त वृष्टि उस दिन, रास्ते-बीच
रात थी- मध्य रात, गया था घर टूट
पेड़ों से लिपटी हवाएँ थीं, रुपहली थी जल-प्रभा
पत्तों पर सुपारी के।

और था अन्धकार-हृदयरहित अन्धकार
नौका थी धँसी हुई, माटी में, जमा था जल
उसकी छाती पर।
पेड़ों की भीगी हुई छाल के भीतर की
रिक्ति थी स्तब्ध ?
धरती आकाश ने बाँधा था झड़ी का पुल
तना था वायवीय जाल जीवन और मृत्यु बीच!
काँपते उतरे थे अतीत, अवसाद औ' अभाव
पत्थर ही रहे मुँह मेरा सफेद, अच्छा है-
कहा था पत्थर की प्रतिमा ने।
वृष्टि थी कि फिर भी थी चारों ओर लगातार
वृष्टि नहीं, चाही थीं लेनी पोंछ
बूँदें वे, शेफ़ाली, टगर, गंधराज फूलों ने,
चाहा था लेना पोंछ जीवन का शेष अपमान सब
घर रहित देह के, तत्पर उड़ चलने के म्लान
उस, इशारे पर!

हुई थी वृष्टि छाती पर, उस दिन
अनन्त- थी मध्य रात।

शरीर

घट रहा है कुछ भीतर, शरीर में, डॉक्टर
मालूम नहीं ठीक
उसको बुलाते किस नाम से
आईने में दिखती है आँखें भारी मुझको
झुकी हुई नीचे को
पीड़ा से भरी हुई पेशियाँ
भीतर से उमड़कर झलकता रंग हल्दिया
लेकिन है वह तो आभा गोधूलि की? पड़ती है
दिखायी क्या रक्त में गोधूलि ?
रक्त में दिखायी पड़ती क्या गोधूलि ?
अच्छा है यह ?
कुछ हो रहा है घटित भीतर शरीर में, डॉक्टर
नाम नहीं उसका मालूम।

सभी एक आश्रय की बात सोच रहे हैं

शंख घोष से बातचीत

हमारे इस समकाल को सभी दृष्टियों और सभी अर्थों में शंख घोष पकड़े हुए हैं। उन्हीं के शब्दों में-'जड़ों के द्वारा जकड़े हुए' हैं। इसीलिए कवि शंख घोष का कोई सीमित, कोई विशेष परिचय नहीं है। उनकी सत्ता ही उनका परिचय है। बाँग्ला कविता में लगभग साठ वर्षों में उन्होंने एक ऐसा पथ तैयार कर दिया है, जिस पर स्वस्थ्य यात्री ही चल पाते हैं और जिस पथ पर सामान्य उजाला जलता रहता है। वे समालोचना में भी ज्ञान चर्चा की एक ऐसी दिशा ले आये हैं जो सर्वजनबोध्य है। जब कोई संकट आया है, तब उन्होंने बड़ी संवेदनशीलता और लगाव के साथ उसका प्रत्युत्तर दिया है। कैशोर्य में ही जिन्होंने अपना देश खो दिया था, ऐसे कवि शंख घोष से यहाँ बातचीत कर रहे हैं-सुमन्त मुखोपाध्याय। इस बातचीत का विषय है लिखने की बात, जीवन की बात, घर और बाहर की बात। -सम्पादक

सुमन्त : अधिकांश कवि या लेखकों के लिखना शुरू करने के समय आठों प्रहर लिखने वाले लेखक-बन्धु उसके आसपास आ जाते हैं, वे एकसाथ लिखते हैं, तर्क-वितर्क करते हैं, अपनी रचनाएँ छापने को देते हैं, फिर एक दिन ऐसा आता है, जब वे सब अपनी-अपनी राह पकड़ कर कहीं और चले जाते हैं।

शंख : लेखक बन्धुओं का वैसा कोई दल? जिन दिनों लिखना शुरू किया एकदम वैसा मेरे जीवन में कुछ नहीं हुआ। इस विषय में थोड़ा अपने को छिपाए रखने का मेरा स्वभाव था। आत्मविश्वास के साथ किसी को अपनी रचना दिखाऊँगा, उनके साथ तर्क-वितर्क करूँगा, ऐसा न तो मेरा प्रयास था, न मुझमें इतना साहस था।

प्रश्न : तो फिर प्रारम्भ में आपको किससे प्रोत्साहन मिला? किसी-न-किसी को तो आप अपनी रचनाएँ दिखाते होंगे?

उत्तर : स्कूल अथवा कॉलेज के एकदम प्रारम्भ में दो-एक अत्यन्त घनिष्ठ मित्रों को, जो स्वयं नहीं लिखते थे, कभी-कभी अपनी रचना पढ़ाता था, वे केवल उत्साहित करते थे ऐसा ही नहीं है, वरन् इससे भी आगे बढ़कर मेरी वाहवाही भी करते थे। यहाँ तक कि छपाने के लिए भी दबाव डालते थे।

प्रश्न : शुरुआत में आपने कविता के तीन खाते जला डाले थे, ऐसा क्यों किया था? इस तरह की घटना मैंने कहीं पढ़ी थी?

उत्तर : हाँ, कुछ दिन पहले मैंने इसकी चर्चा की थी। छात्रावास के एक मित्र के साथ मान-अभिमान के कारण वह घटना हुई थी। उसने मेरी एक कविता पढ़ी थी, फिर उसने उसे सभी के सामने ज़ाहिर भी कर दिया था। उसने सभी से उसकी चर्चा क्यों की? बस इसी नाराज़ी के कारण वह काण्ड घट गया था। वह मेरा

बचपना था और क्या? हाँ, मैं निरा बच्चा ही तो था उस समय। यह मेरे सोलहवे वर्ष की घटना है।

प्रश्न : किस छात्रावास में? रामकृष्ण मिशन के?

उत्तर : हाँ, रामकृष्ण मिशन के छात्रावास की बात है। आजकल वह ब्रेलघरिया में विशाल क्षेत्र में फैला हुआ है, उसका बहुत ही छोटा आकार था, उस समय अर्थात् देश विभाजन के समय में मानिकतेला के हरिनाथ डे रोड पर वह था। वहाँ पर मैंने दो वर्ष बिताए थे। वह एक नये किस्म की अभिज्ञता थी।

प्रश्न : तभी ऐसा कहने का मन होता है कि एक नीति-नियम का पालन करते हुए आप बड़े हुए हैं। क्या आपके परिवार का अनुशासन भी खूब कठोर था? जब-तब किसी के साथ कहीं भी घूमने की स्वतन्त्रता थी?

उत्तर : मिशन में एक नियम था, यह तो ठीक ही है पर उसको कितना मानकर चलता था, यह अलग बात है। किन्तु हमारे परिवार का अनुशासन वैसा कोई कड़ा नहीं था। जब-तब, चाहे जिसके साथ, यत्र-तत्र घूमने में प्रत्यक्ष रूप से कोई बाधा नहीं थी। जो पिछड़ जाने वाले लड़के होते हैं अथवा जिनके साथ घुलने-मिलने से ऐसा सोचा जाता था कि लड़के बिगड़ जाते हैं, मेरा अधिकतर घूमना-फिरना ऐसे ही लड़कों के साथ होता था। बाबा से कोई-कोई इस बात को लेकर शिकायत भी किया करते थे, तो भी बाबा उनकी बात पर कोई अधिक ध्यान नहीं देते थे। शाम के बाद अधिक देर हो जाने पर घर लौटने पर दो-एक बार डाँट नहीं सुनी है, ऐसा नहीं है, वह भी माँ से। सिर्फ़ एक बार बहुत नाराज़ होकर बाबा ने उग्र दण्ड देना चाहा था किन्तु अन्त में फिर दिया नहीं था।

प्रश्न : फिर आपको शृंखला जैसे बन्धन का मामला किस प्रकार याद आ रहा है? कहीं बन्धन था, अथवा कहीं मुक्ति थी?

उत्तर : अब सोचकर देखता हूँ तो शायद मुक्ति ही अधिक थी और बन्धन वह तो वैसा था ही नहीं। शुरुआत में उसकी कोई ज़रूरत भी नहीं थी। मेरे बाबा हेड मास्टर थे और हमारे निवास स्थान से स्कूल पहुँचने में अधिक-से-अधिक दो मिनिट लगते थे । इसके बाद भी कक्षा छह से पहले मुझे स्कूल नहीं भेजा था बाबा ने। मोहल्ले के मित्र लोग दस बजे के भीतर स्कूल चले जाते थे, वे शाम के पहले मिल नहीं सकते थे। मेरे पास खाली समय रहता था, चाहे जहाँ घूमने, चक्कर लगाने की मुझे खूब छूट थी। वह मुझे अच्छी भी लगती थी और बुरी भी लगती थी। घर में भी नियमित रूप से पढ़ने की कोई व्यवस्था नहीं थी। अन्त में एक दिन माँ के सामने काफी आरजू-मिन्नत करने के बाद मुझे भर्ती होने की अनुमति मिली। बाबा इस पर नाराज़ ही हुए थे। आज भी यह रहस्य मेरे लिए अस्पष्ट है। वह जो दस वर्ष की उम्र तक शृंखलाहीन जीवन बिताना पड़ा, उस प्रभाव से मैं आज भी उबर नहीं सका हूँ।

प्रश्न : 'करुण रंगीन पथ' को पढ़कर ऐसा लगता है आपकी अनेक ज़िदों को सहारा देने वाली थीं आपकी माँ। एक बड़े परिवार के बीच में आपने उन्हें किस रूप में पाया था?

उत्तर : सिर्फ़ स्कूल के जीवन में ही नहीं, कॉलेज जीवन में भी माँ से अनेक अनुचित ज़िदें किया करता था। आय थोड़ी थी किन्तु परिवार बड़ा था, कभी-कभी माँ कहती थी-हमारा रावण जैसा परिवार है और उन दिनों एक स्कूल के प्रधान अध्यापक का बहुत ज़ोर लगाया तो कुल वेतन था-एक सौ रुपया मासिक।

घर-गृहस्थी चलाने में माँ को कितना खटना पड़ता था, यह तो मैं देखता ही था। इसके बाद भी मामूली कारण से एक अधेली अथवा एक रुपया के लिए उसके पीछे-पीछे घूमता रहता था, पता था कि वह कुछ देर बाद अपने आँचल के खूँट से कुछ-न-कुछ निकालकर ज़रूर दे देगी। भाई-बहनों के बीच सम्भवतः यह अन्याय मैं ही सबसे अधिक किया करता था। माँ सवेरे से ही रसोई के काम में लगी हुई हैं, सभी को बुलाबुला कर खिला रही हैं, किन्तु इसी के साथ दोपहर में आराम के समय लेटे-लेटे कोई पुस्तक पढ़ रही हैं, अथवा शाम को कभी-कभी किसी के भी साथ सिर्फ़ घूमने के उद्देश्य से निकल जाती थीं। कभी-कभी कोई सभा सुनने के लिए। दूसरी ओर, बाबा दिन-रात स्कूल के काम में व्यस्त रहते थे, वे परिवार की कोई खबर नहीं रखते थे और घर-गृहस्थी की कोई ख़बर न रखना ही ठीक काम है, एक तरह से माँ का यही विश्वास था। यह जो स्कूल अथवा पढ़ने-लिखने में ही बाबा का समय बीत जाता था, इससे उसमें एक तृप्ति का ही भाव था। कभी-कभी वह कहती थी, परिवार की कोई खबर नहीं रखते हैं, किन्तु मैं लक्ष्य करता था कि इस लांछना से उसके मुख पर एक तरह के गर्व का ही भाव फूट उठता था, इसी गर्व के साथ वह पुरा-पड़ोसियों से कई बार कहा करती थीं, 'हमारे बच्चे तो अपने आप एक ग्लास पानी लेकर भी नहीं पी पाते हैं।' सुनकर हम लोग भी सोचते थे कि यह कोई अच्छा काम है।

प्रश्न : वाणारिपाड़ा, पाकशी और सुपारीवृक्षों की कतार से घिरी मामा बाड़ी- आपकी रचनाओं में एक देश के रूप में बार-बार आती हैं। कलकत्ता और भारतवर्ष वहाँ अनेक सवालों से क्षत-विक्षत हैं अगर वही देश आपको आश्रय देता है, आपकी रचनाओं में विस्तार पाना चाहता है तो इन दो विरोधी ध्रुवान्तों की खींचतान में कहाँ है आपका देश-आँख जहाँ पर केन्द्रित कर देने पर, पैर जहाँ एक पहचाने स्पर्श को खोज लेते हैं?

उत्तर : तुम्हारे इस प्रश्न के प्रारम्भिक अंश में साहित्य पढ़ने की एक मौलिक समस्या छिपी हुई है। वह है, जिन सब कहानी-उपन्यासों का आत्मकथात्मक आधार है, ऐसा समझा जाता है, उनमें कितना और कौन-सा लेखक के निजी जीवन का अंश है, इसे हम कैसे जान सकेंगे? 'श्रीकान्त', 'त्रिदिवा' अथवा 'आत्मप्रकाश' से कोई भी घटना अथवा संवाद अथवा कोई पंक्ति उठाकर क्या हम कह सकते हैं कि वह शरतचन्द्र अथवा गोपाल हालदार अथवा सुनील गंगोपाध्याय के अपने जीवन की कोई कथा है? दरअसल इसी जगह एक जटिलता निर्मित हो जाती है। सुपारीवन की कतार से घिरा जो घर, वह है तो किन्तु उस पुस्तक के किशोर नायक के मामा का घर है, मेरे मामा का नहीं है। मेरी मामाबाड़ी तो चाँदपुर में है, ढाँका के पास और सुपारीवन तो वाणारीपाड़ा में हैं, वरीशाल जिले में मेरे बाबा, काका और पितामह का घर है। मेरी रचनाओं में चाँदपुर कोई अधिक नहीं आता है और यह ठीक भी है कि बाकी दोनों स्थान बार-बार आते हैं। उनमें भी पाकशी के प्रति खिंचाव कुछ ज़्यादा ही है, क्योंकि सात से लेकर पन्द्रह वर्ष की उम्र तक पद्मापार के-अक्षरशः पद्मापार के उस छोटे से धुर देहाती अंचल में मेरा समय अधिक बीता है। वहीं पर मेरी पढ़ाई-लिखाई हुई है। पीछे वन, सामने नदी, दाहिने-बायें मैदान में फैले हुए गाँव, इन्हीं के बीच बड़े होने का सुअवसर मुझे मिला था और वह समय तो सभी के लिए सर्वाधिक ग्रहण करने का, सर्वाधिक संचय करने का, सर्वाधिक किसी में मग्न रहने का होता है। पाकशी को मैं इसीलिए नहीं भूल पाता।

आश्रय देना और छोड़ देना चाहने में थोड़ी कहीं एक सरलीकरण की प्रवृत्ति भी है। वह ठीक यह है कि

देश विभाजन के बाद जो विस्थापित होकर आए थे, शुरुआत में उनकी शारीरिक और मानसिक स्थिति में काफ़ी परिवर्तन घटित हुआ था। एक तरह से उनका अस्तित्व ही संकट में पड़ गया था, अनेक तरह की कटु बातें उन्हें सुननी पड़ती थीं, शुरुआत में उस धक्के को सहन करना बहुतों के लिए कठिन हो गया था किन्तु वही तो एकमात्र तस्वीर नहीं है। इस तरफ के असंख्य मनुष्यों की सेवा और त्याग भी अगर उसके साथ न जुड़ा होता, आश्रय का भी यदि निश्चित संकेत न होता तो इतने बड़े बोझ को क्या सम्हाला जा सकता था? आश्रय और निराश्रय की तुमने जो चर्चा की है, वह असल में एक दार्शनिक समस्या है। अतीत को स्पर्श करते हुए, वर्तमान को समझने की बात, 'मैं' के विकसित हो उठने की समस्या, इन सब वास्तविक अभिज्ञताओं में उस समस्या की जड़ें अवश्य बनी रहती हैं और किसी रचना में ये सब अवश्य संक्रमित होती हैं, प्रतीकात्मक रूप में।

प्रश्न : आपकी रचनाओं में महिलाएँ कहती हैं, हम आज किसी भी क्षण एक स्वतन्त्र 'मैं' के रूप में विकसित नहीं हो पायी हैं, ऐसा क्यों? आपने अपनी दीदी-बहनों को किस रूप में पाया है?

उत्तर : खूब गहरी आत्मीयता के साथ पाया है। पूजा के समय देश के घर में वाणारिपाड़ा में-और कई बार अन्य स्थानों में भी- चचेरे, फुफेरे भाई-बहनों के साथ मिलकर हम सब-धमाचौकड़ी मचाया करते थे। इक्कीस-बाईस लोग तब इकट्ठे हो जाते थे किन्तु उनमें भाइयों की संख्या बहुत कम थी। उन जमा लोगों में अधिक संख्या तो बहनों और दीदी लोगों की थी। खेलकूद, ज़िद, गर्जन-तर्जन सब कुछ चलता था उनके साथ। किन्तु एक चीज़ चौंकाने वाली थी, भाई लोग जितने स्वाधीन थे, उतनी वे लोग नहीं थीं। यहाँ तक कि पढ़ाई-लिखाई के मामले में भी भेद-भाव था। स्वाधीनता के पहले उन्हें स्कूल-कॉलेज में पढ़ने का सुअवसर बहुत कम मिलता था और उसके बाद तो एक-एक कर चारों ओर हमें देखने को मिलता है, कई तरह से उनका अटका हुआ जीवन। इस समाज में जैसे अपनी तरह से बनने का, हो उठने का उन्हें कोई अधिकार नहीं है।

प्रश्न : 'यमुनावती' से शुरू कर यहीं उस दिन लिखी, 'एक छोटी किशोरी ने कहा था', तक आपकी कविताओं में कई उम्र और अनेक घरों की स्त्रियाँ अपनी बात कहती जाती हैं। कभी-कभी उनकी आवाज़ ही कविता की आवाज़ हो जाती है। कवि के साथ उनका कोई भेद नहीं रह जाता है। क्या बचपन से ही आपका यह मन तैयार होता जा रहा था? क्या इसका कोई इतिहास भी है?

उत्तर : अभिज्ञता अपने आप में ही एक तरह का इतिहास है, इसके अलावा इतिहास कुछ नहीं होता है। अवश्य यदि न कहा जाये कि बहनों को इस तरह से देखना भी एक तरह का प्रच्छन्न इतिहास है। एक-एक समय, एक-एक यथार्थ अभिज्ञता के धक्के से उठ आती हैं कविताएँ। अनेक उम्र और अनेक स्तरों की महिलाएँ जो मेरी कविताओं में कई बार अपनी आवाज़ उठाती हैं, पन्द्रह वर्ष पहले तक उसे मैंने उतना सचेतभाव से लक्षित भी नहीं किया था। आजकल की नारीवादी भावना के फैलने के फलस्वरूप जो सब नयी समालोचना हो रही है, उसी से यह मेरी नज़र में आया है। इस तत्त्व को लक्षित कर मैं तो अवाक् रह गया।

प्रश्न : तुलनात्मक रूप से आपके समकालीन, कृत्तिवास के कवि या गद्य लेखक विशेष रूप से पुरुषों की दृष्टि और मन को लेकर हाज़िर हो गये थे। यही उनकी ज़ोर दिखाने की जगह थी। उनकी रचनाएँ क्या आपके

सामने कोई प्रश्न नहीं उठाती हैं?

उत्तर : नहीं, क्योंकि, वही जो कहा कि शुरुआत में मैं उस दृष्टि से पढ़ता ही नहीं था कविता। कविता में संकटग्रस्त स्त्रियाँ आती हैं या नहीं, सचेतभाव से इसे मैं लक्षित ही नहीं करता था। आज के छोकरे अपनी तरह ही लिखेंगे, अपनी ही अभ्यस्त दृष्टि से यह मानो मान ही लिया गया है। स्त्रियों की बात स्त्रियाँ ही कहेंगी, मानो ऐसा ही नियम है। फिर भी, उन स्त्रियों की बात, एकदम आत्म-स्वातन्त्र्य के साथ कहना, शक्ति का चक्र और शक्तिशाली के द्वारा पिसना, उसे इस दृष्टि से लक्षित करना, आर्तनाद और प्रतिवाद, ये सब चीज़ें हमारी मित्र कविता सिंह की रचनाओं में सबसे अधिक व्यक्त होती थीं। कहा जा सकता है, कविता ही जैसे हमारे मन में धीरे-धीरे एक सजगता लाये दे रही थी। यह चेतना उसकी रचनाओं में तो थी ही, अस्सी और नब्बे के दशक में उसकी दो-एक व्यक्तिगत चिट्ठियों में भी पुरुष मित्रों द्वारा मिले अनेक तरह के आघातों, अवहेलना और उपेक्षा की बात की भी हमें भनक मिलती है। दूसरों की कविताओं के बारे में मेरे मन में जो प्रश्न नहीं था, वह प्रश्न दीर्घकाल तक कविता सिंह की कविताओं में बना रहा था। बाद में, नारीवादी आन्दोलन के साथ उसका नाम सहजता से जुड़ जाता है।

प्रश्न : कविता लिखने के क्षेत्र में अगर कोई निश्चित दृष्टिभंगी तैयार हो जाए- जैसे नारीवादी, दलित, कमज़ोर, कम्युनिस्ट आदि विचारधारा यदि किसी भी स्थिति में जड़ होकर रह जाती है तो क्या उससे कविता को क्षति नहीं पहुँचती है? फिर किस तरह से मारी इवान्स, अरुण कोल्हटकर और सुभाष मुखोपाध्याय इतनी असाधारण कविताएँ लिखते हैं?ये सब तो आपके भी प्रिय कवि हैं?

उत्तर : सुभाष मुखोपाध्याय को छोड़कर अन्य दो कविजन भी मेरे प्रिय कवि हैं, यह तुमने कैसे जाना?मेरा तो ऐसा वक्तव्य नहीं है। हाँ, तुम्हारा सोचना ग़लत है, ऐसा मैं नहीं कह रहा हूँ। वरन् इससे विस्मयकर बात यह है कि यहीं कई मास से कोल्हटकर का 'द बिट्रेड एण्ड अदर पोयम्स' नामक मृत्यु के बाद प्रकाशित उनका संकलन सदा मेरे साथ ही रहता है। मारी इवान्स भी मेरी पसन्द की कवि हैं। किन्तु सुभाष मुखोपाध्याय अथवा कोल्हटकर तुम्हारे द्वारा ऊपर बताये गये किसी भी विशेष तबके के भीतर क्या अपने को सीमित बनाए हुए थे? 'पदातिक' से लेकर 'चिरकुट' तक क्या कोई कह सकता था कि यह कम्युनिस्ट विचारधारा से पोषित कविता है। उदाहरण के लिए 'फूल को खिलने दो' भी। किन्तु उसके बाद क्या, वैसी कोई निश्चित दृष्टिभंगी ध्यान में रखकर उनकी कविता पढ़ी जा सकती है? बिना कहे ही, अपनी देखी हुई वह घटना मुझे याद आ जाती है, जब सोमनाथ लाहिड़ी जैसे सभी अर्थों में एक श्रद्धेय व्यक्ति ने सुभाष मुखोपाध्याय की सद्यः प्रकाशित एक कविता पढ़कर 'परिचय' पत्रिका को फाड़कर दूर फेंक दिया था अथवा उनके अनन्य मित्र देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय ने उन पर आरोप लगाते हुए कहा था, 'ये सब आजकल क्या लिख रहे हो सुभाष!' दृष्टिकोण के किसी विशेष तबके में जो अटके नहीं रहते हैं, उन्हीं में सुभाष मुखोपाध्याय आते हैं और यही है उनकी शक्ति। अथवा कोल्हटकर को लीजिए। उन्होंने स्वयं कहा था, 'हमारी जो कुछ विरासत है, उस सब पर हमारा अधिकार है।' उस कवि को किसी एक वर्ग में कैसे रखा जा सकता है? सभी चीज़ों का उन्हें इतिहास चाहिए, धर्म से लेकर रोटी बनाने तक का सारा इतिहास। नामदेव, तुकाराम के वे अनुवाद भी करना चाहते हैं और उन्होंने यह भी कहा है कि इस देश की सबसे अच्छी कई कविताएँ एलियनेशन अर्थात् अकेलेपन की चेतना से लिखी गयी हैं, ऐसी

कविताएँ भक्ति काव्य में भी हैं, दलित काव्य और लोकगीतों में भी हैं अथवा मान लीजिए कविता सिंह ने जिस सूत्र को पकड़ कर यह प्रश्न उठाया था, उनकी सारी कविताओं को क्या नारीवादी विशेषण के द्वारा घेरा जा सकता है?ऐसा तो नहीं लगता। दृष्टिकोणगत एक-एक परिभाषा के द्वारा आलोचकगण अपनी सुविधा के लिए कवि को एक-एक वर्ग में डालना चाहते हैं। कोई भी सच्चा कवि उन खाँचों को कभी स्वीकार नहीं करना चाहता है। एक अच्छी कविता इन खाँचों से सदा मुक्त रहती है।

प्रश्न : साहित्य पढ़ते-पढ़ते अच्छी कविता, बुरी कविता को लेकर क्या कोई विश्लेषण निर्मित होता रहता है?

उत्तर : अच्छी और बुरी कविता यह तो लगा ही रहता है किन्तु उससे अच्छेपन के विषय में कोई सैद्धान्तिक विश्लेषण का सिलसिला निर्मित हो जाता है, इतने दूर की बात मैं नहीं कह सकता। कभी लगता है, एक अच्छी रचना में लेखक की एक मानसिक स्वच्छता विद्यमान रहती है और रहता है विश्वव्याप्त किसी बोध का एक इशारा। जीवन को, सम्पूर्ण जगत् को नयी दृष्टि से देख पाने की एक क्षमता । उससे जीवन अथवा उस जगत के बारे में कोई सिद्धान्त मिलता है, शायद नहीं, एक प्रश्न जगा देना ही बड़ी बात है। उस प्रश्न को लेकर हमारे मन में एक आलोड़न तैयार कर देना, उसके प्रति एक अभिमुखता तैयार कर देना, असली बात तो यही है। उसमें अनेक प्रकार की उठापटक रहती है, अनेक काटछाँट होती है, सब समय एक प्रकार की मसृणता, चिकनापन नहीं भी रह सकता है। किन्तु मसृणता और स्वच्छता दोनों एक ही बात नहीं हैं। रवीन्द्रनाथ ने ज़रूर जीवनानन्ददास को एक बार लिखा था कि उच्च स्तर की कविता में एक शान्तिचिन्तना, एक स्वच्छता, एक प्रशान्ति रहती है। जीवनानन्द ने इस बात का विरोध किया था। इस प्रसंग में मैं जीवनानन्द की बात मानता हूँ। साहित्य के भीतर एक प्रकार के विक्षोभ और अशान्ति के तुमुल आघात की बात उन्होंने संगतिपूर्ण दृष्टि से ही कही थी।

प्रश्न : अपनी रचनाओं के सृजन के समय इन सब आदर्शों की बात क्या आपको याद रहती है?

उत्तर : ना, ना। एकदम नहीं। किसी चीज़ को आदर्श के रूप में निर्धारित करने के बाद तो मैं लिख ही नहीं पाता। फिर इसके अलावा, उच्च श्रेणी के साहित्य की यह सब बातें जब चल रही हैं, तब अपनी रचनाओं का प्रसंग उठाने से एक भ्रमपूर्ण महत्त्व का अपराध घटित हो जाएगा। याद तो आ रहा है ना, इस शब्द का एक बार प्रयोग धूर्जटि प्रसाद ने किया था। थोड़ी देर पहले जो चर्चा हो रही थी, उस विषय में उन्होंने भी कहा था कि मनुष्य को लेकर ही साहित्य है, मतभेदों की कट्टरता से मनुष्य छोटा हो जाता है। फिर इस दृष्टि से अपने इस भ्रमपूर्ण जातीय गौरव से बचने के लिए उन्होंने उपाय बताया था, थोड़ा आत्मविश्लेषण और निराशावाद। 'आमरा और ताँहारा'- 'हम और वे' पुस्तक में यह सब दिया हुआ है।

प्रश्न : आत्म-विश्लेषण और आत्म-समालोचना करने के बाद यह कब आत्म-पीड़ा में बदल जाती है?

उत्तर : यह हिसाब लगाकर कहना कठिन है। फिर भी इस बात को हल्के रूप में कहने की इच्छा हो रही है, आत्म-समालोचना में जब मन खुशी-खुशी प्रवृत्त होता है, तब हमें यह निश्चय ही समझना होगा कि यह आत्म-पीड़न तक पहुँचा जा रहा है। तितिक्षा में एक तरह का आनन्द होता है ना, एक तरह का आत्म-सन्तोष? आत्म-पीड़ा हमें निष्क्रिय बना देती है और आत्म-समालोचना, अगर सचमुच की आत्म-समालोचना की जाए, मानसिक रूप से उस पीड़ा से पार जाने की सम्भावना उससे निर्मित हो

जाती है, नया प्रयास करने की प्रत्याशा भी।

प्रश्न : 'वट पाकुड़ेर फेना'- 'बरगद और पाकड़ का फेन' पुस्तक की फुटकर रचनाओं में आपने बार-बार अनजाने और अनाम मंगलकार्यों की बात कही है, जिसमें वर्तमान समय का भी एक आशावादी चरित्र तैयार हो जाता है। इसी के साथ, 'एखन सब अलीक'- 'अब सब मिथ्या है', अथवा 'अविश्वासेर वास्तव', 'अविश्वास का यथार्थ' जैसी पुस्तक में समकाल को लेकर हताशाबोध की हमें भनक मिलती है। आप समय को किस रूप में जानना चाहते हैं?क्या उसका कोई चरित्र भी है?

उत्तर : सम्भवतः तुम यह जानना चाहते हो कि वर्तमान समय को मैं हताशाजनक मानता हूँ अथवा उसमें आशा-आश्वासन की भी कोई जगह है? शुरू में ही बता दूँ, जीवन में आशा-निराशा जैसी इन दो कोटियों के विभाजन के प्रति मेरी कोई सहमति नहीं है। कई बार तो वे एक साथ और एक ही मन में जुड़ी रहती हैं। जैसे उदाहरण के लिए हालफिलहाल की घटना लीजिए। बंगाल के कुछ विस्तृत अंचल बाढ़ के कारण ध्वस्त हो गये। लोगों के दुःख का कोई अन्त नहीं था। काफ़ी जगह और दीर्घ समय के लिए उनकी रक्षा, उन्हें पुनः जीवन देने और पुनर्वास की तुरन्त व्यवस्था करना बहुत ज़रूरी था। ऐसे संकट में मनुष्य क्या करता है? अन्य सब कुछ भूलकर जिसकी जितनी सामर्थ्य होती है, उसके द्वारा एकसाथ काम में कूद पड़ता है। किन्तु हमने देखा कि सरकार तैयार थी ही नहीं, साथ में वह दिशाहीन भी थी। अन्य अनेक लोग सरकार पर दोषारोपण में लगे हुए थे। राह चलते राहत संग्रह के काम में सदा दलबन्दी, सन्देह और विषवमन तो लगा ही रहता है। तब इन सब चीज़ों के बारे में सोचकर एक भयंकर निराशा की भावना तैयार हो सकती है कि ऐसी मुसीबत में पड़े पीड़ित मनुष्यों के दुर्भाग्य की अपेक्षा हमारे लिए सबसे बड़ा हो जाता है नाना प्रकार का यही फुटकर हिसाब-किताब। किन्तु निराशा के उस एक ही क्षण में जब हम यह देखते हैं कि राज्य के इस कोने से, उस कोने से स्वयंसेवकों के कितने दल अपने द्वारा जुटाये मामूली सम्बल को लिए हुए राहत कार्य में सहयोग देने चले आ रहे हैं, जब हम देखते हैं रास्ते की कोई महिला दूर से आकर जीर्ण-शीर्ण वस्त्र पहने अपने आँचल के खूँट को खोलकर राहत कार्य में अपना सर्वस्व दे देती है, जब हम देखते हैं पीड़ित और आर्त व्यक्ति इस भयंकर समय में भी अपने लिए आई राहत सामग्री न लेकर पहले दूसरे की ओर बढ़ा देता है, तब मन एक नयी आशा, नये भरोसे से भर उठता है। यह सब एक ही समय में चलता रहता है। एक ही दिन में ये दोनों विपरीत अनुभव हमें हो सकते हैं, किन्तु बात यह नहीं है। प्रसंग यह था 'एखन सब अलीक' (अब सब व्यर्थ है) तथा 'अविश्वासेर वास्तव' (अविश्वास का यथार्थ) में दोनों कविताएँ क्या पाठक को हताशाबोध तक ले जाती हैं? तो फिर यह समझना होगा कि अपने को व्यक्त करने में मुझसे कोई गफ़लत हो गयी है। ऐसा तो नहीं है कि पुस्तकों के शीर्षकों ने ही कहीं अधिक प्रभावित किया हो? जिस पुस्तक की अन्तिम कविता का नाम है 'और एक प्रारम्भ के लिए' वह इतनी हताशाजनक क्यों होगी? 'एखन सब अलीक' इस पुस्तक की अधिकांश कविताओं में मेरे यौवन के दिनों की बातें हैं, जीवन में देखे हुए कुछ अद्‌भुत व्यक्तियों के भी प्रसंग हैं, ये व्यक्ति वे हैं जिन्हें इच्छा होने के बाद भी छुआ नहीं जा सकता था। प्रेसीडेन्सी कॉलेज के एक तला के बरामदे में जाता था- अक्सर छिपकर जाता था- आज भी अगर ५०-५१ वर्ष के किसी क्षण के बारे में सोचता हूँ, तब उसे तो आज व्यर्थ के रूप में ही मानना होगा? किसी भी नॉस्टेल्ज़िया (अतीत के प्रति मोह) में ऐसा ही होता है। किन्तु वह तो आज के समय पर कोई

टिप्पणी नहीं है अथवा 'अविश्वासेर वास्तव' को लीजिए। वहाँ भी सम्बन्धगत अविश्वास की निरन्तरता को समझकर उसे दूर करने के लिए किसी कर्म की, किसी सपने की कल्पना। विश्वास से भरकर ही तो वह पुस्तक समर्पित की गयी थी, उदीयमान युवाओं के एक युवा संगठन के सम्भाव्य तरुण कार्यकर्त्ताओं को। चारों ओर अविश्वास की एक हवा व्याप्त है, किन्तु उसे हटाकर पारस्परिक सम्बन्धों की एक भूमि को दुबारा लाना होगा, देरी हो जाने के बाद भी यह सम्भव है। क्या यही उस पुस्तक में नहीं कहा गया था? और इसीलिए देश के कोने-कोने में, बहुत कुछ अलक्षित रूप में, छोटे-छोटे जो सब समूह अथवा स्वेच्छा से जो सब सामाजिक कार्य करते जा रहे हैं, उनकी कथा कभी-कभी लिखने की इच्छा हुई है 'वट पाकुड़ेर फेना' पुस्तक में।

प्रश्न : आपकी कविताओं के माध्यम से जब कोई आपके पास पहुँचना चाहता है, तब उसे एक असीम वेदनाबोध, विषाद और अन्धकार की भनक मिलती है!

उत्तर : हाँ, यह हो सकता है। फिर भी ज़रा सोचो, तुम चर्चा कर रहे हो वेदनाबोध, विषाद और अँधेरे की। कई बार हम निराशा को इन्हीं का पर्याय मान लेते हैं। सम्भवतः यह ठीक नहीं है। वेदनाबोध और विषाद यह मन की एक स्थिति है (ए स्टेट ऑफ माइंड) और निराशा एक वक्तव्य (स्टेटमेंट) है। विषाद और वेदनाबोध में बहुत कुछ एक साथ जुड़ा रह सकता है और अँधेरा? विचार कर देखो, किस तरह से बुद्धदेव वसु के काव्य संकलन का नाम 'जे आँधार आलोर अधिक- जो अँधेरा प्रकाश से भी अधिक है; विष्णु डे की पुस्तक का नाम है, 'सेइ अन्धकार चाइ'-मैं उसी अँधेरे को चाहता हूँ। रवीन्द्रनाथ की कई रचनाओं में बहुस्तरीय अन्धकार की बात यहाँ नहीं उठा रहा हूँ। वे सब तो निराशा की बातें नहीं हैं। हाँ, यह ज़रूर नहीं कह रहा हूँ कि वह अँधेरा अथवा अन्धकार ही मेरी भी बात है। मैं यह कहना चाहता हूँ-जैसे कि कुछ देर पहले मैंने कहा था- आशा-निराशा को एक साथ मिलाने से एक पूरी तरह से स्वतन्त्र सत्ता- अवस्थिति निर्मित हो सकती है।

प्रश्न : किन्तु उन कविताओं को पढ़कर जो आपको समझना चाहेगा वह आपके इस साफ़-सुथरे, सब कुछ सहने वाले दैनन्दिन चेहरे को क्यों मानेगा?

उत्तर : मान लेने की आखिर ज़रूरत ही क्यों है? वह हमारे उस चेहरे को देख ही क्यों पाएगा? जो कविता पढ़ता है, वह कविता पढ़कर ही कवि को पा लेता है, अगर उसे पाने की ज़रूरत महसूस हो तो। कवि व्यक्ति के साथ पाठक का आमना-सामना न होना ही श्रेयस्कर है। इस विषय में बहुतों के साथ मेरा मत नहीं मिलता है। कवि के साथ पाठकों के योगायोग की इच्छा आजकल हमारे चारों ओर बहुत बढ़ गयी है, यहाँ तक कि इस प्रवृत्ति को कवियों का भी खुले रूप में प्रश्रय प्राप्त है, मेरा नहीं। किन्तु तुम्हारे प्रश्न में विचार करने की दो दिशाएँ और भी हैं। जिसे तुम 'मार्जित और सर्बंसह' चेहरा कह रहे हो, उसके साथ वेदनाबोध और विषाद का विरोध कहाँ है? किससे विरोध है? कैसा विरोध है? वह बोध अथवा विषाद क्या किसी को निश्चित रूप से अमार्जित और धैर्यहीन बनाए रखता है? थोड़े-से मेरे जो पाठक मेरे पास आते हैं अथवा थोड़े-से मेरे जो परिचितजन मेरे पाठक हो जाते हैं, वे लोग कई बार शायद मेरे हँसी-ठट्टा भरा चेहरा भी देख लेते हैं, इसे तो शायद विषाद के विपरीत ही कहा जा सकता है। उसे देखने में बताओ क्या उन्हें कोई असुविधा होगी? किन्तु सभी पाठकों की यह धारणा है कि बाहर के

मनुष्य को देखकर किसी भी लेखक के भीतरी मन को भी समझा जा सकता है? किसी-किसी रचनाकार के विषय में ऐसा हो भी सकता है, वे लेखक अपने दैनन्दिन कार्यकलापों के मध्य ही अपनी सृष्टि सत्ता को धारण किये रखना चाहते हैं, किन्तु कई बार ऐसा घटित नहीं होता है। बहुत से लेखकों को बाहर से नहीं समझा जा सकता है। रवीन्द्रनाथ की एक लाइन याद आती है, 'बाहिरे जबे हासिर छटा/ भीतरे थाके आँखिर जल' अर्थात् बाहर जब हँसी की छटा बिखर रही हो, तब भीतर-भीतर आँखों का जल बहता रहता है। हाँ, यही होता है, और क्या! एक होती है हमारी दैनन्दिन सत्ता और दूसरी होती है हमारी भीतरी सत्ता। कविता का आवास यहीं होता है, उसी भीतरी सत्ता में। बाहर से उस सत्ता को कैसे जाना जा सकता है? वह अपने को जानने ही क्यों देगी?

प्रश्न : 'समयदा एकमात्र आसते पारे कविर सत्ता हिसेबे' - 'समय सिर्फ कवि की सत्ता के रूप में ही आ सकता है'- एक बार आपने यह बात कही थी। यह बोध आपके मन में कैसे तैयार हुआ?अपनी अभिज्ञता से?अथवा कविता पढ़ने के माध्यम से?इस विषय में किसकी कविता की कथा आपके मन में काम करती है?

उत्तर : किसी-किसी कवि के अनुभव में इस तरह की बात की अभिव्यक्ति निश्चय ही होती है। जीवन के साथ कविता के सम्बन्ध की चर्चा चलने पर जैसे जीवनानन्ददास कहा करते थे कि वह कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता है। यहाँ जो प्रत्यक्ष शब्द है उसे लक्षित करो। काव्य सिद्धान्त के सम्बन्ध में चर्चा चलने पर वे कई शब्दों पर ज़ोर देते थे। जैसे अन्तः सार आभा, भाव प्रतिभा और भावना प्रतिभा। एक बार उन्होंने हड्डियों के भीतर बोध करने की शक्ति की बात लिखी थी। यह उक्ति किसी को याद दिला सकती है, येट्स की यह पंक्ति- कि जो कवि अपना अन्तिम गीत गाता है, वह अपनी हड्डियों के माध्यम से सोचता है। इन सब बातों ने बाद में चलकर मेरे चिन्तन में बहुत कुछ सहायता दी थी, यह बात ठीक है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि कविता अथवा कविता विषयक रचनाओं के माध्यम से सबसे पहले मैंने उस बोध को पाया था। उन सब रचनाओं को पढ़ पाने के बहुत पहले, लिखना शुरू करने के बाद से ही मुझे उसका भान हुआ था। किसी-किसी रचना में शरीर के एकदम भीतर की ओर स्रोत बहता रहता है और किसी-किसी रचना में ऐसा नहीं होता है। यह क्यों होता है और क्यों नहीं होता है, इस पर विचार करते-करते एक अस्पष्ट भावना में मैं पहुँच गया था, बाद में वह अन्य अनेक लेखकों की रचना पढ़कर स्पष्ट हो पाता है। समय के बारे में बहुत सचेत रहने के बाद भी, एक कविता मूल रूप में क्यों स्पर्श नहीं करती है और दूसरी क्यों करती है, उसका एक उत्तर उसी भावना में निहित रहता है। कोई कष्ट पा रहा है, दर्द की दृष्टि से उसे देखना और उसे व्यक्त करना एक बात है और अपने आप में उस कष्ट के तद्नुरूप हो जाना- यह और एक बात है। तभी मन में आती है समस्त सत्ता से उसे पाने की बात, आड़ में रहकर ही वह समस्त को लेकर काम करती रहती है।

प्रश्न : किन्तु, चारों ओर से अनेक सामाजिक और राजनैतिक कामों का जब आह्वान आता है और निकट के व्यक्तियों के साथ भी जब ग़लत समझे जाने की घटना घटती रहती है, तब आप क्या करते हैं? कविता लिखना या जीवन-यापन के कारण जो आड़ में रहने की बात पर आप विचार करते हैं, वह भंग हो जाती है ना?

उत्तर : एकदम भंग नहीं हो जाती है, यह नहीं कहूँगा। कुछ समय के लिए तो भंग हो ही जाती है। हर बार इस तरह के किसी आह्वान का उत्तर देने के बाद, काम समाप्त हो जाने के बाद, थोड़ा-बहुत ग्लानि का बोध- यहाँ तक कि एक प्रकार का अपराधबोध तो रह ही जाता है। किन्तु वह जो कहा है, वह तो एक साथ जुड़ा रहता है एक अस्तित्वबोध भी। फिर भी एक बात याद रखना आवश्यक है कि मैं जिस आड़ की बात कह रहा हूँ, वह किसी मीनार में रहने का अन्तराल नहीं है। भीड़ में मिले रहना, उस वातावरण में श्वास लेते रहने से मैं प्रेम करता हूँ। भीड़ में रहकर भी मन को एकान्त में रखा जा सकता है, अगर कोई ऐसा करना चाहता हो। 'संघे आमि एकला थाकि बटे/ एकार पथे संघ टेर पाइ' - अर्थात् संघ में मैं अकेला ज़रूर रहता हूँ किन्तु अकेले पथ पर मुझे संघ की भनक लगती रहती है और अनेक लोगों द्वारा ग़लत समझा जाना? यह तो जीवन में लगा ही रहता है। उसके हाथ से परित्राण कौन पा सकता है?

प्रश्न : साहित्य की राजनीति पूरे विश्व में, हर भाषा के साहित्य में चलती रहती है। इस राजनीति के हिंसक स्वरूप का क्या कभी आपने अनुभव किया है?इसे समाप्त करने का उपाय?इसके सामने एक व्यक्ति किस प्रकार खड़ा रह सकेगा?सभी की सहनशक्ति तो समान होती नहीं है।

उत्तर : नहीं, ऐसा नहीं है। किन्तु एक लेखक की, एक शिल्पी की सबसे बड़ी परीक्षा तो यह सहन करने की क्षमता में ही है। समाज की, प्रकृति की और विश्व-विधान की (या अविधान की) सतत् विरोधिता को हृदय पर झेलने की क्षमता ही एक शिल्पी की असली क्षमता है। यह ठीक है कि साहित्य की राजनीति सदा लगी रहती है, सभी देशों में ऐसा होता है। वह ऊँचाई से भी आती है और समानान्तर रूप से समगोत्रियों में भी रहती है। समय के साथ-साथ सम्भवतः उसकी प्रकृति और मात्रा में कुछ परिवर्तन आ जाता है, किन्तु उसकी आँच बढ़ती रहती है। सन्देह, निन्दा, बुराई करना, ईर्ष्या, हिंसा ये सब भँवर की तरह चक्कर लगाते रहते हैं। बहुत दिन पहले अपने 'जर्नल' में मैंने इसका मुकाबला करने की अपनी एक व्यक्तिगत पद्धति की बात कही थी। वह सबके लिए प्रयोग करने योग्य है, ऐसा नहीं है, फिर भी यहाँ एक बार उसकी पुनः चर्चा कर रहा हूँ। आक्रमण या आघात अगर ग़लत कारण से होता है या अन्यायपूर्वक होता है तो एक-न-एक दिन लोगों को इसका पता चल जाएगा, तो फिर इसको लेकर मेरे विचलित होने की कोई ज़रूरत नहीं है और कारण अगर यथार्थ है, तब लोगों को इसे जानना ही चाहिए, तब फिर उसको लेकर विचलित होने का मुझे कोई अधिकार नहीं है। तब फिर किसी भी दृष्टि से मेरे लिए कुछ करने को रह ही नहीं जाता है। मन में यह बोध रखते हुए भी मुझे कोई धक्का नहीं लगता है, ऐसा मैं नहीं कहूँगा। फिर भी मैं बहुत कुछ समाहित रह सकता हूँ, रहना चाहता हूँ, एक कवच की तरह इस बोध को बनाये रखना चाहता हूँ।

प्रश्न : कवि का कवच। 'कविर वर्म' (कवि का कवच) पुस्तक में एक अन्य प्रकार का प्रसंग आता है भाषा और स्वर को लेकर। एक पुस्तक से यदि दूसरी पुस्तक में कवि की भाषा और उसका स्वर बदलता रहता है, तो फिर हम उसे पहचानेंगे कैसे? एक पुस्तक से दूसरी पुस्तक में बदलाव आना क्या सम्भव है?

उत्तर : एक स्तर पर वह बहुत कुछ सम्भव है। एक स्तर पर एक व्यक्ति में बदलाव आता रहता है। बीस वर्ष पहले मेरा जो 'मैं' था और आजकल मेरा जो 'मैं' है, वह क्या एक है? समय के साथ-साथ शारीरिक और मानसिक रूप से क्या उसमें बहुत कुछ बदलाव नहीं हुआ है? समय के साथ-साथ जैसे हममें

बदलाव आता रहता है, वैसे ही समय के साथ-साथ किसी कवि की कविता में भी बदलाव आ सकता है और यही प्रत्याशित भी है, किन्तु क्या यह बदलाव इस सीमा तक हो जाता है कि हमें एकदम पहचाना ही नहीं जा सकता है? उस दृष्टि से मेरा एक धारावाहिक 'मैं' है। मेरी रचनाओं में भी वैसी ही धारावाहिकता है। बदलाव होता रहता है, किन्तु वह बदलाव चौंका देने के लिए नहीं होता है। 'अच्छा अब हमें बदलना होगा' इस तरह का प्रस्ताव लेकर कोई ज़बरदस्ती अपने को बदल डाले यह चीज़ शायद ऐसी नहीं होती है। इसके लिए आपको समय देना होगा। अलोकरंजन के काव्य संकलन 'यौवन बाउल' में एक लाइन थी-'नहीं, मैंने ग़लत कहा है, यह पंक्ति 'निषिद्ध कोजागरी' में आयी है, 'के तबू बलल ट्रामे उठवार आगे। एबार कि छु आंगिक बदलान' - ट्राम में बैठने के पहले जैसे किसी ने कहा, इस बार अपने उपादानों को बदल डालिये'- इसके साथ-ही-साथ अलोकरंजन के काव्यगत उपादानों में बदलाव आ गया हो, ऐसा तो नहीं है। फिर काफ़ी दिनों में धीरे-धीरे इतने दिनों में बदल गया उसका स्वर।

प्रश्न : भाषा, स्वर, दृष्टि और सबसे बढ़कर श्वास-प्रश्वास एक पुस्तक से दूसरी पुस्तक में बदल लेने की बात क्या आपने कभी सोची नहीं है?

उत्तर : नहीं, इस बारे में अधिक नहीं सोचा है, अन्ततः सचेत रूप से। दो-तीन वर्ष के बाद मेरी कविता की पुस्तकें निकल पाती हैं, उसमें ऐसे ही शायद कुछ बदल जाता है और कभी-कभी कुछ बदलता भी नहीं है, किन्तु बदलना है, यह सोचकर नहीं बदलता हूँ।

प्रश्न : तो फिर 'दिनगुलि रातगुलि' पुस्तक निकलने के बाद लम्बे सात-आठ वर्षों तक आपने कविता क्यों नहीं लिखी? बदलने की भावना से नहीं?

उत्तर : सात-आठ वर्ष नहीं। ऐसा लगता है कि एक मुँह से दूसरे मुँह में बात जाने पर वर्ष बढ़ जाते हैं। सिर्फ़ चार वर्ष तक वैसा कुछ लिखा नहीं। इस समय ऐसा कुछ नहीं सोचा कि अपने को कुछ बदलना होगा। सोच रहा था कि कुछ अच्छा लिखना नहीं हो पा रहा है, इसीलिए कुछ नहीं लिखा। सिर्फ़ सोच रहा था, ऐसा नहीं है, दो-एक लोगों से वैसा कहा भी था। उसी बीच कभी-कभी टुकड़ों-टुकड़ों में कई लाइनें अस्त-व्यस्त भाव से लिख भी डालता था, जो लिखने जैसा कुछ लिखा गया है, ऐसा लगता ही नहीं था, किन्तु यह सन्दीपन के अर्थ में उस न लिखने वाले लेखक का न लिखना नहीं था। सन्दीपन का न लिखना था चलताऊ लेखन का मौखिक प्रतिवाद। मैं सोच रहा था अकथित बात को छिपाए रखने की बात।

प्रश्न : फिर आप अपनी रचनाओं को छपाने के जगत् में कैसे ले आए? इतने दिन बाद किसी ने क्या आपकी रचनाएँ माँगी थीं? बड़े लोगों से, मित्रों से यह न लिखने की चर्चा क्या आपने की थी?

उत्तर : अगर कोई मेरी रचना माँगता था, तो कभी-कभी मुझे कहना पड़ता था कि मैं आजकल लिख नहीं रहा हूँ, नहीं तो इसको लेकर किसी से कोई बात नहीं की थी। फिर भी एक व्यक्ति की ओर से नियमित रूप से दबाव आता रहता था, वह सुनील गंगोपाध्याय की ओर से। 'कृत्तिवास' तो उन दिनों निकल ही रहा था और कृत्तिवास में मेरी कोई रचना नहीं रहेगी और सुनील की वजह से ऐसा न होने का कोई कारण नहीं था। विदेश से एक बार उसने लिखा था, (अस्थायी रूप से उस समय और कोई सम्पादक था) इस

बार के कृत्तिवास में आपकी कविता देखने को नहीं मिली। आप ऐसा नहीं करेंगे। इसके अलावा दो-एक नितान्त छोटी पत्रिकाएँ मेरी रचना माँगती थीं, जिनकी आयु दो-तीन अंकों से अधिक नहीं थी। इस तरह से थोड़ी-थोड़ी लिखी गयी 'निहित पाताल छाया' की कविताएँ। इनसे मेरी समझ में आया कि मेरी रचनाएँ बदल गयी हैं। कुछ नहीं, बहुत कुछ।

प्रश्न : 'निःशब्देर तर्जनी' (निःशब्द की तर्जनी) निबन्ध को क्या इस 'निहित पाताल छाया' की भूमिका कहा जा सकता है?वह किस प्रेरणा से लिखी गयी है?

उत्तर : उस समय बाहर की कोई ताक़ीद थी ही नहीं, किसी ने माँगा नहीं और किसी ने दबाव भी नहीं डाला। बस इसी तरह से एक गद्य रचना लिख डाली- जीवन में वैसा सिर्फ़ एक बार ही घटा था १९६६ ईस्वी में। उसी अवधि में 'निहित पाताल छाया' की प्रायः सभी कविताएँ लिखी जा चुकी थीं। इसीलिए उस प्रबन्ध को उनकी ठीक भूमिका न कहकर उस पुस्तक के पक्ष में उसे एक घोषणा-पत्र (मेनीफेस्टो) कहा जा सकता है।

प्रश्न : इस प्रबन्ध में काव्य के कितने लक्षणों की बात कही गयी है, जिसके विरुद्ध यह लड़ाई थी। लोक पुराणों की धूल से युक्त मस्तक स्वयं पुराण होना चाहता जैसी जीवनचर्या, जीवनानन्द के लिए जो परिधान था, उसके द्वारा असबाव की तरह सजा हुआ कविता का घर, 'सुलभ बाज़ार' में गर्वहीन एक समाज- ये सब क्या उस समय की कविता के लक्षण थे आपके लिए?

उत्तर : हाँ, कुछ-कुछ वही। फिर भी उस कविता के अन्तर्गत उस वक्त 'मैं' भी था। यहाँ पर एक तथ्य की चर्चा कर रहा हूँ। पता है, यह निबन्ध किस पत्रिका में छपा था?खूब ढोल बजाकर बड़े समारोह के साथ उस समय निकलनी शुरू हुई थी पन्द्रह दिनों की 'दैनिक कविता' पत्रिका। सम्भवतः उस पर व्यंग्य करने के लिए उसी के साथ तुम्हें देखने को मिलेगी 'कविता घंटिकी' अर्थात् एक-एक घण्टे में निकलने की कविता-पत्रिका। उस 'दैनिक कविता' में एक लेख छापना है, इस तरह की माँग को लेकर दबाव डालने आए तारापद राय। उसे चौंकाते हुए माँग के साथ-ही-साथ मैंने वह लेख उन्हें दे दिया। 'दैनिक कविता' में छपे 'निःशब्देर तर्जनी' लेख में सम्भवतः एक व्यंग्य है।

प्रश्न : तो फिर किस तरह से परवर्ती समय में इस समय लिखी जा रही रचनाओं की महिमा आप खोज सके?

उत्तर : महिमा तो उस समय भी खोज ली थी। अपनी एकाधिक गद्य रचनाओं में उस समय लिखी जा रही नयी रचनाओं के सम्बन्ध में ग्रहण करने योग्य कुछ बातें उस समय भी कही थीं। मैं सिर्फ़ यह समझ सका था कि मैं ठीक उसी मार्ग पर नहीं चलना चाहता हूँ। इस सन्दर्भ में और भी एक बात है।

जिस समय रचना लिखी जाती है उसके साथ मूल रचना के आसपास चारों ओर से अनेक ऐसी कुछ चीजें बहते-बहते एक साथ आ जाती हैं कि शुरू में तो एक जटिलता, घुमड़ता हुआ प्रवाह ही नज़र में आता है। जो अप्रासंगिक अंश होते हैं, वे एक-एक कर मूल रचना से झरते जाते हैं उस वक्त हमारी आँखों के सामने उसका ठीक-ठाक चेहरा निकलकर आता रहता है।

प्रश्न : 'निःशब्दरे तर्जनी' में आपने लिखा था, 'इस समय इच्छा हो रही है जैसे-तैसे लिखने की, खूब अपनत्व

भरे कोमल लहजे में खूब लघु और खूब सहज रूप में' यहाँ पर सहज कहने के द्वारा आप क्या समझाना चाहते थे? 'जल की तरह सहज बनूँगा' कविता में आपने यही कहा है। यह 'सहज' ही आपकी दृष्टि में क्या है?कविता का सहज क्या उतना सहज है?

उत्तर : नहीं तो। मैंने लिखा भी तो था, 'सहज बात ठीक उतनी सहज नहीं होती है।' तब जो कुछ कहना चाहा था, वह भी अनेक तरह के चमत्कारों से बाहर निकल आने की बात। शब्दों का आडम्बर, चित्रों का जमघट, छन्दों का हिल्लोल- इन सब चमत्कृत करने वाली चीज़ों से अपने को यथासम्भव एक ओर रखने की बात। अँधेरे में पासपास, चुपचाप बैठे रह सकते हैं दो लोग, बीच-बीच में आहिस्ता-आहिस्ता दो-एक बातें कह लेते हैं, वैसे ही सहज रूप में कहना। रोज़मर्रा की बातचीत का जो ढँग होता है, श्वास-प्रश्वास जैसे सहज होता है, यथासम्भव उसी के निकट रहकर कोई बात कहना। इन्हीं सब चीज़ों को मैंने सहज कहा था, किन्तु इनसे जो अनुभूति हम तक पहुँचती है, उसमें अनेक जटिलताएँ रह सकती हैं। असल में भाषा और शब्द के अनेक स्वर उस समय निर्मित होते रहते हैं। एक ओर सहज सीमा में समय की जो भाषा धारण किये रह सकती है, वह किन्तु दूसरी ओर पुनः जा सकती है बहुत दूर।

प्रश्न : समय के पदचिह्न पकड़ने के लिए बहुत से कवि आजकल सचेत रूप से अपनी रचना में ले आ रहे हैं हिन्दी के शब्द, अँग्रेज़ी की गालियाँ, टेली सीरियल, टेली शो, एफ़.एम. रेडियो भी- इन सबके द्वारा समय के चिह्नों को खोजकर पाया जा सकता है। उन भाषाओं का सचमुच का स्पन्दन और चाल-चलन बहुत कुछ जाना हुआ रहता है न हमारा! एक लेखक अपने समकाल के प्रति कैसे सचेत रह सकता है, शब्द के द्वारा अथवा कानों से सुने हुए इन सब बोलियों के द्वारा समय को रचना में सन्क्रान्त करने के प्रयास में?

उत्तर : काफी प्रयास करने से ऐसा सम्भव है, ऐसा तो नहीं लगता है। यह थोड़ा प्रवृत्ति और प्रवणता का मामला है। विशेष-विशेष कवियों की क्षमता का व्यापार है। हिन्दी अथवा अँग्रेज़ी की बोली के शब्द हमारे दैनन्दिन जीवन में घुस आये हैं। वे टेली शो से आए हों, अथवा अन्य किसी सूत्र से आए हों- कविता में तो वे आ ही सकते हैं, आने की ही बात है। समय के साथ अपना एक जुड़ाव तो कविता रखना ही चाहती है। अगर किसी को यह लगे कि मुझे तो यह करना ही होगा, तब समस्या उत्पन्न हो जाती है क्योंकि यह एक उत्तर आधुनिकता का लक्षण समझा जाता है, इसके कारण एक बलात, लादा हुआ व्यापार कविता में घट सकता है, किन्तु कविता पढ़कर ही यह समझ में आ सकता है कि कौन-सी चीज़ उसमें स्वाभाविक रूप से आयी है और कौन-सी चीज़ उस पर जबरदस्ती थोपी गयी है। स्वतःस्फूर्त एक जैविक सम्बन्ध में अगर सब कुछ सम्बद्ध हो, तब समकालीन बोली कविता की एक ताक़त बन सकती है।

प्रश्न : एक बार आपने कविता में लिखा था कि 'मार का उत्तर मार है।' क्या उस बात पर आप आज भी विश्वास करते हैं? किस रूप में यह पंक्ति आयी थी?

उत्तर : किस रूप में आयी थी यह तो अब याद नहीं है, किन्तु इस कथन में मेरा आज भी विश्वास नहीं है और उस समय भी नहीं था। एक तो कविता की सभी बातें, कवि की अपनी नहीं होती हैं, नाटक के पात्र की

बात जैसे नाटककार की बात नहीं होती है। कविता में मेरे और तुम्हारे शब्दों के प्रतीकार्थ बार-बार बदल सकते हैं और दूसरी बात यह है, पूरी कविता से एक-दो लाइनें अलग कर उन पर विचार करने से कई बार गोलमाल हो जाता है। मान लीजिए, यह जो कविता है, दो लाइनों में गुँथी हुई है, लगती है जैसे दस-बारह लाइनें हैं, जिनमें टेक की तरह कई बार आती हैं, वह उक्ति 'मार का जवाब मार है', जिस कविता का नाम है श्लोगन- उसकी अन्तिम दो लाइनें क्या तुम्हें याद हैं? वे लाइनें थीं, 'कथा केवल मार साय ना कथार बड़ो धार/ मारेर मध्ये छलूके उठे शब्देर संसार।' अर्थात् बात केवल मार ही नहीं खाती है/ क्योंकि बात में बड़ी धार होती है/ मार में छलक उठता है शब्द का सारा संसार। तब क्या शब्द के द्वारा अथवा बात के द्वारा मार उक्ति की एक बदली हुई शक्ति तैयार नहीं हो जाती है? हिंसात्मक राजनीति की जो हवा बह रही थी, उस सत्तर के दशक के प्रारम्भ में, उन सब नारों में लुप्त होती जा रही थी, कितने व्यक्तियों के मनुष्य हो उठने की सम्भावना, चूँकि उसी बोध से लिखी गयी थी वह कविता।

प्रश्न : व्यक्ति का आह्वान किया जा सकता हो, गत शताब्दी के भारत में ऐसी कोई राजनैतिक सद्भावना आपको खोजने पर मिली क्या, जिस पर विश्वास किया जा सकता हो, सामान्य मनुष्य अपनी निजता को लेकर जहाँ पर एकत्र हो सकता हो?

उत्तर : हुआ था, शुरुआत में, गाँधी जी के नेतृत्व में। पूरे भारतवर्ष के लोगों को एक साथ पुकार लगाने अथवा उन्हें इकट्ठा करने के काम में गाँधी जी बहुत कुछ आगे बढ़ सके थे । उनकी राजनीति में वैयक्तिक रिश्तों की बात थी, व्यक्ति-व्यक्ति के विकास सूत्र को लेकर ग्रामीण समाज के विकास की बात थी और उसी सूत्र के आधार पर पूरे देश के विकास की भी बात थी। 'मानव-मानव में प्रेम' हो यह बात जिस राजनीति की भूमि पर खड़े होकर भी कही जा सकती हो और कही जा सकती हो एक दर्पहीन विनम्र स्वर में, यही थी उस राजनीति की महिमा की एक दिशा। किन्तु यह है नेता की सदिच्छा की बात, उसके एक स्वप्न की कथा, किन्तु मुश्किल यह हुई कि इसका बहुत-सा अंश कार्यपद्धति के द्वारा साकार नहीं किया जा सका किन्तु उस राजनीति में 'व्यक्ति' की 'निजता' के बहुत-से चिह्न ही नष्ट कर दिये गये। यहाँ रवीन्द्रनाथ की वह चिन्ता संगत ही प्रतीत होती है, 'सत्य के आह्वान' में, उन्होंने गाँधी जी की जो समालोचना की थी। 'मुक्तधारा' नाटक के धनन्जय ने अपने अनुगामियों के विषय में एक बार बड़े दुःख के साथ कहा था, 'उन्हें जितना उन्मत्त बनाया गया, उतना परिपक्व नहीं बनाया जा सका।'- यह गाँधी जी का भी कथन हो सकता था।

प्रश्न : रवीन्द्रनाथ के बारे में आप हर समय कुछ-न-कुछ कहते रहते हैं, किन्तु सभी विषयों पर नहीं बोलते हैं। जैसे उनकी कहानियों के बारे में आपने कुछ नहीं कहा। इसका कारण क्या है?

उत्तर : इसका कोई विशेष कारण नहीं है, फिर किसी ने वैसा कोई दबाव भी नहीं डाला, यह बात भी निश्चित है। 'निर्माण और सृष्टि' में कहानियों के बारे में थोड़ा-बहुत तो कहा ही है।

प्रश्न : रवीन्द्रनाथ की रचनाओं के प्रति क्या आपका अपना कोई विशेष उद्देश्य है? जिसको सामने रखकर आप उनकी ओर प्रवृत्त होते हैं?

उत्तर : विशेष कोई उद्देश्य लेकर उनकी ओर प्रवृत्त नहीं हुआ हूँ, फिर भी शुरुआत में उनके विधागत उपादानों

को लेकर विशेष लक्ष्य था। नाटक, गान और सृजनशीलता के अन्तिम दस वर्ष, बारबार इन्हीं पर नज़र गयी है, किन्तु अलग-अलग रूप में नहीं। उनके समग्र को मिलाकर। यहीं पर अबू सईद अय्यूब जैसे भावुक समीक्षक के साथ मेरा थोड़ा-बहुत मतभेद हो जाता था। उनसे तर्क-वितर्क होता था। उस तर्क की एक दिशा थी कविता पढ़ने की पद्धति के प्रश्न को लेकर, किन्तु दूसरी ओर, उनका विचार था कि भिन्न-भिन्न माध्यमों से हमें भिन्न-भिन्न रवीन्द्रनाथ मिलते हैं और मुझे लगता था एक विस्मयकर ऐक्य सूत्र में ये सारे माध्यम बँधे हुए हैं। परिणाम यह होता है कि एक विषय पर विचार करने पर अन्य अनेक विषय उसमें अनिवार्य रूप से आ जाते हैं, मुझे ऐसा ही लगता था। सिर्फ़ सृष्टि जगत् के ही भिन्न-भिन्न माध्यम का नहीं, उनके कर्मजगत् की भिन्न-भिन्न दिशाएँ भी- जैसे ग्राम संगठन, शिक्षा सुधार, राजनीति, इन सब में भी एक ही मूल सूत्र काम करता रहा है। इसी सूत्र को रवीन्द्रनाथ ने एक उक्ति में एक बार इस प्रकार कहा था। उन्होंने कहा था कि अपने को 'अहं' से मुक्त करने की साधना को ही उन्होंने आजीवन पकड़े रखना चाहा है। इसे उन्होंने आवरणों को हटाने की साधना भी कहा था। आधुनिकता पर विचार करने के साथ-साथ मूल रूप में मैंने अपनी रचनाओं में उसी को लक्षित करना चाहा था। शिल्प-साधना में उनका 'मैं' किस प्रकार 'आत्म' के निकट पहुँचना चाहता है। वहीं पर उनकी आध्यात्मिकता का एक भिन्न प्रकार का अर्थ हमें मिल जाता है।

प्रश्न : 'नैवेद्य' अथवा 'गीतांजलि' जब पढ़ता हूँ, तब ऐसा लगता है जैसे कोई एक बड़ी, विशाल और शक्तिशाली सत्ता है और उस पर पूरा विश्वास स्थापित किया जा सकता है। ऐसा अनुभव क्या आपको भी होता है?

उत्तर : विश्वास करना तो चल सकता है, किन्तु अन्तराल में रहने वाली किसी प्रबल सत्ता की बात मेरे अनुभव में नहीं आती है। पूरे ब्रह्माण्ड के मूल में एक शक्ति केन्द्र है, यह विश्वास तो करना ही होगा। उस शक्ति प्रवाह के साथ एक मानसिक सम्बन्ध कई बार घटता रहता है, जिससे निर्मित हो जाता है, कोई एक अलक्षित वेदनाबोध अथवा अपार विस्मयबोध, किन्तु वह व्यक्ति मुझे कहीं कोई आश्रय देगा, ऐसा मेरा विश्वास नहीं है। उस सत्ता के किसी नैतिक विधान में मेरा विश्वास नहीं है। यहाँ पर मैं वरन्, आबू सईद अय्यूब की भावना का सहमर्मी हूँ। सर्वशक्तिमय, सर्वकल्याणमय किसी विधाता में अय्यूब का विश्वास नहीं था, मेरा भी नहीं है। अर्थात् उस अर्थ में मेरा कोई धर्म नहीं है।

प्रश्न : जब जहाँ पर हूँ, उसी को जड़ों से पकड़े रहना- एक अन्य धर्म की बात आपने कही है और उसका ज़ोर है प्रेम पर। यह जुड़े रहने का प्रेम सब समय क्या आपके मन में बना रहता है?क्या टूट कर अलग नहीं हो जाता है?

उत्तर : वह तो टूट जाता है। बार-बार टूट जाता है और इसीलिए बार-बार यह बात अपने को याद दिलानी पड़ती है, भीतर से एक शक्ति पाने के लिए। अगर छूटता न रहता, भंग होता न रहता, सब कुछ स्थिर होकर बना रहता एक निर्णय की अवस्था में पहुँच जाता हमारा मन या हमारी सत्ता, तब क्या यह नहीं लगता कि कविता लिखने की दरकार क्या है? टूट जाना, फिर जुड़ जाना, फिर टूट जाना- यही क्रम लगातार चलता रहता है।

प्रश्न : 'जले भासा खड़ कूटो' (जल में बहता हुआ कूड़ा-करकट) में एक बार गद्य की रीति में बात कहने की

भंगिमा में बहते हुए संलाप की तरह एक चर्चा चल रही थी। बहुत ही गुप्त कथा। शरीर के द्वारा प्रेम करने की बात। एकदम अन्त में आते हैं मिश्रित कलावृत्त में लिखे हुए चार टुकड़े- भंग होता जा रहा है स्रोत। किस परिवेश में, किस दृष्टि से वह लेख शुरू हुआ था?

उत्तर : सन् पंचानवे में कई दिनों के लिए बाँग्ला देश में घूम आने के कई दिन बाद सहसा वे रचनाएँ लिखी जाने लगीं। उस समय, मन-ही-मन एक साथ खूब आसक्ति और मुक्ति का स्वाद मुझे मिला था, जैसे मैं घुलमिल गया था देश के जल और माटी के साथ। उसके बाद एक समय वह प्रवाह रुक गया, ठीक है, टूट गया, भंग हो गया। यह तुमने ठीक ही लक्षित किया है कि मिश्र कलावृत्त ने आकर वहाँ मानो एक विराम चिह्न तैयार कर दिया हो। जैसे किसी नये प्रवाह की प्रतीक्षा हो।

प्रश्न : आपकी अन्तिम कविता की पुस्तक के अन्तिम अंश में एक राजनैतिक संघर्ष का तुंग क्षण मानो प्रेम भरे देश रूपी शरीर में घुला-मिला जा रहा हो। आप क्या वैसे किसी आश्रय की बात आज सोच रहे हैं?

उत्तर : सभी तो एक आश्रय की बात सोचते रहते हैं, जन्म से ही किसी भी मनुष्य की वही तो सबसे बढ़कर खोज, वही हाहाकार ही तो सबसे बड़ा उसका हाहाकार होता है। सम्भवतः सभी लोग उस विषय में सदा सचेत नहीं रहते हैं। फिर बहुत से लोग सचेत भी रहते हैं। विशेष रूप से निर्जन अकेलेपन के एकान्त क्षणों में। कई दिन पहले अपने एक लेख में मैंने कहा है : व्यक्ति के साथ व्यक्ति के, व्यक्ति के साथ समाज के, व्यक्ति के साथ विश्व के एक प्रवासी जैसे सम्बन्ध से मनुष्य बँधा हुआ है। आजीवन प्रवासी वही मनुष्य चिरकाल ही आश्रय का भिखारी बना रहता है। कोई इसे जानता है और कोई इसे नहीं जानता है।

होने का दुःख

शंख घोष

(समरसेन स्मारक व्याख्यान २०१४)

मूल बाँग्ला से रूपान्तर - रामशंकर द्विवेदी

नमस्कार! प्रारम्भ में दो-एक बातें बता दूँ। इस तरह की सभा में श्रोताओं को सम्बोधित करने के पहले यह एक शिष्ट जनोचित रीति है कि इस व्याख्यान का मुख्य प्रतिपाद्य क्या होगा, पहले उसे जान लिया जाए। आयोजनकर्ताओं ने अपने आमन्त्रण-पत्र में उसे नहीं बताया है, यह उनका दोष नहीं है मेरा ही दोष है क्योंकि सात दिन पहले तक यह निश्चित नहीं था कि मैं सचमुच में क्या कहने जा रहा हूँ। हाँ, अब भी यह विषय निश्चित है, यह मैं नहीं कह सकूँगा। फिर भी मैं एक लेख तैयार कर लाया हूँ, उसे ही मैं यहाँ पढ़ूँगा, किन्तु यहाँ मैं ऐसे कई व्यक्तियों को देख पा रहा हूँ, ऐसे कई मनीषियों को, उनके सामने कुछ कहने जैसी कोई बात मेरे पास होगी, ऐसा मुझे नहीं लगता है। जो बात मैं यहाँ कहना चाहता हूँ, वह कोई नयी बात नहीं है, पुरानी बात ही है, जिसे कई बार कहा जा चुका है। फिर भी मुझे लगता है कुछ बातें ऐसी होती हैं, जिन्हें सम्भवतः बार-बार कहना चाहिए।

रवीन्द्रनाथ द्वारा प्रयुक्त ऐसे दो-एक शब्द हैं जैसे 'होना', 'चाहना', 'पाना' या 'दुःख' - इन्हें अथवा इन जैसे प्रतिशब्दों को उन्होंने कई बार एक से अधिक अर्थों में प्रयुक्त किया है। यहाँ तक कि कभी-कभी विपरीत अर्थों में भी। उन्हीं अर्थों का सूत्र पकड़कर मैं अपनी बातों को कहने का प्रयास करूँगा। लेख का शीर्षक है 'होने का दुःख'। हाँ, यह अवश्य है कि सुनने के बाद किसी-किसी को 'सुनने का दुःख' हो सकता है।

इस लेख के पाँच अंश हैं। मैं समरसेन की चर्चा से अपनी बात शुरू करूँगा। समरसेन द्वारा लिखे एक प्रसंग से ही मैं रवीन्द्रनाथ तक पहुँचूँगा। उन्होंने अपनी 'बाबूवृत्तान्त' नामक पुस्तक में, अपने साढ़े चार बरसों के प्रवास काल के अनुभवों की चर्चा करते हुए लिखा था; ''रूसी पत्र-पत्रिकाओं, कहानी-उपन्यासों में अनवरत जिस 'नये मनुष्य' की सृष्टि कथा सुनता आ रहा था, वह नया मनुष्य तो नज़र में आया ही नहीं।'' इस पुस्तक में उन्होंने यह पहली बार लिखा हो ऐसा नहीं है, इसके भी पन्द्रह बरस पहले 'मास्को की ज़िन्दगी' नामक अपने एक फुटकर लेख में उन्होंने लगभग ऐसा ही लिखा था, ''रशिया का दृढ़ विश्वास है कि उस देश में नये मनुष्य का जन्म हो चुका है। किन्तु ... उत्तराधिकार सम्बन्धी स्टालिन युग के कानून को कम किये बिना क्या नये मनुष्य का आविर्भाव इतना सहज है? तीसवें दशक के मध्य में सिडनी और वियेदिस बेव ने 'सोवियत कम्यूनियन : ए न्यू सिविलाईज़ेशन' नाम से जो पुस्तक प्रकाशित की थी, उसके पहले संस्करण में उसके शीर्षक के बाद जो प्रश्नचिह्न था, बाद के संस्करण में उसे हटा दिया गया था। समरसेन ने हमें याद दिला दिया था कि उस पुस्तक का माल-मसाला लेखकों को स्टालिन युग के रूस से मिला था। ख्रुश्चेव के दौर में जो तथ्य प्रकाश में आए, उनके हाथ में आ जाने के कारण उस प्रश्नचिह्न को

हटाकर उन्होंने पुस्तक के नामकरण के सम्बन्ध में उतना विश्वास नहीं दिखाया था'' - यही बात निश्चित रूप से समरसेन ने लिखी थी।

'समरसेन' को 'नया आदमी' तो देखने को नहीं मिला किन्तु वे और देश-विदेश के उनके अनेक समकालीन इसके वास्तविक अस्तित्व के बारे में विश्वास करना चाहते थे। कम्युनिस्ट घोषणा-पत्र में यह आशा जगायी गयी थी कि पुराने समाज का स्थान एक दिन एक ऐसी समिति लेगी, जिसमें हर व्यक्ति का स्वतन्त्र विकास सभी व्यक्तियों के स्वतन्त्र विकास की शर्त पर होगा। तीस-चालीस के दशक में उसी नये मनुष्य के सम्भावित विकास को लेकर इस देश में कई स्तुतिगान लिखे जा रहे थे। बाद में हमारे जैसे बहुतों को यह निश्चय हो गया था, जो अपने प्रारम्भिक यौवन में यह सोचा करते थे कि एक कम्युनिस्ट का अर्थ ही है एक आदर्श, खाँटी मनुष्य और उसी का नाम है एक नया मनुष्य। पूर्व उल्लेखित समरसेन के फुटकर लेख के समय ही 'द टाईम्स मैगज़ीन' जैसी पत्रिका के अगस्त २७, १९६१ के अंक में किसी प्रत्यक्षदर्शी लेखक यूरी ब्रेनफेन ब्रेनर का 'चेलेंज ऑफ़ द न्यू सोवियत मेन' (नये सोवियत मनुष्य की चुनौती) शीर्षक से लिखा गया निबन्ध प्रकाशित है।

रशिया में वैसा मनुष्य समरसेन को देखने नहीं मिला, किन्तु उसके पच्चीस वर्ष से भी काफ़ी पहले रवीन्द्रनाथ ने रूस जाकर क्या देखा था? अपने इस जन्म के 'तीर्थ दर्शन' यात्रा विवरण में उन्होंने जिन सब अनुभवों की बात कही थी, उसमें उन्हीं शब्द बन्धों का प्रयोग न करने पर भी, एक भिन्न प्रकार के मनुष्य की अर्थात् मनुष्य होते जाने की ही बात, उन्होंने बड़े उत्साह के साथ बार-बार कही थी। टुकड़ों-टुकड़ों में यह बात अनेक पत्रों में इस प्रकार व्यक्त हुई है :

> इनके चित्त के जागरण और आत्ममर्यादा के आनन्द को मैंने सर्वत्र लक्षित किया है।(१)*
>
> धन का गौरव है और निम्नश्रेणी का पूर्ण अभाव है।(२)
>
> इन कुछ वर्षों में ही ये सच्चे मनुष्य होते जा रहे हैं।(४)
>
> जो मूक थे उन्हें अपनी बात कहने के लिए भाषा मिल गयी है और जो मूढ़ थे उनके चित्त से (अज्ञान का) आवरण हट गया है। (६)
>
> जो दुर्बल थे उनकी आत्मशक्ति जाग गयी है।(६)
>
> उनके खेतों की फसल मन की फसल के साथ-साथ विकसित हो रही है।(६)
>
> इनकी शिक्षा सिर्फ़ पोथी वाली शिक्षा नहीं रह गयी है।(६)
>
> उनके मुख से ही सुना है रवीन्द्रनाथ का यह आत्मविश्लेषण : 'हम लोग नये युग के सृजन में लगे हुए हैं... इसके लिए हम चरमान्त त्याग स्वीकार करने को राज़ी हैं।(१)

*संख्याएँ उनके ग्रन्थ 'रूस की चिट्ठी' के अध्याय की सूचक हैं।

मनुष्य का व्यवहार सहज एक-दूसरे से कितना अचरजभरा है।(२)
यहाँ रवीन्द्रनाथ ने जिस शब्दावली का प्रयोग किया है, उसे हम लक्षित करना चाहते हैं। चित्त का जागरण, आत्ममर्यादा, आत्मशक्ति, मन की कृषि, मनुष्य के परस्पर व्यवहार में सहजता, पोथियों में पढ़ी शिक्षा नहीं, चरमान्त त्याग का स्वीकार। मनुष्यत्व को रवीन्द्रनाथ जैसा समझते थे अथवा उसे जिस रूप में खोजते फिरते थे, उसके प्रायः सभी सूत्र यहाँ मिल जाते हैं। इन सभी गुणों को लेकर रवीन्द्रनाथ की भाषा में 'ये लोग कुछ वर्षों में ही मनुष्य हो उठे हैं।'

ये सब शब्द अथवा इन्हीं जैसे शब्दों का प्रयोग हमें शान्तिनिकेतन के प्रारम्भिक युग में मास्टर मशाई को लिखे रवीन्द्रनाथ के पत्रों में बार-बार मिलता है। कुछ दिनों के लिए दूर जाने पर भी आश्रम के बच्चों को गढ़ने-सँवारने को लेकर उनकी चिन्ता व्यक्त होने लगती थी। 'मन को चारों ओर से उद्‌बोधित करना', 'बिना किसी आलस्य के आत्मशक्ति पर निर्भर करना', 'परस्पर सम्पर्क को सहज और सदृश्य बना लेना'। उनके यही सब वाक्यांश रूपान्तरित होकर जिस रूप में रूस की चिट्‌ठी में बार-बार आते हैं, इसे हम भलीभाँति समझ सकते हैं। इन्हीं सब लक्षणों को देखकर रवीन्द्रनाथ को लगा था, 'ये लोग सच्चे अर्थों में मनुष्य हो उठे हैं, इन्हीं कुछ वर्षों में'। सोवियत संघ के निर्माण के तेरह वर्षों में ही वे इस क्रियापद के प्रयोग में 'मनुष्य हो रहे हैं' नहीं कहना चाहते थे, उन्होंने कहा है, 'मनुष्य हो उठे' हैं।

पच्चीस वर्ष के भीतर ही जो मनुष्य हो उठे हैं, वे क्या कहीं खो गये हैं? अथवा थोड़े समय में सरकार द्वारा नियन्त्रित उस समाज को देखने में रवीन्द्रनाथ ने कुछ जल्दबाजी की थी? इस प्रश्न को उठाते समय हमें इतना याद अवश्य रखना होगा कि उपर्युक्त उत्साहपूर्ण बातों के साथ-साथ उन्होंने एक महत्त्वपूर्ण बात और कही थी। उन्होंने कहा था, ''शिक्षा विधान को लेकर इन्होंने एक साँचा बनाया है किन्तु साँचे में ढालकर बनाया गया मनुष्यत्व कभी जीवित नहीं रहता है।''

वह साँचा कितना कठोर था, इसका अन्दाज़ उस देश के तत्कालीन विशिष्ट शिक्षाविद् ए.एस. मेकरेन्को की पुस्तकों जिनमें सबसे अधिक पढ़ी जाने वाली पुस्तक 'ए बुक फॉर पेरेण्ट्स' में सोवियत समाज के लिए निर्देश दिया गया था कि किस तरह से बच्चों को उनके माँ-बाप तैयार करेंगे । माँ-बाप की स्नेह दृष्टि की अपेक्षा राष्ट्र के शासकों की दृष्टि वहाँ बड़ी समझी जाती थी। इस पद्धति से हर व्यक्ति का स्वतन्त्र विकास कैसे हो सकता है, यह चिन्ता का विषय है।

शान्तिनिकेतन के शिक्षकों को लिखी गयी जिन बातों का थोड़ा पहले मैंने उल्लेख किया है, उनके साथ एक और महत्त्वपूर्ण बात थी। क्षितिमोहन सेन को उन्होंने १९०९ ईस्वी में लिखा था : अध्यापकों और छात्रों, दोनों पक्षों में थोड़ी दूरी बने रहना आवश्यक है क्योंकि ' रातदिन अध्यापकों की नज़र में रहने के कारण अपने आचरण के सम्बन्ध में छात्रों का स्वतन्त्र दायित्त्व-बोध दुर्बल हो जाता है।' अथवा इसके दो वर्ष बाद अजित कुमार चक्रवर्ती को उन्होंने लिखा थाः 'विचार को कानून के आगे ज़िबह मत करो। सारे कामों के भीतर मन नाम की वस्तु को जगाये रखो, सिर्फ़ विधि-विधान नहीं। ठेलकर चलाना ही बड़ा न हो जाए, साधना ही बड़ी हो और उसके बड़ा बने रहने के लिए ही हमारे मन में तागीद बनी रहे, सिर्फ़ कर्म के द्वारा कोई चीज़ निर्माण के रूप में दिखाने के लिए नहीं।'

यह है साँचे का विरोध। 'हो उठने के लिये'- ये तीन शब्द यहाँ सर्वाधिक अर्थपूर्ण हैं, स्वतः प्रेरित इस 'हो उठने' को ही थोड़ी दूरी रखकर चलाना पड़ता है। इसके विपरीत जाने पर वह मशीनी शिक्षा हो जाती है, जिस मशीन शब्द का

प्रयोग निषेधात्मक रूप से रवीन्द्रनाथ ने बार-बार किया है। 'रूस की चिट्ठी' पुस्तक में रवीन्द्रनाथ ने लिखा था- 'मन के सजीव तत्त्व के साथ यदि विद्या का तत्त्व नहीं मिलता है तो या तो मनुष्य का मन जड़ हो जाएगा अथवा वह किसी यन्त्र से निर्मित कठपुतली भर हो जाएगा।' एक ओर है यन्त्र निर्मित पुतली और यान्त्रिक शिक्षा तथा दूसरी ओर है स्वभाव के माध्यम से 'हो उठना', बनते जाना। सहज रूप से उस 'हो उठने' में ही रवीन्द्रनाथ अपने मत के अनुसार नये मनुष्य को खोज रहे थे।

(२)

'होना' नामक एक छोटा-सा लेख है 'शान्तिनिकेतन' नामक प्रवचन शृंखला में।* केवल उसी लेख में नहीं, उनके और भी अनेक लेखों में इस 'हो उठने' का समावेश हुआ है। 'हो उठने' की धारणा क्या है, इसकी विवेचना आवश्यक है। मनुष्य केवल अपना ही अतिक्रमण कर 'हो उठना' चाहता है। इस क्षण वह जो नहीं है, उसी दिशा में बढ़ना चाहता है। किसी सम्पूर्णता की एक धुँधली धारणा उसके मन में बनी रहती है, वह सिर्फ़ उसी दिशा में आगे बढ़ना चाहता है। यहाँ मैं जिस सम्पूर्णता की चर्चा कर रहा हूँ, उस व्याख्यान में रवीन्द्रनाथ ने उसके लिए 'ब्रह्म' शब्द का प्रयोग किया है। पचास वर्ष की उम्र में पहले जिसे उन्होंने 'ब्रह्म' कहा था, जीवन के उत्तरार्ध में उनके हाथों पड़कर वही शब्द भिन्न भी हो सकता है, यह विचारणीय बात है, जैसे, कभी वही शब्द 'देवता' हो गया, कभी ' सर्वजनीन मनुष्य'। 'शेषकथा' नामक जो कहानी उन्होंने लिखी थी, अपनी मृत्यु के लगभग दो बरस पहले, उस कहानी में अचिरा से उसके अध्यापक बाबा ने कहा था, 'दुनिया में मनुष्य बर्बर जन्तुओं की अवस्था में है। केवल तपस्या के द्वारा ही वह मनुष्य बन सकता है और भी तपस्या उसके सामने अवस्थित है, उसे स्थूलता को वर्जित करना होगा, तभी वह देवता बन सकेगा'। पुराणों में देवता की कल्पना है, किन्तु अतीत काल में देवता नहीं था, भविष्य में देवता की कल्पना की गयी, मनुष्य के इतिहास के अन्तिम अध्याय में।

यह तपस्या वाली बात इसके सात वर्ष पहले लिखी गयी उनकी पुस्तक मानव धर्म की भूमिका में भी थी-

''जो हमें त्याग की ओर, तपस्या की ओर ले जाता है, उसी को मैं मनुष्यत्व, मानव धर्म कहता हूँ।... जो मनुष्य की व्यक्तिगत सत्ता का अतिक्रमण कर जाता है, वह सर्वजनीन, सर्वकालीन मनुष्य हो जाता है।''

ब्रह्म कहूँ, देवता कहूँ, फिर सर्वजनीन, सर्वकालीन मानव ही कहूँ अथवा धुँधली-धुँधली एक सम्पूर्णता की बात कहूँ, उसी दिशा में धीरे-धीरे क्रमशः जो मनुष्य का इतिहास चला जा रहा है, इस पर भरोसा कर, हो सकता है आज बहुत से व्यक्ति न नुच करेंगे अथवा इसे अस्वीकार कर देंगे। संसार भर में आत्मतन्त्र का भयंकर विस्तार है, सर्वत्र प्रदूषित परिवेश है, सामाजिक अथवा राष्ट्रीय हिंसा का निरन्तर प्रवाह है, ... अपने चारों ओर यह सब देखते-देखते 'त्याग' अथवा 'तपस्या' जैसे शब्द आज हास्यास्पद लग सकते हैं। एक दृष्टि से यह बात ठीक भी है। यहाँ पर ठीक-ठीक यह प्रश्न भी उठ सकता है कि यदि हीरोशिमा-नागासाकी की दुर्घटना के अनुभव के बाद भी रवीन्द्रनाथ जीवित रहे होते तो क्या वे 'सभ्यता का संकट' लेख के अन्तिम परिच्छेद में कही गयी विश्वास की अन्तिम बात कह सकते थे। हाईड्रोजन बम के युग में पहुँचकर गत शताब्दी के पाँचवें दशक में एक दार्शनिक ने लिखा था 'इतिहास के तीन अध्याय' : (१) जब सभी मनुष्य मरणशील हों, (२) जब अनेक मनुष्यों को मरना पड़ता है और (३) जब पूरे मानव

*शान्तिनिकेतन खण्ड-१, पृष्ठ-२३२, संस्करण १९७२, विश्वभारती-अनुवादक-दृष्टव्य,शान्तिनिकेतन, हिन्दी अनुवाद, भाग-२, पृष्ठ-१६०, सस्ता साहित्य मण्डल, २०१४.

समाज को ही नष्ट होना पड़ता है। हम लोग इसी तीसरे युग में आ पहुँचे हैं। यही गुण्टर एण्डर्स ने लिखा था, 'आखिर इतिहास का भविष्य क्या है?' इस प्रश्न के उत्तर में बीस बरस पहले चॉम्स्की ने कहा था- पर्यावरण को हम लोगों ने ऐसा बना डाला है कि दो सौ बरसों के भीतर जल-प्रलय में ही दुनिया के अधिकांश मनुष्य लुप्त हो जाएँगे। इस विषय में प्रतिरोध की कोई भावना न रखकर किसके इतिहास को लेकर हम चिन्ता करने जाएँगे? छह बरस पहले भी अम्बर्टो इको ने कहा था : जल सूखता जा रहा है, वायु प्रदूषित होती जा रही है, ऋतुचक्र में बदलाव के साथ विनाश लेकर आ रहा है तापमान, मानो आग के बीच से ही होकर हम चले जा रहे हों। इसके बाद भी यह विश्व पुनः जाग जाएगा या नहीं इस प्रश्न का हमारे लिये अब कोई मायने नहीं रह गया है, क्योंकि हमारा अस्तित्व ही नहीं रह जाएगा। टॉयनबी ने लगभग चालीस बरस पहले कहा था , विज्ञान और सूचना प्रयोग में समग्र प्रगति सम्भव है, किन्तु समष्टिगत रूप से सामाजिक अथवा आत्मिक नामक कोई और वस्तु नहीं हो पाएगी। अगर ऐसा ही होता है तो फिर मनुष्य का इतिहास मनुष्य के किस धर्म की ओर आगे बढ़ेगा।

ये सब प्रश्न ठीक ही हैं, किन्तु इनके साथ यह भी ठीक है कि बारह बरस पहले भी अपनी आत्मकथा के अन्तिम वाक्य के रूप में इतिहासकार होव्स्वोय ने लिखा थाः 'दुनिया कोई अपने आप ही ठीक नहीं हो उठेगी, इस विपरीत समय में भी सामाजिक अन्याय की भर्त्सना और उसके विरुद्ध संघर्ष करने की आज भी आवश्यकता है।' विश्वभर के कोने-कोने में बिखरे ऐसे व्यक्ति आज भी नज़र में आना सम्भव हैं- निश्चय ही सभी की नज़र में ज़रूर ही होंगे- जो आज भी विच्छिन्न एकाकी, अपने में मग्न अनेक जीवन को देखने में समर्थ हैं- अपनी निजी दृष्टि से नहीं, अपने को तटस्थ रखकर किसी एक बड़े स्वप्न की दृष्टि से। सिर्फ़ यही नहीं कि देखते हैं बल्कि उसकी ओर निरन्तर वे काम भी करते जा रहे हैं। जिस श्रेय की बात रवीन्द्रनाथ कहा करते थे कि हमारा अस्तित्व ऐसा है जैसे सती चली जा रही हो शिव की ओर। अर्थात् हम आज जैसे हैं, उस स्थिति से आगे हमें जैसा होना चाहिए, हम उसी दिशा की ओर अर्थात् श्रेय की ओर जाने की कोशिश करते हैं। उसी दिशा में अभिमुख मनुष्य आज भी हमारी नज़र में न पड़ते हों, ऐसा नहीं है। टॉयनबी ने भी उनके बारे में कहा हैः किसी-किसी व्यक्ति का अपने आप पर पूर्ण नियन्त्रण होता है। ऐसे मनुष्यों के अस्तित्व की कथा उसने कही है। वह अगर सत्य है तो हम यह भी कह सकते हैं- एक व्यक्ति, दो व्यक्ति और चार व्यक्तियों के लिए जो सत्य हो सकता है, अन्ततः बहुतों के लिए 'वह हो उठना' एक दिन सत्य क्यों नहीं सम्भव होगा।

अगर हम यह आशा करना चाहते हैं कि ऐसा ज़रूर घटित होगा तो फिर हमें सबसे पहले यह जान लेना चाहिए कि 'हो उठना' कहने का आखिर अर्थ क्या है, ठीक-ठीक हम क्या होना चाहते हैं, किस तरह से होना चाहते हैं। छोटी उम्र में स्कूल-कॉलेज के जीवन में अक़्सर एक-न-एक बार इस प्रश्न का सामना करना पड़ता है। जैसे-जैसे दिन बीतते जाते हैं, यथार्थ आवश्यकता पर आधारित इस प्रश्न का उत्तर हमें निश्चय ही मिलता जाता है। बड़े होना तो सभी चाहते हैं, ख्यातिवान होना भी पर क्या व्यक्तित्त्व में उस प्रतिष्ठा, ख्याति अथवा बड़ेपन की भावना निहित रहेगी? कितनी अर्थसम्पत्ति मिलती है इसमें, इसकी सम्भावना में, व्यक्तिगत उत्थान और स्वच्छन्दता के निजी स्वप्न में। उस 'होने' के माध्यम से हम निश्चय ही टॉयनबी द्वारा बताये गये सामाजिक-आत्मिक विकास के पथ पर नहीं पहुँच पाएँगे। हमारे चाहने के मध्य अगर अपनी वैयक्तिक सीमा को पार कर जाने का कोई स्वप्न अथवा प्रत्यय न रहे, तब फिर हमारा पाना अथवा होना एक खण्डित, पंगु, कटा हुआ, यहाँ तक कि विकृत पाना या होना होगा। उसी होने की ओर आज पूरा विश्व एक उन्माद ग्रस्त की तरह माना जा रहा है। इसके विरुद्ध खड़े होने की दिशा में, खड़े होने को प्रेरित करने के लिए १९१९ ईस्वी में श्री हट्ट के एक कॉलेज हॉस्टल के छात्रों के सामने रवीन्द्रनाथ ने कई

बातें कहीं थीं। उनमें एक यह बात भी थी कि किस तरह से बड़ी आकांक्षा को साकार करना होगा, मनुष्य को यह बात सीखनी होगी, मनुष्य की जो वासनाएँ होती हैं, उन्हें अपनी क्षुद्र स्वार्थ सिद्धि के लिए बड़ी करने से मनुष्य बड़ा नहीं होता है, छोटा हो जाता है। मनुष्यत्व होता है आकांक्षा के औदार्य में, आकांक्षा की पूर्ति के लिए किए जाने वाले दुःसाध्य अध्यवसाय में, महत् संकल्प की युर्जेयता में।

आकांक्षा और वासना एक के बाद एक इन दो शब्दों के प्रयोग से हमें याद आ जाता है, इसके चार वर्ष बाद लिखी 'रक्तकरबी' में फागुलाल-चन्द्रादेव से कहा गया विशु का वही संवाद; ''कह रहा हूँ, बड़े ध्यान से सुनो, पास में पाने को लेकर वासना का जो दुःख होता है, पास का होने के कारण वह पशु का हो जाता है, दूर जाने को लेकर आकांक्षा का जो दुःख होता है, इसीलिए वह मनुष्य का होता है।''

तो फिर इच्छा की अभिव्यक्ति इन दो विपरीत शब्दों अर्थात् वासना और आकांक्षा के द्वारा हुई है। अपने लिए, पास के लिये, शरीर के लिये चाहना- यह है वासना। सबके लिये, दूर के लिये, हृदय-मन के लिए चाहना- यह हुई आकांक्षा। स्वभावतः ही दोनों को इस तरह भिन्न करने में एक नीति-बोध की बात तो आ ही जाती है, एक प्रकार के मंगल की बात, शिव की ओर सती के चलते जाने की बात। जो इच्छा आकांक्षा होना चाहती है, उस इच्छा को रवीन्द्रनाथ ने तभी तो नाम दिया है दस जनों की इच्छा, कभी विश्वव्यापी इच्छा अथवा कभी अनन्त की इच्छा का। इस अनन्त की धारणा तक पहुँचने में अवश्य सिर्फ़ नीति-बोध ही नहीं है, इसमें सौन्दर्य बोध की भी एक अवस्थिति बनी रहती है। जो विराट है, उस सुन्दर के सामने खड़े होते ही अन्ततः थोड़े समय के लिए ही क्यों न हो, हमारा मन समस्त संकीर्णताओं से मुक्ति पा लेता है, आकांक्षा में उस सुन्दर का भी प्रसंग, उसकी भी कथा आ जाती है। यहीं पर अवस्थित होते ही सहसा हमें याद आ जाता है कि जैसे हमारी इस दुनिया की भी कुछ हो उठने की बात थी, इसलिए हमें भी कुछ होना चाहिए। इसी समय आकांक्षा भी आगे बढ़ जाती है आँखों के उन आँसुओं की ओर अथवा कभी-कभी उसी आकांक्षा में बद्ध मन, 'रक्तकरबी' की 'नन्दिनी' ('रक्तकरबी', रवीन्द्रनाथ की नाटिका की एक पात्र) की तरह तीव्र झंकार की तरह कहने लगता है; 'मैं तो कुछ होना ही नहीं चाहता हूँ।' अनूप-उपमन्यु-शक्लू-कंकु आदि लोगों के 'चूसे हुई गन्ने की छोयी की तरह' सूखे चेहरे को देखकर विशु अनजान, व्याकुल नन्दिनी को देखकर समझा रहा था, यह है राजा की अद्‌भुत शक्ति का परिणाम : 'यह अद्‌भुत ही है उसके खजाने का जमा और यह जो किम्भूत तुच्छ पदार्थ है, यही है उसका खर्चा। ये जो तुच्छ वस्तुएँ हैं ये जलकर भस्म होती रहती हैं और ये जो बड़ी हैं, इनकी शिखा जलती रहती है। बड़े होने का तत्त्व यही है।'

नन्दिनीः वह तो राक्षसों का ज्ञान है, उन्हीं का सिद्धान्त है।

अध्यापकः ज्ञान पर इतना क्रोध मिथ्या है। वह न अच्छा है, न बुरा। जो होना है, वह तो होगा ही। उसके विरुद्ध जाने का अर्थ है, होने के ही विरुद्ध जाना।

नन्दिनीः अगर मनुष्य के होने का रास्ता यही है, तो फिर मैं वैसा होना ही नहीं चाहती हूँ...

तो फिर यह हुआ 'होने का'- 'हो उठने का' एक और पथ। तो फिर यह हुआ राक्षसों का सिद्धान्त। राक्षसों के इस सिद्धान्त में विकास के, उन्नयन के इस सिद्धान्त में दुनिया आज ग्रस्त है, उसी से आक्रान्त है। बड़े की अग्निशिखा में छोटों का जलकर खाक होते रहने का इतिहास ही हमारे वर्तमान के होते जाने का इतिहास है। नदियों पर बनने वाले विशाल बाँधों को एक दिन आधुनिक भारत के मन्दिर कहकर पण्डित नेहरू ने (१९४८) उनका वर्णन किया था और

उन्हीं सब बाँधों अथवा विकास योजनाओं के कारण स्वाधीनता के बाद पचास वर्षों में अन्ततः पाँच करोड़ लोग विस्थापित हो गये। इसी तरीके से केवल छोटे लोग ही राख होते रहते हैं, बड़ों की शिखा, बड़े विकास की आग जलती रहती है। १९५६ ईस्वी में 'रक्तकरबी' नाटिका का अभिनय नेहरू ने देखा था, रक्तकरबी नाटिका को अच्छी तरह पढ़कर १९५८ ईस्वी में (१७ नवम्बर को) एक सभा में उन्होंने कहा था-

'कुछ समय से मैंने यह विचार किया है कि हम लोग वृहद योजनाओं के रोग से पीड़ित हैं, यह विराट योजनाओं की धारणा, भीमकाय का दृष्टिकोण बहुत खतरनाक है, जो आजकल भारत में विकसित हो रहा है।

भीमकाय, विराट आकार के इसी रोग को राक्षसों का सिद्धान्त कहा जाता है। विराट की धारणा, विराट का विचार यही है बड़े का सिद्धान्त। रक्तकरबी को देखने अथवा पढ़ने के साथ नेहरू के इस कथन का कोई कार्यकारण सम्बन्ध सूत्र मैं तैयार नहीं करना चाहता, यहाँ यह कह देना मैं उचित समझता हूँ। विशेष रूप से इस कारण और भी कि इस 'विराट की अवधारणा' अथवा 'विराट की बीमारी' के इस विचार अथवा भीमकायतावाद के इस रोग से वे देश को निकाल लाना चाहते थे, ऐसा नहीं है, वरन् इन उक्तियों के बाद भी बाँध की अनेक योजनाओं का शिलान्यास और उद्घाटन उन्हें करना पड़ा था।

तो फिर नन्दिनी के इस कथन में कि 'मैं वैसी होना नहीं चाहती', एक विशेष अर्थ निहित है और एक अन्य अर्थ को लेकर रवीन्द्रनाथ ने कहा है, 'छोड़ते-छोड़ते, बढ़ते-बढ़ते, मरते-मरते, जीते-जीते मैं केवल कुछ बनूँगा, कुछ होऊँगा।' इस वाक्य के शब्दों की आवृत्ति, शब्द परम्परा देखने की चीज़ है। छोड़ते-छोड़ते के बाद ही बढ़ते-बढ़ते, मरते-मरते के बाद ही जीते-जीते। इसका अर्थ यह है कि छोड़ने के बाद ही बढ़ पाना, बड़ा हो उठना? मरने के बाद ही बच पाना सम्भव है? किन्तु इस बात का अर्थ क्या है? इसका अर्थ यह है कि हम अपने वैयक्तिक अंश को जितना छोड़ पाएँगे उतने ही बड़े हम वैश्विक पृष्ठभूमि में हो पाएँगे और मरते-मरते का क्या अर्थ है? हमारे स्वार्थ का अंश जितना मिट जाएगा, विश्वोन्मुख होकर हम उतने ही जीवित हो उठेंगे।

किन्तु इस छोड़ने में, त्याग स्वीकारने में एक प्रकार का दुःख भी तो अवस्थित रहता है। सचमुच में 'हो उठने' का भी तो दुःख एक अपरिहार्य सम्बल है, इसीलिए दुःख है।

३

'रक्तकरबी' नाटक में विशु जब 'दुःख जगाने वाला' गाना नन्दिनी को सुना रहा था, तब नन्दिनी ने विशु से कहा था- 'दुःख का जो गाना तुम गा रहे हो, पहले तो मुझे उसका पता चला नहीं था।' उसकी यह बात सुनकर विशु ने उससे पूछा था, 'क्यों, रञ्जन से उसे नहीं सुना था?' नन्दिनी ने स्पष्ट रूप से कहा था- 'नहीं।' प्रण लेकर, सर्वस्व समर्पण का व्रत लेकर, किस तरह से वह हार-जीत का खेल खेल रहा है, उसकी एक व्याकुल वर्णना में रंजन की हलचल मचाने वाली, प्रेम और अट्टहास पूर्ण हँसी की बात वह बताती है। यह सुनने के बाद विशु एक बार और उसे दुःख का ही गाना सुनाता है, 'ओ चाँद आँखों के जल का ज्वार एक बार पुनः दुःख के पारावार में आ गया है।' असफल प्रेमी विशु के जीवन द्वारा उसके इसी दुःख बोध को हम समझ सकते हैं किन्तु रंजन की ओर से भी दुःख की कोई ख़बर न पाने से विशु के उस विस्मय का कारण ठीक-ठीक क्या है? क्यों उसे ऐसा लग रहा था कि रंजन से ही दुःख बोध की सूचना नन्दिनी को मिलनी चाहिए थी? क्योंकि विशु को पता है, सच्चे प्रेम के पात्र एक-दूसरे को पूर्णता की ओर ले जाते हैं और जीवन की उस पूर्णता के बोध में दुःख एक अनिवार्य और मूल्यवान अभिज्ञता है, विरहवेदना ही

एक मात्र दुःख बोध नहीं होती है। दुःख के साथ जिसकी जान-पहचान नहीं होती है, जीवन को भी वह पूरी तरह नहीं जान पाता है और जीवन के पूर्ण बोध तक जो नहीं पहुँचा पाता है, वह पूर्ण प्रेम भी नहीं होता है। विशु के विस्मयबोध का वही कारण था।

यह बात कहने का यह अर्थ नहीं है कि यह केवल विशु का ही बोध है, विशु की उस बात के माध्यम से हम रवीन्द्रनाथ के ही विश्वास की बात सुन पा रहे हैं। अपूर्णता को अगर हम दुःख कहते हैं और पूर्णता को आनन्द, तो फिर चिर अपूर्णता का वह दुःख हमारे जीवन में नाना स्तरों पर काम करता रहता है। वहाँ पर क्या अपूर्णता पूर्णता की विरोधी है? ऐसा नहीं है, वह पूर्णता के विकास का ही भाग है। अर्थात् क्रमशः अपूर्णता के माध्यम से होकर हम पूर्णता की ओर बढ़ सकते हैं, अगर हम बढ़ना चाहते हों। हम भी मानो क्रमशः उस दुःख से होकर अन्त तक एक आनन्द बोध में पहुँच जाएँगे और वही होगा मेरा होना, हो उठना। एक गीत के उपमान के द्वारा रवीन्द्रनाथ ने इस बात को समझाया था।

'गीत जब चलता रहता है, जब वह सम पर आकर समाप्त नहीं होता है, तब वह पूर्ण नहीं होता है यह सच है, किन्तु वह गीत के विरुद्ध भी नहीं जाता है, उसके अंश-अंश में उसी गाने का पूर्ण आनन्द तरंगित होता रहता है।' चूँकि हमारा जीवन पूर्ण नहीं है, वह किसी पूर्णता की ओर चलता भर रहता है, इस बोध अथवा विश्वास से पथ पर चलने का दुःख हमारा पाथेय हो सकता है। तब हमें ऐसा लगने लगता है कि सुख ही हमें जड़ बना देता है, एक ठूँठ जैसा बना देता है, तब ऐसा लग सकता है कि 'सुख की क्लान्ति अब और सहन नहीं होती है' और इसीलिए मैं चाहता हूँ, सुख में आप हमें क्यों रखे हुए हैं, अपनी गोद में रखो ना।' यह गोद दुःख-संघात से पूर्ण जीवन की गोद है। यह जीवन नित्य बाधाग्रस्त होता रहता है और उस बाधा का दुःख क्या करता है? वह हमारी चेतना पर तीव्र आघात कर हमें ले जाता है हमारे ही भीतर अवस्थित एक 'मैं' के पास। यह आत्मबोध ही आनन्द है।

ऐसा नहीं है कि अकेले रवीन्द्रनाथ ने ही यह बात कही हो। यह बात और भी कई लोगों ने कही है। १९०८ ईस्वी में उन्होंने लिखा था, 'दुःख के द्वारा ही हम अपनी आत्मा को गम्भीर रूप में प्राप्त कर पाते हैं' और स्पेनीय कवि-दार्शनिक उनामूनो ने १९१२ ईस्वी में लिखी अपनी ''ट्रेंजिक सेन्स ऑफ लाईफ़'' पुस्तक में कहा था, ''दुःख ही है हमारे चैतन्य पाने का मार्ग, इसके द्वारा ही मनुष्य अपने आत्मबोध पर अधिकार कर सकता है। अगर यह आत्मबोध अर्जित करना हो, व्यक्तित्व अर्जित करना हो तो फिर दूसरों से स्वतन्त्र रूप में अपने को पहचानना होगा और वह स्वातन्त्र्य चेतना तैयार हो सकती है, अपनी सीमाबद्धता के बोध से, दुःख के बोध से। अगर हमें दुःख न मिले तो हम यह कैसे जानेंगे कि हमारा भी अस्तित्व है, कैसे लौटेंगे अपने आत्म की ओर? सुख में तो हम अपने को भूल जाते हैं, भूले रहते हैं, अपनी ओर हम केवल दुःख-बोध के द्वारा ही लौट सकते हैं।

उनामूनो के उपर्युक्त कथनों से हमें रवीन्द्रनाथ की बात याद आ सकती है, किन्तु रवीन्द्रनाथ ने इसके साथ यह भी कहा था कि अपना यह दुःख-बोध अन्य सबके दुःख के साथ सहभागी होना भी सिखा देता है। तब वह यह भी समझ जाता है कि अगर हमारा दुःख चला भी जाये तो संसार से दुःख दूर नहीं होता है।... केवल अपने भीतर ही नहीं दुःख को अपनी उस विराट बंगभूमि के भीतर भी देखना होगा।''

यक्षपुरी में आने के बाद नन्दिनी के समक्ष जब परत-दर-परत चारों ओर का जीवन उद्घाटित होने लगेगा, जब वह अनूप-उपमन्यु-शकलू-कंकु आदि के रक्त चूसने से निष्प्राण हो जाने की आहट पाएगी अथवा देख लेगी, रक्त चूसने के बाद गज्जू पहलवान के शरीर की अमानवीय स्थिति, विशु का कलंक, रंजन-किशोर की हत्या, तभी वह सभी

व्यक्तियों के दुःख-बोध के द्वारा पूर्णता प्राप्त कर पाएगी। तभी वह कह पाएगी : ''राजन, अब समय आ गया।... अपनी सारी शक्ति के द्वारा अब मेरा तुम्हारे साथ संघर्ष होगा।''

दुःख को इतना महत्त्व देने की बात पर एक प्रश्न अवश्य उठ सकता है। खाने-पीने और पहनने-ओढ़ने के अभाव के कारण जो व्यक्ति उपेक्षा का दंश भोग रहा है, जिसका घर-बार सब नष्ट हो गया हो, उसके समक्ष उपस्थित दुःख को बड़े होने का सम्बल मानने में निश्चय ही क्या एक अन्याय, एक आसक्तिहीन निष्ठुरता नहीं है? हाँ, वह तो अवश्य है इसीलिए उस दुःख को आत्मसात कर, उसके निराकरण की बात मनुष्य को सोचनी पड़ती है, तब वह दुःख भिन्न अर्थ लेकर हमारे सामने आकर खड़ा हो जाता है। उस दुःख की बात सोचकर रूस की चिट्ठी का एक वाक्य यह रूप धारण कर लेता है : 'बुद्धि का साहस एवं जनसामान्य के प्रति दर्द की अनुभूति इन दोनों का अभाव होते ही दुःखी का दुःख हमारे देश में दूर करना इतना कठिन हो गया है। चौरासी बरस होने को हैं, फिर भी यह बात हमारे देश में अवश्य सच बनी हुई है। रूस में घूमते-घूमते (हाँ, सिर्फ़ उसी समय ज़रूरी नहीं) सिर्फ़ अपने देश में किसानों की स्थिति क्या है, उसी के बारे में सोचता रहा।' 'घरे-बाइरे' (घर-बाहर) उपन्यास में प्रिय वियोग के दुःख से जब निखिलेश को उसका मन्दिर सूना लग रहा था, आत्मधिक्कार की भावना से तब उसकी यही कहने की इच्छा हो रही थी, 'मन्दिर शून्य है, यह कहते हुए लज्जा नहीं लग रही है? तुम्हारा इतना बड़ा मन्दिर किसके कारण शून्य हो गया?' इतने बड़े मन्दिर की वह चिन्ता उसे जोड़ देती है पंचू लोगों के अस्तित्व-हीन उस जगत् से जहाँ भूख से कृश, अज्ञान के कारण अन्ध और अवसाद से दीन एक पीड़ित धरती पड़ी हुई है। उसे याद आ रहा है, एक दिन विमला के साथ मिलकर उसने एक स्वप्न देखा था, देश के दुःख को जड़ से उखाड़ने के काम में लगेगा। तब उसे ऐसा बोध हुआ था, जो दुःख विश्व का है वही तो मेरे गले की माला है। अर्थात् उसका भार लेने से ही तो वह अपने व्यक्तिगत दुःख को भूल सकता है।

समाज में यह दुःख-बोध अगर तीव्र हो जाए और उस दुःख-बोध से समाज अगर संगठित हो जाए तो उसमें भी एक शक्ति का संचार हो जाएगा, पलटकर खड़े होने की शक्ति।

टोकियो में कोरिया के एक युवक ने रवीन्द्रनाथ के एक प्रश्न के उत्तर में कहा था : 'असहायों का दल आज दुनिया भर में है, दुःख ही उन्हें मिलायेगा- जो धनी हैं, शक्तिमान हैं, वे अपने-अपने लोहे के समुद्र और सिंहासन के चारों ओर अलग-अलग होकर रहते हैं, वे कभी मिल नहीं पाएँगे। कोरिया का बल तो उसके दुःख का बल है।' इस पर रवीन्द्रनाथ ने कहा थाः 'दुःखी व्यक्ति आज मनुष्य की रंगभूमि में अपने को विराट रूप में देख पा रहे हैं, यही बड़ी बात है।' तो फिर यह दुःख भी दुःख को दूर करने की एक श्रद्धेय शक्ति के पास पहुँचा सकता है।

गौतम बुद्ध के विशेष अनुरागी थे रवीन्द्रनाथ। बौद्ध धर्म में जिन चार आर्य सत्यों की चर्चा की गयी हैं, वे इस प्रकार हैं, दुःख, दुःख समुदाय, दुःख निरोध और दुःख निरोध के उपाय। इस उपाय की खोज ही हमें पहुँचा सकती है निर्वाण की एक विशेष धारणा तक। बुद्धदेव के अनुरागी रवीन्द्रनाथ इस तत्त्व-बोध में से उसकी निषेधात्मक दृष्टि को अलग कर इसकी जो सकारात्मक दृष्टि है, सकारात्मक दिशा है उसी की ओर इंगित करना चाहते हैं (निगेटिव और पॉजीटिव इन दोनों शब्दों का प्रयोग रवीन्द्रनाथ ने ही बुद्धदेव के प्रसंग में किया है)। उन्होंने कहा हैः 'अगर दुःख दूर करना ही चरम बात है तो फिर वासना-लोप के द्वारा, अस्तित्व- लोप कर देने से ही संक्षेप में काम शेष हो जाता- किन्तु फिर मैत्री की साधना क्यों? मृत्युदण्ड का विधान ही जिस पर लागू है फिर उसके मन में प्रेम क्यों, दया क्यों?' इस प्रकार के सिद्धान्त के प्रेम पक्ष को ही यथार्थ रूप में उन्होंने दिखाना चाहा है, निर्वाण-प्राप्ति को नहीं, किन्तु वह

प्रेम आखिर करता क्या है? वह दूसरे के दुःख को समझना चाहता है। दूसरे के दुःख निवारण के प्रयास में, स्वयं दुःख वरण करने की साधना भी वह कर सकता है, वही है प्रेम।

किन्तु कौन-कौन-सा दुःख? बौद्ध धर्म में आठ प्रकार के दुःख की बात कही गयी है। पहले चार हैं, जन्म, व्याधि, जरा और मृत्यु और शेष चार हैंः प्रिय, विप्रयोग, अप्रिय सम्प्रयोग, ईप्सित वस्तु की अप्राप्ति और पन्चेन्द्रियों द्वारा ग्राह्य वस्तुएँ। पन्चेन्द्रियों द्वारा जो कुछ गाह्य है, उसे दुःख जनक मानना रवीन्द्रनाथ के लिए सम्भव नहीं है, जिस तरह से जन्म को ही दुःख के मूल कारण के रूप में मान लेना। संसार में जन्म लेकर न रहना ही सबसे अच्छा होता, यह कहना अथवा दुनिया में न आते, यह अनुभव करना उनके लिए सम्भव नहीं था और शेष अन्य जो दुःख हैं, उन्हें त्याग कर नहीं, बल्कि उन्हें वहन करना, उनके साथ सामंजस्य बनाना, उन्हें स्वीकार कर, मानकर चलने की बात उन्होंने सोची थी। 'योगायोग' उपन्यास में निप्रदास ने कुमू से कहा थाः 'दुःख से बचने की चेष्टा करने पर और दुःखग्रस्त हो जाता हूँ।' उसे बलपूर्वक मानना होगा।

जिन सब दुःखों की चर्चा यहाँ की गयी हैं, उनमें प्रियजन विच्छेद अथवा विरह की भी बात है, किन्तु और एक बड़े विच्छेद की बात उनमें नहीं है, वह है पूर्णता से विच्छेद की बात। 'ईप्सित वस्तु की अप्राप्ति' की बात से ही इसे पूरी तरह नहीं समझा जा सकता है, क्योंकि, वहाँ 'ईप्सा' अथवा उसकी वस्तु, इनमें से कोई भी स्पष्ट नहीं है। इस विवेचना में प्राप्ति में भी जो अप्राप्ति की वेदना बनी रहती है उसकी बात नहीं है, स्वयंवरण किए गए अकेलेपन की बात नहीं है। 'शेष कथा' कहानी के पाठान्तर 'छोटी कहानी' में एक विचार है, ''पुरुष जहाँ पर असाधारण है, वहाँ पर वह निपट अकेला होता है, उसकी निःसंगता अत्यन्त दारुण होती है क्योंकि उसे जाना होता है, वहाँ जहाँ और कोई पहुँचता नहीं है।' इस वाक्य का 'पुरुष' शब्द अवश्य रवीन्द्रनाथ का पीछे खींचने वाला एक परिचय है, सम्भवतः यह शब्द 'मानुष' भी हो सकता था, किन्तु यह निःसंग मानुष जब कोई निर्माण करता है, अपनी कोई कलाकृति, विज्ञान, दर्शन या और कुछ ... किसी एक चिर-अलक्षित पूर्णता की चेतना की ओर वह सिर्फ़ चलता रहता है, निःसंग चलते जाने के उस दुःख भार को वह कम तो करना नहीं चाहता है, उस परम अकेलेपन को भी वह नहीं छोड़ना चाहता है। उस समय वह अपने चारों ओर एक तरह की नीरवता चाहता है, तब ऐसा लग सकता है उस नीरवता के लिए, निर्जन 'रात्रि भी जैसे काफ़ी नहीं होती' है।'

इन शेष कई शब्दों को कहा था, रवीन्द्रनाथ से पूरी तरह भिन्न, यहाँ तक कि पूरी तरह विपरीत एक अन्य कथाशिल्पी, फ्रान्ज़ काफ्का ने। उसकी अन्तरंग संगिनी फेलिस्- जिसके लिए वह निरन्तर तड़प अनुभव करता रहता था- उसी सहचरी ने जब उसके लेखन के समय, उसके पास रहना चाहा था, एक पत्र में काफ्का ने लिखा था कि फिर तो वह लिख ही नहीं पाएगा। उस पत्र में उसने कहा था लिखने का अर्थ है, 'अपने सामने अपने को पूरी तरह उद्घाटित कर देना, जहाँ पर अन्य कुछ अथवा किसी अन्य के रहने से ऐसा लगेगा जैसे मैंने अपने को पूरी तरह खो दिया है।' जब कोई लिखने बैठता है, तब वह पूरी तरह अकेला नहीं हो पाता है, यथेष्ट नीरवता उसे घेरकर नहीं रह पाती है, रात्रि भी मानो उस नीरवता की दृष्टि से पर्याप्त नहीं होती है, जितनी उसे ज़रूरत है उतनी यह स्थिति सम्भवतः दुःख की होती है, किन्तु किसी-किसी के लिए यह अवश्य करणीय होती है। सूनेपन के उस दुःख को केवल एक शिल्पी ही जानता है, किन्तु इसके साथ-साथ वह यह भी जानता है :

तबू शून्य शून्य नय

व्यथामय

अग्निवाष्पे पूर्ण से गगन

एका एका से अग्निते

दीप्तगीते

सृष्टिकरि स्वप्नेर भुवन।

अर्थात् वह सूनापन फिर भी शून्य नहीं होता है, व्यथा से पूर्ण होता है, जैसे गगन शून्य नहीं अग्निवाष्प से भरपूर है, एकाकी, एकाकी व्यथा की उस आग से, दीप्त गीतों से मैं स्वप्न का भुवन रचता रहता हूँ।

वह भुवन तैयार हो सकता है शिल्प से, विज्ञान से, धर्म साधना से अथवा अन्य किसी ऐसे ही व्रत से और इसीलिए रवीन्द्रनाथ ने प्रेम में बँधने के बाद भी अमिलन के द्वारा मिलन से दूर रखा हुआ है, एक-के-बाद-एक अपने सभी चरित्रों को- जैसे 'रविवार' कहानी के शिल्पी अभीक को, 'शेषकथा' कहानी के वैज्ञानिक नवीन को, 'चण्डालिका' के धर्मसाधक आनन्द को, 'बाँसुरी' के व्रती सोमशंकर को। ये सभी मानो परिणाम की बात करते रहते हैं। 'शेषकथा' कहानी की अन्तिम पंक्ति में 'पिंजरे से पक्षी बाहर तो निकल आया किन्तु उसके पैरों में एक छोटी-सी जंजीर बँधी रहती है। जैसे ही वह चलता-फिरता है, वह जंजीर बजती रहती है।' लगभग इसी समय लिखे गये एक गाने में 'छिन्न शिकल (जंजीर) पाये निये, ओरे पाखि' (अरे पाखी, छिन्न जंजीर को पैरों में लेकर) और भी स्पष्ट रूप से भीतरी भावना को व्यक्त किया गया है, 'जो पवित्र दुःख है वही तो मुक्ति है, एकाकी निर्मल शून्य के प्रेम में।'

यह निर्मल दुःख ही 'हो उठने' का दुःख है।

४

योगायोग उपन्यास की एक पंक्ति पहले मैंने याद करायी थी। विप्रदास ने उस पंक्ति में कुमू से कहा था- 'दुःख से बचने के प्रयास में हम और दुःखी हो बैठते हैं। उसे प्राणों की शक्ति के साथ स्वीकार करना होगा।' स्वीकार करना होगा क्योंकि 'ऐसे दुःख होते हैं जिन्हें भूलने जैसा दुःख और कुछ होता ही नहीं है' - विशु ने जैसे चन्द्रा-फागुलाल आदि से कहा था। दूसरी ओर 'गीतांजलि' का एक प्रसिद्ध गाना है, 'दुःख यदि ना पावे तो दुःख तोमार घूचवे कवे' दुःख मिटाने की यह बात क्या उससे बचकर चलना है? उस गाने की एकदम सीधी-सरल उक्तियों में कहीं कोई जटिलता क्या रह गयी है। पूरे गीत के पाठ को एक बार यहाँ दे रहा हूँ :

दुःख यदि ना पावे तो दुःख तोमार घूचवे कवे

विष के विषेर दाह दिये दहन करे मारते हवे।

ज्वलते दे तो आगुनाटारे

मय किछु ना करिस तारे

छाइ होये से निमवे यखन ज्वलवे ना आर कमू तवे।

एड़िये ताँरे पालास ना रे घरा दिते होस ना कातर

दीर्घ पथे छूटे छूटे दीर्घ करिस दुःखटा तोर।

मरते मरते मरणारे

शेष करे दे एकबारे।

तर परे सेदू जीवन ऐसे आपन आसन आपनि लवे।

अगर दुःख को कोई अस्तिवाचक दृष्टि से देखना चाहता है, तब उसे एकान्त सामर्थ्य के रूप में ही देखता है, दुःख की अनुभूति जिसके समक्ष सघन अस्मितासूचक है, मुझे अपनी अस्मिता की ओर, 'अहं' की ओर लौटा सकती है। वह शक्ति, जो दुःख को इस रूप में सोचता है, वह उसे मिटाने की बात आखिर सोचेगा क्यों? उसे मरना होगा, भस्म होने के बाद ही उसे बुझना होगा, वह कभी फिर नहीं जलेगी, दुःख के इस चरम अपसरण की बात वह क्यों कहेगा। अगर यह बात सत्य है कि दुःख एवं मृत्यु हमारे सारे चित्त को जाग्रत कर देते हैं, तब फिर दुःख क्यों दूर करना चाहूँगा?

इस उक्ति में और एक समस्या अन्तर्निहित है। अगर हम दुःख मिटाना ही चाहते हैं तो हमें क्या करना होगा? क्या दुःख का वरण करना होगा, उसे पाना होगा। अगर दुःख न मिले तो उसे दूर नहीं किया जा सकता है। तब इसका अर्थ यह निकला कि दुःख के द्वारा दुःख दूर करना होगा, जैसे विष से विष नष्ट होता है, किन्तु एक दुःख आकर अगर दूसरे दुःख को हटा दे, उसे किनारे कर दे, फिर वह दुःख तो बना ही रहा। उसे अपसरित करने के लिए एक और दुःख चाहिए- अगर इसी तरह से दुःख का सिलसिला चलता रहा, यह एक अनन्त चक्राकार सिलसिला शुरू हो जाएगा।

दुःख की आग जलते-जलते एक दिन जलकर भस्म हो जाएगी, तो क्या वह दुःख ही है जो राख हो जाता है। ज़हर से ज़हर नष्ट होने की तरह, इसका अर्थ तो यह हुआ कि उस स्थिति में दुःख का कोई अहसास ही नहीं रह जाएगा? क्या यही काम्य था?

जिस आग को जलाए रखने की बात कही जा रही थी, 'भय किछु ना करिस होरे' तू जरा भी डर मत- इस 'अन्तरा' में इस 'तू' को आग और संचरित, ज्वलित रखने के लिए कहा जा रहा है, 'उससे बचकर भाग न तू' (एडिये ताँरे पालास ना रे) वह 'ताँरे' निश्चय ही दो भिन्न अर्थों में हटकर प्रयुक्त हो रहा है, उस चन्द्रबिन्दु के कारण। दुःख की अग्नि से डरूँगा नहीं और जो परम है, उससे बचकर भागूँगा नहीं। दुःख और परम तत्त्व यहाँ पास-पास आकर मिल गये हैं। मरते-मरते मरण को शेष कर देने पर । इसका अर्थ है दुःख पाते-पाते दुःख को एक बार नष्ट कर देने पर ही सचमुच में जीवन के पास पहुँचा जा सकता है।

मरते-मरते मरण को किस प्रकार शेष किया जा सकता है? 'दुबेला मरार आमे मरव ना' (दोनों ज़ोर मरने के पहले मरूँगा नहीं) इस मृत्यु की बात यहाँ नहीं कही गयी है क्या? मरते-मरते मरने का भय कब प्रभावी नहीं होता है? जब हम हर क्षण की मृत्यु का अर्थात् हर क्षण के व्यतीत होने का अनुभव करते हैं। हर क्षण की यह मृत्यु, उसके बाद जीवन, फिर मृत्यु, फिर जीवन- इस तरह से देखने पर शेष मृत्यु को भी शेष किया जा सकता है मन से।

'पारवी ना कि योग दिते एइ छन्दे रे' (क्या मैं तुम्हारे इस छन्द में योग नहीं दे पाऊँगा)' गीतांजली के इस गान के

एकदम अन्त में है, 'फेले देवार छेड़े देवार मरवारई आनन्दे रे'- 'फेंक देने के, छोड़ देने के, मरने के ही आनन्द में' अँग्रेज़ी में इसका अनुवाद कवि ने इस प्रकार किया था "that seatter and gives up and dies every moment. हर क्षण झरते जाने के इस छन्द के साथ युक्त होने पर ही सम्भवतः यह समझा जा सकता है कि 'मरणवीणार की सुर बाजे तपन-तारा चन्द्रे रे।'- अरे मरणवीणा का कौन-सा सुर झंकृत हो रहा है जलते हुए तारा-चन्द्र में।

पुनः हम वापस आते हैं दुःख के उसी प्रसंग पर। 'दीर्घ पथे छूटे-छूटे दीर्घ करिस दुःखटा तोर'। अर्थात् लम्बे रास्ते पर दौड़ते-दौड़ते तूने अपने दुःख को भी लम्बा बना लिया है- इस पंक्ति का यह 'करिस' क्या आज्ञावाचक है? सम्भवतः नहीं। लम्बे मार्ग पर दौड़ते-दौड़ते दुःख को लम्बा बना लिया है, इससे तो अच्छा यह था कि उसकी पकड़ में आकर तू कातर मत होता, उससे बचकर मत भागता। थोड़ा पहले मैंने कहा था- वह और दुःख दोनों घुल-मिल गये हैं। पुनः हम उन दोनों दुःखों की बात पर आ पहुँचे। दुःख से किनारा कर भागूँगा नहीं, तभी दुःख का निवारण होगा। तब फिर ये दो दुःख निश्चय ही एक नहीं हैं।

यहाँ पर यह बताऊँ कि यह गाना एक बार प्रयोग किया गया था 'अरूपरतन' नाटक के अन्त में, एक गायक दल के द्वारा, नाटक के प्रथम संस्करण (१९२०) में। उस संस्करण के ३९ गाने आजकल प्रचलित संस्करण में से क्यों और कैसे निकाल दिए गए यह पृथक आलोचना का विषय है। यहाँ पर प्रासंगिक बात सिर्फ़ यह है कि 'अरूपरतन' के प्रथम संस्करण के साक्ष्य पर नाटक के अन्तिम अंश में राजा के कारण सुदर्शना के मार्ग में निकल पड़ने के कष्ट के साथ गाने में प्रयुक्त 'तारे (उसे) और राजा के साथ अभीष्ट 'तॉरे' (उसको) सम्भवतः युक्त किया जा सकता है।' चोखेर जल, फेलते-फेलते एसेछि,- कठिन पथ माँगते, माँगते एसेछि' (अर्थात् आँसू बहाते-बहाते आयी हूँ, कठिन मार्ग को पार करते-करते आयी हूँ) सुदर्शना ने कहा था। दुःख पाते-पाते ही वह आयी है। यह दुःख, नित्य पथ पर चलने की यह अभिज्ञता, अगर वह न पाती, तो किस तरह से दूर होता राजा के साथ, पूर्णता के साथ उसका दुःख? अथवा उससे किनारा कर चलने का दुःख? इसीलिए ये दोनों दुःख एक-दूसरे से स्वतन्त्र हो उठते हैं।

यदि इस गाने को सृष्टा के सृजन क्षण (१८ सितम्बर, १९१४) के साथ मिलाकर विचार किया जाए, बाद में किये गये उस प्रयोग की दृष्टि से उस पर विचार न करते हुए, तब हम यह लक्षित करेंगे कि अस्थिर और अस्पष्ट एक यन्त्रणाबोध से होकर कुछ दिन रवीन्द्रनाथ चलते रहे थे, उससे निकल आने की वे चेष्टा कर रहे थे, इन सब गीतों के माध्यम से भी वे यह सब कर पा रहे थे। यह गान लिखने के कुछ दिन के भीतर ही बन्धु एण्ड्रूज को एक पत्र में उन्होंने लिखा था (४ अक्टूबर, १९१४ को) 'ऐसा लग रहा है जैसे मैं एक बार फिर उस धुँधलके से निकला जा रहा हूँ'। उस असह्य, दुर्वह बोझ को वहन करने के बाद ही वे जीवन का सामना कर पा रहे थे, जिस जीवन को उन्होंने आघात-प्रत्याघात के रूप में ही पहचाना था।

उनका दुःखों से पार हो जाना ही, 'हो उठना' है। राजा को पाने के लिए पथ पर निकल पड़ने की अभिज्ञता ही थी, सुदर्शना के 'हो उठने' का पथ। इस पथ के अन्त में आकर उनके भी मन में ऐसा लग सकता है, यह मानो एक बार सुदर्शना की ही बात हैः 'चिनिलाम आपनारे/आघाते आघाते/वेदनाय वेदनाय,/सत्य जे कठिन/कठिनेरे मालोवासिलाम,/से कखनो करे ना वंचना।'- 'पहचान लिया है अपने को/आघात- पर-आघात/वेदना-पर-वेदना के द्वारा/सत्य तो कठोर होता है/ मैंने तो उस कठोर से ही प्रेम किया है, क्योंकि वह कभी धोखा नहीं देता।' यह अनुभूति घटने पर, जीवन के कठोर सत्य की भीतर से आहट पाने पर, हम सब यह कह सकते हैं, 'आमृत्यु तपस्या

ही है यह जीवन।' 'यदि दुःख की अँधेरी रात बार-बार' आती है, उसे यदि छलना समझ कर ही उसके सामने हम हो सकते हैं, यदि हमें यह पता है कि पग-पग पर विश्वास को आघात झेलना पड़ता है, तभी उस छलना को सहन करने के बाद ही एक भिन्न प्रकार की अक्षय शान्ति पर कोई अधिकार पा सकता है।

छोटी-छोटी कितनी कुछ चीज़ें होती हैं, जिन्हें हम नहीं पा पाते हैं, इसलिए रोज ही कितना कुछ क्षोभ हमारे मन में इकट्ठा होता रहता है। किन्तु जीवन के सौन्दर्य को न पाने की कोई व्यथा बहुतों के मन में रहती ही नहीं है। वह सौन्दर्य विशुद्ध प्राकृतिक सौन्दर्य ही नहीं है, वह हमारे सांसारिक किंवा मानवीय, सामाजिक सहज सम्बन्धों का भी सौन्दर्य होता है। छोटे-छोटे क्षोभों की कथा भूलकर उसकी ओर बढ़ता हुआ मन सम्भवतः यह कह उठता है :

सेइ जे आमार काछे आमि

छिल सवार चेये दामी

तारे उजाड़ करे साजिये दिलेन

तोमार वरण डाला।

आमार अमिमानेर बदले आज

नेव तोमार माला।

अर्थात् वह मैं जो अपनी दृष्टि में, अपने सामने बहुत मूल्यवान था, सबसे अधिक कीमती, उसी अहंकार को उजाड़कर मैंने तुम्हें समर्पित करने को अपनी वरण डाली सजा रखी है, आज अपने अहंकार के बदले तुम्हारी माला मैं ले लूँगा। मेरी सम्पूर्णता का रूप इसी 'तुम' की ओर है- इसी राजा की ओर है- हमारा निरन्तर हो उठना भी दुःख के मार्ग से होकर है।

५

'आपसी सम्बन्धों को सहज और सहनीय बना लेना'- छात्रों के लिए मास्टर महाशय को लिखे गये पत्र में रवीन्द्रनाथ के इस आदेश की चर्चा इस व्याख्यान के शुरुआती अंश में मैंने की थी, यह भी कहा था कि कभी-कभी किस तरह से उत्साहित होकर रूस से लिखे अपने पत्र में रवीन्द्रनाथ ने कहा था, 'मनुष्य, मनुष्य में परस्पर व्यवहार वहाँ कितने अद्‌भुत रूप से सहज है।' किन्तु इस सहजता को कभी-कभी हम कितना दुःसाध्य बना देते हैं।

अरविन्द मोहन वसु के बारे में एक गलतफ़हमी हो जाने के समय लेडी अवला वसु ने रवीन्द्रनाथ को लिखा था कि 'अरविन्द को और अधिक शान्तिनिकेतन में न रखकर अब से मैं उन्हें सदा अपने पास ही रखूँगी।' क्योंकि अवला वसु को ऐसा लगने लगा था कि शान्तिनिकेतन विद्यालय में रहने के प्रभाव से अरविन्द अपने गृहस्थ जीवन के प्रति उदासीन होते जा रहे हैं। गम्भीर रूप से व्यथित रवीन्द्रनाथ ने अपने बन्धु की पत्नी को जो लम्बी चिट्ठी लिखी थी, उसमें यह एक बात थी : 'जिस स्थान पर मैंने सबसे अधिक सार्थकता प्राप्त की है, उस जगह पर अगर आप लोगों को कोई विरोध है, तो फिर वहाँ पर खेल-खेल में भी हमारा मिलन नहीं हो सकता है।' १९११ ईस्वी में (१३ अप्रैल) लिखी इस चिट्ठी को सबसे अधिक सार्थकता प्राप्त है। इस चौंकाने वाली बात के साथ १९४० में (१९ फरवरी) गाँधी

जी को लिखी एक बात से मिलाकर हम लोग देख सकते हैं 'विश्वभारती एक जहाज़ की तरह है जो मेरे जीवन के सर्वोत्तम खज़ाने को ले जा रही है।' सारे जीवन जो विचित्रतापूर्ण शिल्प के साहित्य का परम अभ्यास करते रहे हैं, वे इस शान्ति निकेतन अथवा विश्व भारती को अपनी 'सर्वाधिक सार्थकता' अथवा 'जीवन का सर्वोत्तम खजाना' कैसे कह सके थे। इस सम्बन्ध में एक साम्प्रतिक विस्मय बोध तो हमें हो सकता है, किन्तु यदि हम यह याद रखें कि अपनी सारी शिल्पचर्चा के माध्यम से वे अन्ततः वैयक्तिक जीवन, धरती और विश्वलोक को जोड़ना चाहते थे, वही थी उनकी महा मानवताबोध की धारणा, तो फिर उनकी निजी कल्पना के साकार रूप शान्तिनिकेतन- विश्वभारती को उनकी एक अद्वितीय कल्पना के रूप में समझने में कोई असुविधा नहीं होगी। बाँग्ला में विश्व शब्द का हम दो रूपों में प्रयोग करते हैं। सम्पूर्ण मानव समाज को लेकर यह पृथ्वी भी विश्व है और पूरे ब्रह्माण्ड लोक को लेकर यह महाजागतिक अस्तित्व भी विश्व है। प्रकृति के सूत्र को लेकर उस महाजगत के साथ संयोग की कल्पना थी शान्ति निकेतन और ब्रह्मचर्याश्रम की मूल भावना और राष्ट्रीयतावाद की संकीर्णता अथवा सीमा के बाहर सम्पूर्ण विश्व मनीषियों के जगत् को एक केन्द्र में लाने का स्वप्न था विश्वभारती के पीछे। इसीलिए इन दोनों को मिलाकर जिस विराट सृष्टि की भावना रवीन्द्रनाथ के मन में काम कर रही थी, वास्तव में आज उसकी जो भी स्थिति क्यों न हो, उपेक्षा के कारण उसकी व्याप्ति की बात आज भी हम पूरी तरह नहीं समझ सके हैं। यह तभी समझ पाएँगे, जब हमारा नित्यदिन का 'हो उठना', वहीं पहुँचना चाहेगा, छोटी-छोटी वासनाओं को भूलकर सुदूर स्थित लक्ष्य के लिए हमारी आकांक्षा, हमारे अस्तिवाचक दुःख की अनुभूति वहाँ पहुँचना चाहेगी। दुःख को आत्मसात कर उसे सृजनधर्मी, सृजनक्षम बनाने का आयोजन सिर्फ़ व्यक्ति की ही सृष्टि नहीं होगी, वह हो सकती है समष्टि की भी सृष्टि। वहीं पर मनुष्य का मनुष्यत्व है, यही सोचते थे रवीन्द्रनाथ। एक बार उन्होंने कहा था- 'मनुष्य तो समाप्त होता नहीं है। वह होकर कहीं नष्ट नहीं हो जाता है। वह जो कुछ हो सकता है, वह तो बहुत अल्प है। उसका होना भी अनन्त है।' उसी 'ना हुए' अस्तित्व के अभिमुख होने के द्वारा जो मनुष्य केवल आगे बढ़ना चाहता है, वैयक्तिक स्वार्थ से रहित दुःख झेलने के लिए जो आगे बढ़ता रहता है, दूसरे के दुःख को जो निजी दुःख बना लेना चाहता है, उसी मनुष्य की खोज की थी रवीन्द्रनाथ ने और वह सन्धान ही है उनके राजा का सन्धान।। 'शेष कथा' में कहे गये उसी देवता का सन्धान। हममें से हरेक में- प्रत्येक व्यक्ति और समाज में- छिपे हुए उसी राजा के साथ युक्त होने के लिए, उसी राजा को व्यक्त करने के लिए हमारा यह दुःख वहन करना है।

जिस 'स्वतन्त्र विकास' की बात प्रारम्भ में कही गयी थी, यही है वह स्वतन्त्र विकास। सुदर्शना की तरह दुःख दहन के उस पथ से होकर, उस विकास की ओर बढ़ते रहने पर, उसके बाद वह जीवन आकर अपना आसन अपने आप लेगा, ऐसा विश्वास करते थे रवीन्द्रनाथ। एक ओर उनकी समग्र शिल्प सृष्टि में, दूसरी ओर परिवेशगत उनकी समग्र जीवन दृष्टि में निहित था उस दुःखमय पथ पर 'मनुष्य हो उठने' का दिशा सन्धान।

ऐतिह्य का विस्तार

शंख घोष
मूल बाँग्ला से रूपान्तर - रामशंकर द्विवेदी

हल्की शीत का स्पर्श, दोपहर का खाना चल रहा था, एक होटल के लॉन में और इसी के साथ चल रही थीं शिल्प-साहित्य से जुड़े कई सिद्धान्तों पर और अन्य कुछ हल्की-फुल्की बातें। देश के ठीक मध्य में इस भोपाल नगरी में अनेक प्रान्तों से आकर इकट्ठे हुए थे अनेक कवि और शिल्पी, कई दिन एक अनवरत चलने वाले सम्मेलन में। उस दिन वहाँ बैठे हुए थे महाराष्ट्र के दिलीप चित्रे, जालन्धर से सोहन सिंह मिशा, दिल्ली से प्रयाग शुक्ल, सौमित्र मोहन और इन सबसे ऊपर उपस्थित थे चित्रकार स्वामीनाथन। आत्मविश्वास के साथ बात कर सकते थे दिलीप और करते भी जा रहे थे लगातार, बीच-बीच में उनका तर्क जमता जा रहा था स्वामीनाथन के साथ। उसी दिन दोपहर में बात चल पड़ी थी बाँग्ला साहित्य को लेकर। दिलीप समझाते जा रहे थे कि किन अर्थों में जीवनानन्द दास को इस शताब्दी का 'ग्लोबल' कवि कहा जा सकता है। वे कभी कलकत्ता नहीं आए थे, किन्तु उन्हें पता है कि विनय मजूमदार की कविता का प्रस्थान जीवनानन्द जैसा ही है अथवा उन्हें पता है, जीवनानन्द और शक्ति चट्टोपाध्याय में अन्तर कहाँ है? जीवनानन्द हमारे हृदय में प्रविष्ट हो जाते हैं, जबकि शक्ति चट्टोपाध्याय अपना प्रक्षेपण करते हैं। इन दोनों में मेल और सामंजस्य अगर हो पाता तो क्या होता, वे यही सोचते हैं।

शक्ति और जीवनानन्द के भेद के विषय में दिलीप का यह निष्कर्ष कितना सत्य अथवा कितना पूर्ण है, यह बात उस समय मैं नहीं सोच रहा था। मैं सोच रहा था इस सहज भंगिमा के विषय में, जिस सहज भंगिमा में वे अभी थोड़ी देर पहले निराला अथवा आडिगा के बारे में बात कह गये थे, मुक्तिबोध अथवा सुधीन्द्रनाथ के बारे में। जिस तरह से उनका मन पश्चिमजगत् की आधुनिकता में घूमना चाहता है, वैसे ही उनकी चेतना हमारे इस पूरे देश के आसपास भी घूमना चाहती है। जैसे इस सबके माध्यम से वे पा जाएँगे अपना कोई ऐतिह्य, अपनी कोई विरासत।

एक बार मराठी में जीवनानन्द दास की कविता का अनुवाद करने की इच्छा दिलीप की हुई थी, किन्तु 'कचि लेवूपातार मतो नरम सबुज आलेख पृथिवी भरे गियेछे एई भोरेर बेला' (अर्थात् सुकुमार चकोटरे के पत्रों जैसे कोमल हरित आलोक से भर गयी है धरती, इस भोर बेला में) जैसी पंक्ति का क्या कोई अनुवाद सम्भव है? इसलिए उस इच्छा को फिर छोड़ देना पड़ा। विशेष कर प्रयाग शुक्ल भी उस पंक्ति पर मुग्ध हैं, किन्तु इसी वजह से अनुवाद के अपने प्रयास को वे छोड़ देने के लिए राजी नहीं हैं। प्रयाग अच्छी तरह से बाँग्ला जानते हैं, जीवनानन्द के उन्होंने कई अनुवाद भी किये हैं। पन्द्रह-बीस वर्ष पहले और बाद में एक ही कविता का अनुवाद कर भी उन्होंने देखा है, उस पंक्ति का अनुवाद कितना नहीं बदल गया था। प्रयाग सोचते हैं, बार-बार इस बदलाव से हो सकता है, एक दिन इस पंक्ति का

मूल स्वाद कुछ मिल सके।

मिशा बाँग्ला नहीं जानते हैं फिर भी बाँग्ला साहित्य के बारे में थोड़ी जानकारी है उन्हें, सतीनाथ के बारे में उन्हें पता है, क्योंकि हिन्दी अनुवाद की सहायता से उन्होंने 'जागरी' का पंजाबी में खुद अनुवाद किया है। साम्प्रतिक बाँग्ला लेखन के बारे में उनकी कोई स्पष्ट धारणा नहीं है, इस वजह से वे बहुत कुण्ठित रहते हैं। उधर थोड़े अकुण्ठित विश्वास के साथ सौमित्र मोहन का कहना है कि कलकत्ता में अब हंग्री जेनरेशन का कोई नाम भी शेष नहीं रहा है। हालाँकि एक दिन बड़ी तड़क-भड़क के साथ यह आन्दोलन वहाँ शुरू हुआ था। क्या इसका कोई चिह्न आज भी है?यह पूछ रहे थे सौमित्र मोहन?

एक बात से अपने आप निकलती आती है दूसरी बात, सभी लोग सदा बड़ी ज़िम्मेदारी के साथ बात करते हों ऐसा नहीं है। किन्तु टुकड़ों-टुकड़ों में हुई इन बातों से निकल आती है एक स्पष्ट प्रवृत्ति, देश के एक अंचल की सांस्कृतिक अवस्थिति के बारे में एक-दूसरे अंचल की सजीव उत्सुकता। सिर्फ बाँग्ला साहित्य को लेकर ही कोई बात नहीं है, मलयालम् अथवा तेलुगू, असमिया अथवा गुजराती, इनमें से किसी भी साहित्य का प्रसंग आने पर अगर कोई अखिल भारतीय स्तर पर अड्डा हो, जिसका चक्कर लगाया जा सके, तो फिर उसी को एक स्वस्थ मन के सौन्दर्य के रूप में माना जा सके। किन्तु उसी समय भीतर-ही-भीतर यह प्रश्न झाँकने लगता है कि क्या बाँग्ला भाषा ने कभी इस स्वस्थ वातावरण की ओर आगे क़दम बढ़ाने चाहे हैं? हमारे सामने जितना विश्व साहित्य का पटल खुला हुआ है, क्या उतना भारतीय साहित्य का पटल भी खुला हुआ है? अथवा हम अपने को एक संकीर्ण परिधि के भीतर बाँधे रखने में ही खुश हैं?

२

भाई वीर सिंह की कविता पर एक निबन्ध लिखा था अमिय चक्रवर्ती ने, यह बात बहुत पहले की है। कौन हैं, वे भाई वीर सिंह? जैसे इस समय, वैसे ही उस समय भी हमारे पाठकों के मन में यह प्रश्न उठ सकता था इसीलिए अमिय चक्रवर्ती को विस्तृत रूप से कवि का व्यक्तिगत परिचय लिखना पड़ा था। इसी के साथ उन्हें यह भी लिखना पड़ा था कि इसमें कहाँ सबसे बड़ी बाधा है। हमारी 'सबसे बड़ी दूरी के अनेक कारणों में प्रदेशों के आधुनिक साहित्यिक उत्कर्ष के प्रति हमारा उत्सुकताहीन मन है।' अगर हम अपनी भाषा से बाहर जाना चाहते हैं, तो हमें समुद्र पार विदेश जाने का अभ्यास है, किसी अखण्ड भारतीय मन को हम सम्भावना के भीतर ही नहीं मानते हैं, हालाँकि इस कवि को लगा था कि "बाँग्ला साहित्य को अगर विविधता के साथ प्रतिष्ठित और प्राणवन्त बनाना हो, तो उसका एकमात्र उपाय है समकालीन भारतीय मिट्टी से उसे जोड़ना।" केवल अमिय चक्रवर्ती ही नहीं, प्रायः इसी तरह का विचार जीवनानन्द के भी मन में एक बार उठा था। मृत्यु से एक वर्ष पहले लिखे हुए अपने लेख, 'असमाप्त आलोचना' में जीवनानन्द ने सोचा था-'मराठी, गुजराती, तमिल अथवा हिन्दी काव्य यदि इस विषय में फ्रांसीसी अथवा अँग्रेज़ी का स्थान ले पाता तो सम्भवतः राष्ट्रीय संस्कृति की दृष्टि से यह वस्तु ठीक होती', यद्यपि उनका विचार था कि 'इस तरह की सम्भावना की पूर्ति जल्दी होने वाली है, ऐसा लगता नहीं है।'

इस मन्तव्य अथवा उस प्रबन्ध के बाद तीस वर्ष से भी अधिक का समय बीत चुका है, किन्तु भारतीय मिट्टी के विषय में हमारा बोध अथवा कौतूहल अस्पष्ट से और भी अस्पष्ट होता हुआ विलीन हो गया है, ऐसा मुझे प्रतीत होता है। शिल्प अथवा चलचित्र के जगत् में यह बात हो सकती है, उतनी सत्य न हो, किन्तु हमारे साहित्यिक जगत् के बारे में

यह बात एकदम सत्य है। हमारे लिए श्याम बेनेगल अथवा गोविन्द निहलानी अपरिचित नहीं हैं, नाट्यसूत्र से हम विजय तेन्दुलकर अथवा गिरीश करनाड को जानते हैं, किन्तु शबाना आज़मी के अभिनय को हम जितना जानते हैं, कैफ़ी आज़मी की कविता को हम उतना नहीं जानते हैं। 'सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्ताँ हमारा' इक़बाल ने लिखा था, इस तथ्य से हम परिचित हैं, किन्तु इक़बाल की कविता के विषय में वैसे किसी आग्रह का चिह्न हमारी साहित्यिक-चर्चा में तो कभी व्यक्त हुआ नहीं। यही कुछ दिन पहले सुब्रमण्यम् भारती की जन्म शताब्दी के समारोह में हमारी ओर से कोई सचेत अभिव्यक्ति लगभग थी ही नहीं; ऐसे व्यक्ति के विषय में हम सचेत थे ही नहीं जिसने आज से सत्तर वर्ष (अर्थात् १९८५ में जब यह निबन्ध लिखा गया-अनुवादक) पूर्व कहा था, 'नारी स्वतन्त्रता के लिए आपको धर्मयुद्ध आरम्भ करना चाहिए,' जिन्होंने स्त्रियों की जुबान से यह घोषणा करानी चाही थी कि 'जब तक हमें पूर्ण समानता का अधिकार नहीं मिलेगा तब तक हम मनुष्यों के साथ शामिल ही नहीं होंगे।' हम यह नहीं जानना चाहते हैं कि आजकल आसाम अथवा उड़ीसा में क्या लिखा जा रहा है। केरल अथवा आन्ध्रप्रदेश में क्या घटित हो रहा है? एक दिन फ़ासीवाद विरोधी आन्दोलन के समय अथवा प्रगतिवादी आन्दोलन के ज़माने में अखिल भारतीय योगायोग की सम्भावना ज़रूर तैयार हो गयी थी, किन्तु आज कलकत्ता के लेखक समाज के सामने 'देश' शब्द की कोई व्यापक छवि है ही नहीं, यहाँ तक कि यह छवि होनी चाहिए, इसका अभावबोध भी लुप्त हो गया है।

इस जड़ता का क्या यह कारण हो सकता है कि हमने यह मान लिया है कि दूसरे अंचल से हमें मिलने वाला कुछ नहीं है?सांस्कृतिक भूमिका की दृष्टि से हमारी स्थिति बहुत ऊँची है, चिन्तन, मनन और कर्म में हम बहुत आगे हैं, बहुत दिन पहले का हमारा यह अहंकार ही क्या बहुत बड़ी बाधा है?यही उसी दिन कलकत्ते में एक हिन्दीभाषी कवि की संवर्धना की भंगिमा देखकर किसी पत्रिका के सम्वाददाता ने अपने प्रतिवेदन में यह बताया था कि हिन्दी कविता निरी मध्यम कोटि की है। क्या सचमुच में वह सम्वाददाता हिन्दी कविता का इतना गहरा जानकार है कि वह बड़ी सहजता से तुलनात्मक आलोचना में इतना आगे बढ़कर ऐसा मन्तव्य प्रकट कर सकता है?

लगभग पच्चीस वर्ष पहले दिल्ली के एक कवि सम्मेलन से लौटकर बुद्धदेव वसु ने एक बार अपने अलग-थलग पड़ने की बात कही थी, क्योंकि अन्य अंचलों के कवि अपनी कविता गाकर पढ़ते हैं, श्रोताओं की प्रशंसा पाते हुए पढ़ते हैं। बाँग्ला कविता पाठ करने का ढँग और उसकी आधुनिकता को लेकर उस दिन बुद्धदेव ने अपने को बहुत दूर और सबसे कटा हुआ महसूस किया था। यह अभिज्ञता आज भी कहीं खो नहीं गयी है, ऐसा नहीं कहा जा सकता है। आज भी शायद कोई बाँग्ला कवि त्रिवेन्द्रम अथवा जालन्धर में सुरलय में, एक-एक लाइन का उच्चारण करते हुए, श्रोताओं की वाहवाही पाने के लिए कविता सुना सकता हो, तो इसके लिए अभी हमें प्रतीक्षा करनी होगी। इस तरह के काव्य पाठ में कोई लोक संचारी शक्ति होती है या नहीं, इस प्रश्न में मैं नहीं जाऊँगा, आधुनिकता की उपेक्षा कर इसकी कोई नयी सम्भावना हो सकती है, यहाँ मैं इस बात को भी नहीं उठाऊँगा, किन्तु अगर कोई यह धारणा बना ले कि पश्चिम बंगाल से बाहर कविता पाठ का यही एकमात्र ढँग या आदत है, तो यह उसकी बहुत बड़ी भूल होगी। पश्चिम से आयातित हमारी आधुनिकता की धारणा को देश के अन्य अंचलों में पहुँचने में थोड़ी देरी हुई है, किन्तु पहुँचने के बाद उसका विकास भिन्न-भिन्न दिशाओं में हुआ है और इस विषय में हम अपने को अनजान रखते हैं, तो यह हमारी मूढ़ता होगी।

मान लीजिए, हिन्दी कविता के बारे में हमारी जो कुछ अव्यवस्थित धारणा है, वह भी तीस-चालीस के बीच छायावादी कविता पर आधारित है। हम अज्ञेय और निराला के बारे में बहुत थोड़ा जानते हैं अथवा यह बात कि बीस वर्ष पहले

उन सब अंचलों के तरुण कवियों ने सुर-लय में गायी जाने वाली कविता के विरुद्ध खड़े होने का एक आन्दोलन अर्थात् 'अकविता' आन्दोलन चलाया था। जैसा कि सभी जगह होता है, 'अकविता' का नाम देकर कविता की ओर ही कविता अग्रसर होना चाहती है, कविता की चलताऊ पद्धति पर आक्रमण करने के लिए ही वह उसके विरुद्ध खड़ी हो जाती है। जिन सौमित्र मोहन की चर्चा मैंने पहले की थी, वह भी इस आन्दोलन में शामिल लोगों में से एक व्यक्ति थे, किन्तु आजकल वे जो कविता लिख रहे हैं, वह किन अर्थों में अकविता है, इसे अच्छी तरह नहीं कहा जा सकता है। हाँ, यह नहीं कहा जा सकता है, फिर भी यह समझा जा सकता है कि रचना अथवा भावना की दृष्टि से साम्प्रतिक मराठी अथवा बाँग्ला कविता से खूब हटकर, दूरवर्ती चरित्र का उनका अभ्यास अथवा पढ़ने का ढँग नहीं है। दिलीप, सौमित्र अथवा हमारे सुनील अगर पास-पास बैठकर कविता पढ़ें, तो उनके कविता पाठ में परस्पर मेल होना कोई असम्भव नहीं है, यहाँ तक कि श्रोताओं में भी भाषाओं की दूरी नितान्त दुर्लंघ्य होगी, ऐसा नहीं लगता है। कवि मर्यादा के तारतम्य को लेकर विचार करना एक भिन्न बात है, मूल बात यह है कि ये सभी रचनाएँ एक व्यापक, मानसिक परिमण्डल में रची गयी हैं, ऐसा मानने का कोई कारण नहीं है कि बाँग्ला में हम लोग एक दूरवर्ती द्वीप का निर्माण कर रहे हैं, सबसे अलग-थलग अपनी स्वतन्त्र महिमा से महिमान्वित।

और यदि इस पुराने अभिमान को एक ओर हटाकर खुली दृष्टि से पूरे देश की ओर देखा जाए तो हमें देखने को मिलेगा कि किस तरह से एक ही समय पर आधारित इस-उस अंचल में एक ही प्रकार की साहित्यिक प्रवृत्ति, एक ही प्रतिक्रिया जागती है। स्वाधीनता के बाद पन्द्रह वर्ष बीत जाने पर जब सत्ता लोलुप कपटता पूरे देश की व्यवस्था को निगल रही थी, हताशा का भाव तब अराजकता की ओर बढ़ना चाहता था, सिर्फ क्रोध और ध्वंस की ओर, अवचेतन में सोयी हुई उत्तेजना की ओर। इसी के साथ जब अमेरिकी बीटल सम्प्रदाय और अँग्रेज़ी एंग्री यंग युवकों की अभिज्ञता, तब क्षोभयुक्त कविता से भर जाता है हमारा देश। बाँग्ला कविता के पाठक के रूप में इस काल को शायद 'कृत्तिवास' पत्रिका के किसी-किसी कवि की रचना अथवा 'भूखी पीढ़ी' के किसी कवि की रचना से हम समझ सकते हैं, किन्तु यह जो हंग्री जेनरेशन- भूखी पीढ़ी नाम से एक तरह की रचनाओं की बाँग्ला में नींव डाली गयी है, यह कोई अलग तरह की घटना नहीं है और इसका अर्थ भी कोई सीमाबद्ध नहीं है। एकदम इसी समय हिन्दी कविता में भी इसी नाम का प्रयोग किया जा रहा था-क्षुधार्त, नग्न अथवा विद्रोही पीढ़ी, प्रचलित सभी मान-मूल्यों और प्रथाओं को यह पीढ़ी ध्वस्त करना चाहती है। फिर एकदम उसी समय १९६५ ईस्वी में आन्ध्र के पाँच तेलुगु कवियों ने शुरू की थी दिगम्बर गोष्ठी, जिस गोष्ठी को हम हिन्दी अथवा बाँग्ला गोष्ठी के अनुरूप देख सकते हैं। हम देख सकते हैं कि इस दिशाहीन आत्महन्ता क्रोध की कोई क्रमिक परिणति है भी या नहीं; समाज के अत्याचार के कारण जिसका जन्म हुआ है, उसकी दृष्टि एक बार ही अत्याचार की जड़ तक पहुँची है या नहीं। अन्ततः 'दिगम्बर' पीढ़ी से ही एक दिन बन गयी थी तेलुगु कविता 'वीरसम' गोष्ठी और जिसके एक प्रमुख कवि थे, चेरवांडा राजू अथवा आज भी हैं ज्वालामुखी और जागमुनि (१९८५ में)। मार्क्सवादी संघर्ष के साथ एक दिन इन्होंने अपनी कविता को जोड़ दिया था, सुर-लय, गान और भाषण में उनकी कविता दलित लोगों के साथ मिल गयी थी, 'वे लोग जानते हैं कि यह मेरी पीढ़ी मेरी आवाज़ का कभी विरोध नहीं करेगी, कोई भूल नहीं वे अच्छी तरह जानते हैं उनके काँटों भरे पथ पर किसी ने फूल नहीं बिछा रखे हैं, वे जानते हैं एक तूफान और मरुभूमि के अलावा किसी रेशमी तम्बू में उन्हें आश्रय मिलने वाला नहीं है।' इन सबके सामने, बाँग्ला कविता के जगत् में भूखी पीढ़ी के कवियों में कोई-कोई अपना मार्ग बदलने के प्रश्न पर भी विचार कर रहे हैं, यह एक लक्ष्य करने योग्य घटना मानी जा रही है; तुलनात्मक पृष्ठभूमि पर इस परिवर्तन को अगर रखा जाए, तो चेतना सन्क्रान्त इस परिवर्तन को मिलाकर देखने का एक सुअवसर मिल सकता है

और एक दूरागत सम्बन्ध में बँधे होने का कवियों को भी एक आश्वासन मिल जाता है।

सिर्फ़ इसी कालखण्ड को लेकर तुलना की जा रही है, ऐसा भी नहीं है। रवीन्द्रनाथ को अगर छोड़ दिया जाए तो इस शताब्दी के शुरुआती दस-पन्द्रह वर्षों में कौन थे हमारे कवि? देवेन्द्रनाथ, द्विजेन्द्रलाल अथवा सत्येन्द्रनाथ और कौन उस समय लिख रहे थे केरल में, इसे भी विचार में लिया जाये? कुमारन आसान, बल्लल तोल, नारायण मेनन और उल्लूर परमेश्वर अय्यर। इन सबको मिलाकर यदि पढ़ा जाए तो क्या हमारा स्वाभिमान तीव्र नहीं हो जाएगा? इन तीन कवियों के द्वारा मलयालम कविता में आधुनिकता का प्रारम्भ हुआ था, इन्होंने कविता को जीवन से जोड़ लिया था। यहाँ तक कि कभी-कभी रवीन्द्रनाथ के साथ मिलाकर देखने की इच्छा होती है, इनमें से किसी-किसी की कविता। पूरे केरल में नलिनी नाम चूँकि लड़कियों का एक प्रिय नाम है, जो नाम उन्हें मिला है कुमारन आसान के एक कथा काव्य से और कुमारन आसान ने जिसे पाया था रवीन्द्रनाथ से। यह कवि कुछ दिनों के लिए एक विद्यार्थी के रूप में कलकत्ता में रहा था, उस समय ये रवीन्द्रनाथ से प्रभावित भी थे, एक तरह से उनमें डूबे हुए, उनकी किसी-किसी रचना में रवीन्द्रनाथ के प्रभाव को उस अंचल के अनेक पाठकों ने लक्षित भी किया था। किन्तु प्रश्न सिर्फ़ प्रभाव का ही नहीं है, क्रिया-प्रतिक्रिया का भी है। कुछ असम्भव नहीं कि रवीन्द्रनाथ भी इस कवि से बात कर उत्प्रेरित हुए हों, दोनों लोगों की जब भेंट हुई थी त्रिवेन्द्रम में। बौद्ध सूत्र से आनन्द और चण्डाल कन्या का उपाख्यान के आधार पर कुमारन आसान ने उसी समय लिखी थी अपनी लम्बी कविता 'चण्डाल भिक्षुणी', जैसे एक दिन हमारी भाषा के कवि सतीशचन्द्र राय ने, फिर उसी कहानी को आधार बनाकर एक भिन्न विन्यास में रवीन्द्रनाथ ने चण्डालिका लिखी थी कुमारन आसान के दस वर्ष बाद। दोनों अंचलों के सामाजिक और साहित्यिक परिवेश को ध्यान में रखकर हम इन दोनों रचनाओं को मिलाकर देख सकते हैं, हो सकता है इससे हमारी कलागत अनुभूति का कुछ विस्तार हो जाए। किन्तु देश के अन्य भागों को न जानने की जिद इस मार्ग में हमारे लिए एक बहुत बड़ी बाधा है।

हाँ, उस समय एक दूसरा प्रश्न भी उठ पड़ता है। हमारा यह जो अज्ञान है, न जानना है, हमारी यह जो उदासीनता है, यह क्या केवल हमारी अहमन्यता के कारण है अथवा यह हमारे दम्भ का परिणाम है?अगर किसी का कोई आग्रह भी हो तो क्या उस आग्रह को पूरा करने का कहीं कोई उपाय भी मिल सकता है?कई दिन पहले जॉन ऑलीवियर पेरी सम्पादित 'वाईसेस ऑफ़ इमरजेन्सी' और हम लोगों ने अपनी आँखों के सामने देखा कि आपातकाल के समय पूरे देश में कैसा प्रतिवाद का स्वर ध्वनित हुआ था कवियों की ओर से एक दिन। किन्तु यह ज्ञान हमें कितनी देरी से मिला था। अनूदित और संकलित होकर अगर यह सब हमारे पास न पहुँचता, तो फिर हम किस तरह से जान पाते उर्दू अथवा तमिल भाषा के प्रतिवाद को? तो फिर समस्या क्या यह नहीं है कि अनुवाद का अभाव है और इसी वजह से हमारे बीच में संवाद बन्द है और इसीलिए अखिल भारतीय चेतना भी बन्द है?

अच्छा ठीक है, अनुवाद का अभाव इस उदासीनता का एक कारण है, किन्तु क्या पूरी तरह से ठीक है यह उत्तर?कार्य कारण में कहीं एक विरोध तो नहीं घटित हो रहा है?अनुवाद के अभाव के कारण उदासीनता है अथवा उदासीनता के कारण अनुवाद का अभाव है? 'अनुवाद पत्रिका' नाम से यहाँ कई वर्षों से एक पत्रिका ज़रूर छापी जा रही है, किन्तु हमारे पाठकों अथवा साहित्यकारों पर इसका कोई अधिक प्रभाव तो देखने को मिलता नहीं है। देश के अन्य स्थानों के प्रमुख लेखकों के सहयोग से इस तरह की अनेक बार पत्रिकाएँ निकलती रहती हैं, जैसे हिन्दी में साक्षात्कार और समकालीन भारतीय साहित्य जैसी पत्रिकाएँ निकलती हैं। परस्पर भाषाओं में आदान-प्रदान हो, इसी एक लक्ष्य को सामने रखकर एक योजना बनायी गयी है, जिससे एक भाषा की पुस्तक का अनुवाद दूसरी भाषा में हो सके। भोपाल

के 'भारत भवन' ने इस तरह के अनुवाद के बारे में कुछ सोचा था।

इन योजनाओं में कोई-कोई निश्चित ही किसी-न-किसी संस्थान द्वारा पोषित होती हैं, फिर भी इनसे एक प्रवृत्ति का संकेत तो मिलता ही है। वह संकेत यदि हमारे बीच भी आज काम करने लगे तो फिर भारतीय भाषाओं के अनुवाद की ओर बाँग्ला में उत्साह बढ़ने की बात हो जाएगी।

फिर इसके साथ यह बात भी ध्यातव्य है कि अनुवाद का प्राचुर्य न होते हुए भी अनुवाद पढ़ने का थोड़ा-बहुत वक़्त इस समय भी हमारे सामने है। साहित्य अकादमी और नेशनल बुक ट्रस्ट काफ़ी दिनों से भारत की सभी भाषाओं की रचनाओं के अनुवाद प्रकाशित करने में लगे हुए हैं। इन रचनाओं का चुनाव सदा तर्कातीत नहीं भी हो सकता है और कई बार यह चुनाव समकाल को स्पर्श नहीं करता है। इस तरह का आरोप भी लग सकता है, तो भी इसी के माध्यम से हमें अखिल भारतीय परिवेश का एक आभास मिल सकता है, यह भी सत्य है, किन्तु क्या हम उस सुअवसर का लाभ उठा रहे हैं? इन दो संस्थाओं के जो प्रमुख हैं उनके अनुभव से यह पता चलता है कि इनकी रचनाओं का जितना प्रकाशन है, उतना इनका प्रचार नहीं है (लेकिन अब यह बात नहीं है। विभिन्न अंचलों में पुस्तक मेलों के माध्यम से इनका प्रचार भी खूब हो रहा है-अनुवादक)। जितने इनके आयोजन हो रहे हैं, उतनी सफलता नहीं है। हमारे जड़ आत्मसन्तोष को भेदकर आज भी ये पुस्तकें हमारी आदत का स्पर्श नहीं कर सकी हैं, अमिय चक्रवर्ती द्वारा प्रस्तावित 'अखिल भारतीय मन' आज भी दूर पड़ा हुआ है हमारी चेतना से।

३

एक जर्मन अध्यापक लोथार लूत्से कई कवियों के साथ बात कर रहे थे बारह वर्ष पहले। अज्ञेय से उन्होंने पूछा था, पण्डित वात्स्यायन और अज्ञेय इन दो सत्ताओं में क्या उन्हें कोई विरोध नहीं लगता है? हमारा विरोध तो कई तरह का है, अज्ञेय ने उत्तर दिया था। हममें प्राच्य और पाश्चात्य का संघर्ष हैं, आदिमता और सभ्यता का संघर्ष है। अँग्रेज़ी शिक्षा के माध्यम से हममें अ-भारतीयकरण पैदा हो गया है और शिक्षा मात्र के द्वारा हमारा अमानवीयकरण भी घटता जा रहा है। उसके बाद हम जिस सरलता को व्यक्त करते हैं वह भी एक अर्जित सरलता है, जिस आदिमता की अभिव्यक्ति है, वह भी एक उपार्जित आदिमता है। अर्थात् अब कुछ भी सहज नहीं है, कुछ भी स्वाभाविक नहीं रह गया है।' इस द्वन्द्व और संघर्ष से आखिर में मुक्ति कहाँ है?

कला क्या है? अज्ञेय ने लूत्से को समझा दिया था कि कला सिर्फ़ अहं का अतिक्रमण कर जाने का प्रयास है। एक सत्ता से, दूसरी सत्ता की ओर बढ़ जाना है। शिल्पी अपनी सीमा को भंग करते-करते जीवन के विस्तृत क्षेत्र में पहुँचता है। कोई अपने को पूरी तरह अतिक्रमित कर सकता है ऐसा नहीं है, किन्तु अथक और अतन्द्र रूप से सीमा को भंग करते जाना ही उसकी साधना होती है। अगर यह बात एक व्यक्ति के सन्दर्भ में सत्य है, तो इसे सम्पूर्ण साहित्यधारा के सम्बन्ध में भी हम सत्य मान सकते हैं। एक प्रदेश की शिल्प प्रकृति को भी इसीलिए धीरे-धीरे अपने प्रदेशगत अहं को तोड़ना होगा।

शान्तिनिकेतन के प्रान्तर में खड़े होकर एक दिन नवकान्त बरुआ ने वक्रिम हँसी हँसते हुए कहा था-आप लोगों के पास तो रवीन्द्रनाथ हैं। यह याद रखना होगा नवकान्त भी शान्तिनिकेतन के पुरातन मनुष्य हैं। रवीन्द्रनाथ और शान्तिनिकेतन के प्रति उनमें बड़ा गहरा आकर्षण है, किन्तु फिर भी वह बात उन्हें कहनी पड़ी वह केवल बाँग्ला की आक्रामक प्रकृति को हमें बता देने के लिए। दूसरों की अवहेलना करने के लिए अपनी गरिमा की घोषणा हमारे मुख

से सदा सुनायी देती है, हम केवल यह नहीं जान पाते हैं कि यह घोषणा ही हमारे अतीत के गौरव के आसपास एक वृत्त तैयार कर देती है, हमारी विरासत को भी संकीर्ण बना देती है, अगर इस संकीर्णता को भंग न किया जाए तो नया मार्ग मिलने की सम्भावना बहुत कम रह जाती है। उसी नये पथ पर हम भावी, एक ऐसे भी स्वर दिन की कल्पना कर रहे हैं, जहाँ पर महाराष्ट्र, आन्ध्र, उड़ीसा, पंजाब, बंगाल और हिन्दी के लेखक, शिल्पीजन सहज बातचीत में अपने आपको एक संश्लिष्ट और विराट ऐतिह्य के अन्तर्गत समझेंगे, एक ही पथ के विद्रोही किन्तु आनन्दमय साथी के रूप में।

अन्ना आख्मातोवा की कविताएँ

अँग्रेज़ी से अनुवाद - शिरीष ढोबले

ऋण-शोधन

देवताओं के बारे में क्या लिखा जा सकता है? प्रेम के बारे में, दुःख के बारे में, विरह के बारे में, विपुलता के बारे में, दरिद्रता के बारे में, कामनाओं एवं लालसाओं के बारे में क्या लिखा जा सकता है? जो कुछ लिखा जाता है अन्ततः उस लिखे गये को स्वयं अपना देवता, अपना प्रेम, अपना दुःख, अपना विरह, अपना वैपुल्य, अपना दारिद्रय, अपनी कामनाओं, अपनी लालसाओं को आविष्कृत करना पड़ता है, कभी-कभी अपने सुख को भी।

अन्ना आख्मातोवा के बारे में क्या लिखा जा सकता है?शायद कोई कविता, इस उम्मीद में कि कभी वह कविता स्वयं अपनी आख्मातोवा का, किसी शब्द में, किसी पंक्ति में या किसी छवि में आविष्कार कर ले।

सन् उन्नीस सौ चौरासी में या तिरासी में या शायद बयासी में या शायद उससे भी पहले कभी मेरे एक मित्र ने मुझे आख्मातोवा की कविताओं की एक किताब पढ़ने के लिए दी या पढ़कर अवश्य ही लौटाने के लिए दी। मैंने वह किताब पढ़ी और कभी नहीं लौटाई, वह किताब मैंने उस समय उनकी तस्वीर के कारण अधिक, उनकी कविताओं के कारण कम, कभी नहीं लौटाई (अत्यन्त उदास बड़ी-बड़ी आँखें, तीखी लेकिन थोड़ी अनगढ़ नाक, मौन रहने के लिए बने होंठ, भँवे एक-दूसरे से थोड़ी खिंची हुई, माथे को लगभग पूरा ढँक लेते बाल) बाद में मैंने उनकी दीगर किताबें खरीदीं, उनकी दीगर तस्वीरें देखीं लेकिन तीस सालों के पार भी वह पहली, लगभग चुराई हुई किताब जब मैं छूता हूँ तो जैसे आवरण पर छपी उनकी तस्वीर उनकी कविताओं से पहले ही मुझे सनोबर, देवदार, वे गुलाब जिन पर बर्फ़ बिखरी हो, सलीब, कफ़न, मृत्यु-प्रेम, प्रेम भंग विरह, झींगुर, कारावास, क्रान्ति, यातनाएँ, स्वप्न, एकान्त, वायलिन, समुद्रों की, सरिताओं की गन्ध, इन सबके मेल से बने एक ठण्डे विस्फोट की चेतावनी देती है। हर बार मैं इस चेतावनी को दरकिनार रख देता हूँ और हर बार उनकी कविताएँ उनके चेहरे की हर चेतावनी को सच करती चली जाती हैं।

यह किताब मेरी सारी किताबों में सबसे मूल्यवान किताब है। आज उनकी तस्वीर के कारण ही नहीं, उनकी कविताओं के कारण भी उतनी ही।

मेरे मित्र कविता लिखते हैं। कभी ऐसा भी मंज़र पेश आया है कि उनके लिखे किसी वाक्य या पूरी कविता ही को सुनकर, पढ़कर मैं सोचता हूँ या फिर यदि मन उतना उदार हो पाया तो उनसे कह भी देता हूँ कि काश! मैं इस कविता जैसी कोई कविता लिख पाता।

आख्मातोवा की कविताएँ पढ़ते हर पंक्ति के बाद ऐसा लगता है, यह भी लगता है कि काश! मैं उन्हें कभी देख पाता, आख्मातोवा कविताएँ जितना लिखती हैं उतना ही वे अपने पाठकों को कविताएँ दिखाती भी हैं। एक ही छवि के अनेक फोटोग्राफ़्स वाले किसी संग्रह की तरह वे कविताएँ बनाती हैं, जहाँ एक से दूसरे फोटोग्राफ़्स के बीच कभी भँवे उठने का, कहीं नज़र झुकने का फ़र्क होता है। उनकी एक कविता है, कवि से भेंट, यह अलेक्सान्द्र ब्लॉक के बारे में है। वे कवि के घर, वहाँ पसरी शान्ति, वहाँ के आकाश, वहाँ की नदी की एक तस्वीर बनाती हैं। कवि की तीखी आँखों की एक, और फिर इन आँखों की जगह अपनी बातचीत रखकर स्मृति के उस दिन को पुनर्जागृत करती दूसरी तस्वीर, सारी कविता एक ही क्षेपक की भिन्न आवृत्तियों की भिन्न तस्वीरों की तरह उनके शब्दों के साथ एक मार्मिक मेल बनाकर बढ़ती है या शायद बहती है। यह उनकी अनेक कविताओं में होता है। ऐसा सूक्ष्म विवरण और इतना सघन कि लगता रहता है; जैसे हम उनकी कविता पर छाया हुआ वृक्ष छू पाएँगे क्योंकि वह इतना निकट जो है, कभी उनकी कविताओं में शायद ऐसा नहीं भी होता है, लेकिन जो कुछ होता है उसे लिखने के लिए विस्तार अपेक्षित है और मैं ऐसा मानता हूँ कि जिन्होंने उनकी कविताएँ पढ़ी हैं उनके लिए यह विस्तार भी उथला और अनावश्यक ठहरेगा।

उनकी कविताएँ पढ़ते तीस वर्ष का लम्बा वक़्त गुज़र गया है और ये अनुवाद एक प्रकार से ऋण शोधन का ही किंचित प्रयत्न हैं।

५ मार्च, १९६६, मेरी छठीं वर्षगाँठ के दिन वे इस संसार को तजकर चली गईं, वही संसार जिसने उन्हें प्रेम-दुःख, विश्वास-अविश्वास, मैत्री-शत्रुता, सौन्दर्य और वीभत्स, प्रवास और कारावास, पति और पुत्र, विपुलता और दारिद्रय, साहस और भय, सब कुछ क्रमशः दिया, छीना और फिर दिया। इस सबके बदले उन्होंने इस संसार को अपनी कविताएँ दीं, पढ़ने और देखने के लिए। - अनुवादक

१.

जब कोई देह त्याग देता है
उसकी तस्वीरें बदल जाती हैं
उसकी आँखें कहीं और देखने लगती हैं
उसके होंठ अलग हँसी हँसते हैं
एक कवि की शवयात्रा से लौटकर
मेरा ध्यान इस बात पर गया
और तब से मैंने कई बार इस बात
को परखा है
और मेरी बात सच है!

२.

ऐसा लगता है
कि कोई पुरुष स्वर
यहाँ कभी नहीं गूँजेगा,
केवल पाषाण युग की पवन
काले किवाड़ों से टकराती है,
मुझे लगता है कि आकाश तले
केवल मैं जीवित बची हूँ
क्योंकि मैंने ही सबसे पहले
मृत्यु की मदिरा पीने की
कामना की थी !

(१९७१)

३.

क्रूसिफ़िक्शन

मेरे लिए रो नहीं माँ
मैं जीवित हूँ कब्र में

एक.

फरिश्तों का समूह गान उस महान
क्षण की कीर्ति बढ़ाता है
स्वर्ग ज्वालाओं में पिघलता है
उसने अपने पिता से कहा
तुमने मुझे त्याग क्यों दिया?
और अपनी माँ से
मेरे लिए रो नहीं…

दो.

मेरी मॅग्डेलेन ने अपनी छाती पीटी
और रो दी
जिस शिष्य से वह प्रेम करता था
वह पथरा गया
पर जहाँ माँ खड़ी थी मौन
कोई वहाँ देखने का भी साहस न कर सका।

(१९४०-४३)

४.

ना, यह मैं नहीं हूँ
कोई और पीड़ा सहता है
मैं इसे न सह पाती
काले परदों से ढँक दो,
उसे जो हुआ।
और उन्हें ले जाने दो
पथ के दीपक…
रात!

५.

सोफ़ोक्लीज़ की मृत्यु
'तब राजा को पता हुआ कि
सोफ़ोक्लीज़ का देहान्त हो गया है' (अनुश्रुति)

उस रात एक गरुड़ स्वर्ग से उड़कर
सोफ़ोक्लीज़ के घर आ गया
और निराश झींगुरों का समूहगान अचानक
बाग से गूँज उठा
इसी क्षण विलक्षण मेधा का वह स्वामी
अमर हो जाने के पथ पर चल पड़ा था
शत्रुओं के खेमों से बचते बचाते
अपने पैतृक गाँव के परकोटे से सट कर
और इसी समय राजा को वह विचित्र स्वप्न दिखा था
डायोनिसस ने स्वयं आदेश दिया,
घेराबन्दी उठा लेने के लिए
कि दफ़न के संस्कार में कोलाहल
विघ्न न डाले
और एथेन्सवासियों को उसका सम्मान करने
का आनन्द मिल सके।

(१९६१)

६.

शान्त डॉन बहती है शान्त
पीला चाँद मकान के भीतर चला जाता है
भीतर जाता है अपनी टोपी ज़रा तिरछी कर
पीला चाँद देखता है परछाई
यह स्त्री बीमार है
यह स्त्री अकेली है
पति कब्र में, बेटा क़ैद में
मेरे लिए प्रार्थना करो।

७.

दरवाज़ा आधा खुला है
हलके से लहराते हैं नींबू के पेड़
मेज़ पर पड़े हैं बिसराये जा चुके
दस्ताने और चाबुक
लैम्प एक पीला वृत्त बनाता है
मैं सरसराहट सुनती हूँ
तुम चले क्यों गये?
मैं समझ नहीं पाती
कल सुबह
साफ़-सुथरी और प्रसन्न
यह जीवन सुन्दर है
ए दिल अक़्ल से काम लो
तुम अधिक शान्त अधिक निस्तेज धड़कते हो
तुम्हें पता है मैंने पढ़ा है
कि आत्माएँ अमर होती हैं।

(१९११)

८.

चार हीरे, चार आँखें
दो ऊलुक की और दो मेरी
भयानक अन्त है कथा का
कैसे मेरे दूल्हे ने प्राण तज दिये

मैं लेटी हूँ घनी, नम दूब पर
मेरे शब्द गूँजते हैं अर्थहीन
निराधार अहंकार से नीचे झाँकता है ऊलुक
उन्हें ध्यान से सुनता है
देवदार के वृक्ष मुझ पर झुकते हैं
हमारे ऊपर आकाश, एक काला चौकोर
जानते हो! जानते हो उन्होंने उसे मार डाला
मेरे बड़े भाई ने उसे मार डाला
किसी रक्तरंजित द्वन्द्व में नहीं
किसी रण क्षेत्र में नहीं, किसी संग्राम में नहीं
पर एकाकी अरण्य के पथ पर
जब मेरा सखा मेरे पास आ रहा था।

(१९११)

६.

संध्या
इतना अकथ दुःख था
बाग के संगीत में
तश्तरी में बर्फ़ पर रखी सीपियाँ
समुद्र की ताज़ा और तेज़ गन्ध बिखरेती हैं
उसने मुझसे कहा, मैं एक सच्चा मित्र हूँ!
उसने मेरे वस्त्र छुए
उसके स्पर्श में
कोई अनुराग नहीं
इसी तरह कोई थपथपाता है किसी बिल्ली या पक्षी को
इसी तरह कोई देखता है किसी सुगढ़ अश्वारोही को
केवल हल्की सुनहरी बरौनियों के नीचे
उसकी आँखों का स्मित
वायलिन के मातमी स्वर फैलते धुएँ के पार, गाते हैं,
ईश्वर का धन्यवाद करो
तुम अपने प्रेमी के साथ अकेली हो
पहली बार!

(१९१३)

१०.

आकाश में नीला रोगन, फीका पड़ा हुआ,
मिट्टी की तुरही का गान फैलता है
केवल मिट्टी की तुरही तो है
इस तरह उसकी शिकायत करने की कोई वज़ह नहीं
किसने मेरे गुनाह इससे कह दिये
और क्यों यह मुझे क्षमा करती है
सनोवर की उच्छृंखल पत्तियों के बीच से
सूर्य धरा पर अपनी तिरछी किरणों की
बाढ़ ला देता है।

(१९१२)

११.

मेहमान
सब कुछ पहले जैसा
बर्फ़ उड़कर खाने के कमरे की खिड़कियों से टकराती,
मैं बदली नहीं
पर एक आदमी मेरे पास आया
मैंने पूछा, तुम क्या चाहते हो?
उसने कहा, तुम्हारे साथ होना, नर्क में
मैं हँसी–बेशक तुम हम दोनों को
बरबाद करोगे

लेकिन उसने अपना नाजुक हाथ
उठाया और हौले से फूलों को छुआ
मुझे बताओ, ये तुम्हें कैसे चूमते हैं
बताओ तुम कैसे चूमती हो
उसकी निस्तेज आँखें एकटक मेरी
अँगूठी को निहारती रहीं
उसके दुष्ट दमकते चेहरे पर एक शिकन भी नहीं
आह! मैं समझी यही उसका सुख है
कि वह उत्कटता से, उद्वेग से यह
जाने कि वह कुछ नहीं चाहता
और यह भी कि मैं उसे कुछ भी देने से
इन्कार नहीं कर सकती।

१२.

भूमिका के एवज
ये झोवश्कीना के भयावह वर्षों के दौरान
मैंने सत्रह माह लेनिनग्राद की कारागार में
लगती कतारों में गुज़ारे, एक दिन मुझे
किसी ने पहचान लिया फिर

एक ठण्ड से नीले पड़ गए होंठों वाली, औरत
जो मेरे पीछे खड़ी थी और ज़ाहिर है
जिसने मेरा नाम भी कभी नहीं सुना था एक
बेहिसी से जिसके
हम सब शिकार थे, बाहर आकर मेरे
कानों में फुसफुसाकर कुछ बोली
(हम सब वहाँ फुसफुसाकर बात करते थे।)
क्या तुम इस सबको बयान कर सकती हो?
मैंने कहा हाँ। मैं कर सकती हूँ।
इस पर उस जगह जो कभी उसका चेहरा
हुआ करता था, मुस्कुराहट जैसा कुछ फैल गया।

(१ एप्रील, लेनिनग्राद,१९५७)

दो कविताएँ

कुमार शहानी

असल के चीर-चिथड़े

असल के चीर-चिथड़े
अब क्या ढूँढते फिरते हो
घर आँगन कोने
इस क्षण, जब
सृष्टि ने रुख मोड़ लिया
भीगे अक्षरों को मिटाते हुए
जैसे कि तन-मन की मैल
के निशान हों -
बह जाने दो उन्हें
समुद्र की लय में
अन्तिम स्नान के समय

धी-दुहिता

तू तो खिलखिलाती
मुझे छोड़
अपने नक्षत्र में जा बसी
मेरे आँसू पिरो कर
मोती-माला बनाए
शृंगार की दहलीज़ जा पहुँची,
इस बन्धन से छूट पा कर;
अचानक
मेट्रो की भीड़-भाड़
के पैरों-बीच
चमक आयी
वह बिछुई
जो हर धड़कन को
हौले-हौले
शान्त करते हुए
मेरे पास
अवतरी, बोली :
एक पल चुराकर,
दैया रे !

क्या आप मुझे एक मुर्दा दिलवा सकते हैं?

अलका सरावगी

सुश्री अलका सरावगी का उपन्यास 'जानकीदास तेजपाल मैनशन' शीघ्र प्रकाश्य है। हमारे आग्रह पर उन्होंने उसका एक अंश (अंतिम अध्याय) प्रकाशित करने दिया है।

जयगोविन्द अपना ही लिखा हुआ पढ़कर स्तब्ध था। किस राजाराम बाबू के साथ बिताए कौन-से दस साल? आदमी जब कोई कथा कहता है, तो क्या वह एक ऐसे प्रवाह में अपने को डाल देता है जिसका उसे खुद पता नहीं होता? यह सच है कि राधेश्याम बाबू उर्फ़ राजाराम बाबू- यानी कि कथा के राजाराम बाबू के साथ उसका परिचय छत पर रहनेवाले व्यासजी पण्डित ने करवाया था। कुछेक साल उनके चक्कर लगाकर उनकी जूट मिल में उसने कम्प्यूटर लगा कर अपना सॉफ़्टवेयर काफी दिनों तक चलाया था, पर राधेश्याम बाबू के सपने या अपने किसी सपने में भी वह उनका ए.डी.सी. नहीं बना था। हकीकत में बनना तो बहुत दूर की बात है। सच तो यह है कि वह जीवन में किसी का ए.डी.सी. नहीं बना, बल्कि उसके जीवन में पिछलग्गू हमेशा रहे। स्कूल-कॉलेज के दिनों से लेकर आज तक लोग हर किसी बात पर उससे सलाह लेने उसके आगे-पीछे घूमते रहे हैं।

लोग जानते हैं कि जयगोविन्द काम का आदमी है। पर वह हर तरह का काम करवा सकता है, क्योंकि उसकी पहचान जाने कहाँ-कहाँ तक, न जाने किस तरह निकल आती है। यहाँ तक कि एक बार किसी ने उसे फ़ोन करके पूछा था कि एक प्राइवेट मेडिकल कॉलेज के लिए वह मुर्दे की व्यवस्था कर सकता है क्या? बेशक उसने एकदम मना कर दिया था, पर लोगों के दिमाग में उसकी जुगाड़ बैठाने की ताकत पर वह खुद चकित था। राधेश्याम बाबू से तो उसने पूरे-पूरे पचास लाख में सौदा किया था कि उनके प्लास्टिक की परत चढ़ाए हुए यानी लेमिनेटेड जूट बैग की वह इतनी सरकारी खरीद करवा देगा कि अगले साल सारे जूट-गनी बैग बेचने वाले मक्खी मारेंगे। सरकार के पास खुद इतना स्टॉक होगा कि रखने की जगह नहीं होगी। इन्दिरा गाँधी के मरने के बाद दूसरा चुनाव था और लड़ने के लिए पैसों की भारी ज़रूरत थी। सरकारी खरीद पर कमीशन उधर भी तय थी और इधर जयगोविन्द के लिए भी। तब राधेश्याम बाबू उसके आगे-पीछे ऐसे घूमते थे जैसे वह उनकी अस्थमा की दवा हो। एक बार तो गंगा किनारे की जूट मिलों में एक-एक करके उसे खोजते हुए वह तीस किलोमीटर तक मोटर दौड़ाकर आ गये थे। राधेश्याम बाबू ने उस जमाने में यानी आज से करीब बीस साल पहले करीब-करीब सौ करोड़ रुपये कमाये थे। यह अलग बात है कि चुनाव ख़त्म होते ही जाँच कमीशन बैठा दिया गया और रुपयों का भुगतान सरकार ने रोक दिया। तीन साल बाद एक चौथाई पैसा मिलने पर राधेश्याम बाबू ने उसे साढ़े बारह लाख रुपये दिये थे। पर वे रुपये शेयर बाजार हर्षद मेहता काण्ड में स्वाहा हो गए।

उन्हीं दिनों जयगोविन्द के बड़े जीजा का कलकत्ते के नए-नए खुले बी.एम. बिड़ला अस्पताल में हॉर्ट का बाईपास ऑपरेशन हुआ था। तब यह ऑपरेशन कोई मामूली ऑपरेशन नहीं था। अस्पताल की लॉबी में मरीज़ों के रिश्तेदार

इस तरह भरे रहते कि लगता कोई फ़िल्म की शूटिंग चल रही हो। सारे लोग आदतन ज़ोर-ज़ोर से आपस में बातें करते रहते। भीड़ के शोरगुल में अपनी आवाज़ दूसरे तक पहुँचाने के लिए आवाज़ ऊँची करनी पड़ती। जयगोविन्द को दो-तीन दिनों में शोरगुल से चिढ़ कम होने पर ध्यान देने से समझ में आने लगा था कि प्रायः सारे लोग शेयरों की खरीद और बिक्री के बारे में ही बातें करते हैं। उसने आज तक शेयर न कभी खरीदे थे न कभी बेचे थे। उसे यह सब लेवा-बेची निठल्लों का धन्धा-शगल लगता था, जो घर-बैठे दूसरों की मेहनत का पैसा आराम से अपनी जेब में डालना चाहते थे। पर अभी तो पूरा हिन्दुस्तान यानी पान-बीड़ी बेचने वाले से लेकर दफ़्तर का बाबू हो या मालिक, हर आदमी अपनी कमाई को दस-पाँच दिनों में दुगुनी करने की फिराक में लगा था। जयगोविन्द के पास घनश्याम बाबू के सौदे से आए ताज़े-ताज़े साढ़े बारह लाख रुपये कुलबुलाने लगे थे। डूबेंगे तो डूब जाएँगे। इससे अधिक क्या होगा। औरतें तक अपने गहने गिरवी रखकर शेयर खरीद रही थीं। उसके पास तो ऊपर-ऊपर के रुपये थे। जयगोविन्द के शेयर खरीदते ही अगले दिन से शेयर बाज़ार उठना बन्द हो गया था। वह चिन्ता में पड़कर अपने दोस्त के भाई को, जिसके मार्फ़त उसने शेयर खरीदे थे, हर दो घण्टे में फ़ोन करने लगा था। दस दिन के अन्दर शेयरों के सारे कागज रद्दी के भाव बिकने लायक हो गए थे। गनीमत थी कि उसने दीपा को न उन रुपयों के आने के बारे में बताया था और न खोने के बारे में, लेकिन दीपा ने उसे मरा-मरा सा देखकर खुद ही पूछ लिया था- ''कहीं तुमने भी शेयरों में रुपए तो नहीं डुबो लिये न? जिसे देखो वही सुस्त पड़ा है। यहाँ तक कि हमारे धोबी ने भी अपनी वर्षों की कमाई खो दी है।'' ''पागल हो गई क्या तुम? मैं और शेयर? कभी नहीं।'' -जयगोविन्द ने पूरा ज़ोर लगाकर उसे भरोसा दिलाया था।

रुपए तो डूब गये पर जयगोविन्द ने इसे कोई नुकसान न मानकर एक केस स्टडी की तरह देखा। कितने गजब की बात थी कि एक आदमी या कुछेक आदमी मिलकर पूरे देश की अर्थव्यवस्था को झकझोर दें -उसके तमाम सुराखों से अपने फायदे के लिए रास्ते निकाल लें। जयगोविन्द ने ए.सी.सी. सीमेण्ट कम्पनी के शेयर खरीदे थे, जिनकी कीमत चार हज़ार प्रतिशत बढ़ाई गई थी। मजे की बात थी कि हर्षद मेहता नाम के शख्स ने बैंकों को उनके आपसी लेन-देन में बेवकूफ बनाकर उन्हीं का सारा पैसा शेयरों की कीमत बढ़ाने में लगा दिया था। बैंकों को दिवालिया बना दिया पट्ठे ने। कोई मामूली बात तो नहीं है। दिमाग़ चाहिए ऐसी आँधी चलाने में, जिसमें सब तिनकों की तरह उड़ जाएँ। बैंक अपना पैसा डुबोने के लिए तो नहीं देती, उन्हें यकीन दिलाना पड़ता है कि पैसा ब्याज सहित मिल जाएगा। क्या मज़ेदार खेल खेला शख्स ने। इसकी टोपी उसके सिर -उसकी टोपी किसी और के सिर। कितने लोगों का उसने यक़ीन दिलाया कि उसी के हाथ में उनकी टोपी है।

सच पूछा जाए, तो जयगोविन्द किसी का पिछलग्गू बनने लायक समझता है तो ऐसे हर्षद मेहता जैसे धुरन्धर शख्स का। राधेश्याम बाबू जैसे लोग तो इस देश में भरे पड़े हैं, जो किसी न किसी सरकारी बाबू या नेता की जेब गरम करके अपने माल की खरीद करवा देते हैं या कच्चा माल सरकारी 'कोटे' से हासिल करने में कामयाब होकर कोई इण्डस्ट्री लगा कर कमाई कर लेते हैं। टाटा-बिड़ला से लेकर छोटे-मोटे उद्योगपति तक सब लाइसेंस राज में इसी फिराक में लगे रहे। पर यह हर्षद मेहता अनोखी चीज़ है। उसने किसी का तलवा नहीं चाटा बल्कि सबको भरोसा बेचकर अपना काम बनाया। अब सरकार करती रहे उन सुराखों को बन्द, जिनमें से हर्षद मेहता ने घुसकर करोड़ों-अरबों का वारा-न्यारा कर दिया। उसके दिमाग की दाद तो देनी ही पड़ेगी कि वह इतने बड़े देश के इतने लोगों को भरोसा बेच सका।

जयगोविन्द को याद आया कि उन्हीं दिनों वह समर शुक्ला का भी कोई मुरीद नहीं हुआ था। अगर इस सिस्टम को

जीतना है, तो उसी के तौर-तरीकों से। बड़ा बाज़ार का एक छोटा-मोटा नेता अगर देश के तमाम अखबारों के पहले पन्ने पर पहुँचता है, तो इसमें उसकी समझ और सूझ-बूझ के अलावा उसके पास क्या साधन है? किस आदमी के क़रीब पहुँचने के लिए क्या करतब करना है और कब उसे छोड़कर किसी दूसरे का पल्ला पकड़ लेना है, यह उसे पता होना चाहिए। विरोध-प्रतिरोध कब काम करते हैं और कब चुप्पी साधकर बैठ जाना होता है, वह सब जानता है। नेता, अभिनेता और उद्योगपति -वह तीनों के काम का ही आदमी नहीं है, वह इन तीनों को एक सूत्र में बाँधने वाला भी है। जयगोविन्द को याद आया कि माँ ताश का खेल खेलती थी, तो बिना पत्ते देखे ही बाजी लगा देती थी। अक़्सर माँ जीत भी जाती थी। आदमी को ज़िन्दगी में जीतने के लिए एक छठी इन्द्रिय की ज़रूरत होती है। लोग जिसे भ्रष्टाचार कहते हैं, वह दरअसल इसी 'एक्स्ट्रा' दिमाग़ के सिस्टम को अपनी शर्तों पर चलाने की प्रतिभा है। इस कम्प्यूटर का सॉफ़्टवेयर बनाना और चलाना हर किसी के वश की बात नहीं। जयगोविन्द को अब इस सिस्टम को तोड़मरोड़ कर अपने काम में लगाना कम्प्यूटर की किसी नई-पुरानी भाषा को बरतने से कोई कम रोमांचकारी और दिलचस्प नहीं लगता।

देश की आज़ादी की पचासवीं वर्षगाँठ के पहले के दो साल जयगोविन्द को सबसे ज़्यादा याद आते हैं। यह उसके जीवन का 'पीक पीरियड' था या उसे तब ऐसा ही लगा था। उसे लगने लगा था कि उसने सिस्टम को समझ लिया है और उसकी मंजिल तक जाने का रास्ता उसे मालूम है। यही वह समय था जब वह बड़ा बाजार थाने के ओ.सी. की पॉकिट से दस रुपये का नोट निकाल कर उसी के चपरासी को दे सकता था कि मेरे लिए पान-मसाला की एक पुड़िया लाओ। उद्योग भवन के गलियारों में लाइसेंस लेने वालों या अपना तय 'कोटा' बढ़ाने वालों की भीड़ भले ही कम हो गई हो, दिल्ली में जयगोविन्द की जान-पहचान और इसलिए उसकी खुद की माँग बढ़ती जा रही थी। विदेशों से भारी पैसा देश में आ रहा था और दुनिया की तमाम बड़ी कम्पनियाँ भारत को भविष्य का सबसे बड़ा बाज़ार मानकर किसी और से पहले भारत में अपने पैर फैलाना चाह रही थीं। जूट मिलों में जयगोविन्द के सॉफ़्टवेयर की माँग इतनी बढ़ गई थी कि उसे अपने मातहत पाँच लोगों को रखकर काम करवाना पड़ रहा था। पर्यावरण को बचाने के आन्दोलन के कारण दुनिया में जूट की माँग बढ़ रही थी और जो जूट मिलें मज़दूरों का प्रोविडेण्ट फण्ड तक जमा न करा पाने के कारण करोड़ों रुपए की बकाया रकम उधार करके बन्द होने की कगार पर पड़ी थीं, उन्हें एक बार फिर से सुनहले जूट के धागे के सुनहले दिन दिख रहे थे।

उन्हीं दिनों उसके पास एक ऐसे शख्स का फोन आया था, जिसे वह हिन्द मोटर के दिनों से जानता था। वहाँ के एकाउण्ट्स विभाग में काम करने वाला रमेश खेतान सेण्ट्रल एवेन्यू पर जानकीदास तेजपाल मैनशन से एक मकान दूर पर ही रहता था। पता चलने पर हावड़ा स्टेशन से दोनों साथ ही हिन्द मोटर जाने लगे थे। बाद में जब जयगोविन्द ने वहाँ काम छोड़ा तो कुछेक साल बाद खेतान उसके पास नौकरी के लिए आया था। तब राधेश्याम बाबू से सिफ़ारिश कर जयगोविन्द ने उसे उनकी जूट मिल में एकाउण्टेण्ट की नौकरी दिलवा दी थी।

इस बार रमेश खेतान ने फ़ोन पर कहा था- ''जयगोविन्द, तुम सब छोड़-छाड़ कर हमारे साथ आ जाओ। हम तीन लोग मिलकर एक जूट मिल खरीद रहे हैं। हमें खरीदने के लिए देना होगा सिर्फ़ एक लाख रुपया। पाँच करोड़ का बकाया हमारे सिर ज़रूर रहेगा, पर तुम उसकी चिन्ता मत करो। प्रोविडेण्ट फण्ड डिपार्टमेण्ट के दो अफ़सर हमसे मिले हुए हैं। तुम सोचो मत, बस हाँ कर दो।'' जयगोविन्द की हैरत का ठिकाना नहीं था। कल तक एकाउण्टेण्ट की नौकरी करने वाले की इतनी औकात कि पाँच करोड़ का बकाया सिर पर लेकर जूट मिल खरीद ले। सबसे बड़ा

आश्चर्य तो यह है कि खेतान उसे अपने साथ क्यों रखना चाहता है? क्या इसलिए कि उसके मार्फ़त वह पुलिस और सरकार से बचना चाहता है? या फिर वह उससे मुफ्त में सॉफ़्टवेयर लगवाकर जूट मिल को चलाने की सहूलियत चाहता है?

जयगोविन्द फ़ोन पर हँसा था- ''अरे यार, तुम मुझे सोचने के लिए थोड़ा वक़्त तो दोगे? तुम तो जानते ही हो अभी कम्प्यूटर की माँग इतनी बढ़ गई है कि मेरी हालत पतली हो रही है। ऊपर से जानकीदास तेजपाल मैनशन को हर हाल में ढहाए जाने से बचाना है। उसका कोर्ट में केस चल रहा है। 'मेट्रोपीड़ित बन्धु एसोसियेशन' की ज़िम्मेदारी मुझ पर डाल दी गई है। क्या करूँ और क्या न करूँ? दिन में अड़तालीस घण्टे होते, तो कम पड़ते।'' रमेश खेतान एक सेकेण्ड चुप रहा, फिर बोला- ''मैंने तुमसे तुम्हारा रोज़ का कार्यक्रम नहीं पूछा था जयगोविन्द। फालतू के कामों में आदमी सारी ज़िन्दगी बिता सकता है। उससे होगा क्या? तुम सब छोड़-छाड़ कर हमारे साथ आ जाओ। ऐसा मौका ज़िन्दगी में बार-बार नहीं मिलता।''

ऐसा नहीं कि जयगोविन्द ने सोचा नहीं था कि रमेश खेतान का प्रस्ताव मान ले। जूट मिल का मालिक होना एक ऐसा सपना था जिसे उसने कभी देखा तक नहीं था। पर पाँच करोड़ की 'लायबिलिटी' सिर पर लेकर वह जिएगा कैसे? उसे जेल की वह रात याद आ गई। कितनी भयानक दुर्गन्ध थी। सारी रात उसने पेशाब रोककर रखा था। खटमलों से भरे कम्बल पर वह लेटा तक नहीं था। बाकी मुज़रिम उसे देख-देख हँस रहे थे। आज भी वह सीलन और पेशाब-टट्टी की दुर्गन्ध याद आती है, तो उबकाई आ जाती है। इतने सालों बाद अब जाकर इस देश में यह सपना पैदा हुआ है कि सब कुछ कम्प्यूटर पर किया जा सकता है। अब उसकी पढ़ाई की कीमत उसे मिल रही है और आगे भी मिलनेवाली है। ऐसे में वह किसी ऐसे रास्ते पर चलना नहीं चाहता जो उस दुर्गन्ध तक उसे फिर ले जा सकता हो। उसके जीवन का 'पीक-पीरियड' अब आया है, वह इसे किसी कीमत पर खोना नहीं चाहता।

आज पीछे मुड़कर देखा जाये, तो रमेश खेतान ने बिलकुल सही कहा था। जयगोविन्द को वैसा मौका कभी नहीं मिला। एक के बाद, दूसरी, तीसरी, चौथी जूट मिलें रमेश खेतान ने खरीद लीं। प्रोविडेण्ट फण्ड विभाग के दो अफसरों को सस्पेण्ड कर दिया गया। खेतान ने अलीपुर में बड़ा बंगला खरीद लिया। वह कभी जेल नहीं गया। उसका बेटा लाल रंग की 'फेरारी' गाड़ी में बैठकर रोज सुबह विक्टोरिया मेमोरियल के आस-पास चक्कर लगाता है। जयगोविन्द को खेतान ने कभी फिर फ़ोन नहीं किया, पर एक बार दस साल बाद किसी के यहाँ शादी में मिल गया, तो बड़ी गर्मजोशी से मिला। ''तुम्हारा जानकीदास तेजपाल मैनशन तो अभी तक खड़ा है''- उसने हँसकर कहा। जयगोविन्द जवाब में खिसियानी-सी हँसी हँसकर रह गया।

बीच के इन दस सालों में बहुत कुछ बीत चुका था। अब तो जानकीदास तेजपाल मैनशन भी आधे टूटे हुए खण्डहर की तरह खड़ा था, जिसके किसी भी दिन गिरने की आशंका से प्रायः सारे लोग भाग लिए थे। जयगोविन्द नयी शताब्दी शुरू होने के पहले कम्प्यूटरों पर 'वाइ टू के' यानी दो हज़ार वर्ष के तीन शून्य आने पर सारे आँकड़ों के गायब होने के ख़तरे से परेशान था। उसके लगाए कम्प्यूटर गंगा के दोनों तटों पर फैली बीसियों जूट मिलों में चल रहे थे। रोहित अमेरिका में पढ़ाई पूरी करके नौकरी में लग चुका था। उसी की सलाह पर जयगोविन्द 'वाई टू के' पर एक कोर्स करने के लिए अमेरिका फिर से हो आया था।

अमेरिका से लौटने के बाद जयगोविन्द को अचानक महसूस हुआ कि वह अब यह काम और नहीं कर सकता।

आखिर कब तक वह इस तरह जूट मिलों तक सड़कें मापता रहेगा? हर काम को करने की एक उम्र होती है। पचास के आस-पास आदमी यह महसूस करने लगता है कि जीवन को पहले की गति पर जीया नहीं जा सकता। ऊपर से इस देश में कोई काम प्रोफ़ेशनल तरीके से करना असम्भव है। आपके नीचे काम करने वाला आदमी हमेशा इस फिराक में है कि कैसे वह आपको धोखा देकर खुद अपनी सॉफ़्टवेयर आपकी खरीददार कम्पनियों में लगा दे। उधर आपके खरीददार लगातार इस चेष्टा में लगे रहते हैं कि आपके आदमी को तोड़ लें और उससे वही काम आधे दाम पर करवा लें। जैसे ही आपका आदमी उनका आदमी बन जाता है, वे आपसे झगड़ा कर काण्ट्रेक्ट खत्म करने का मौका खोजने लगते हैं। रोज़ आपको तंग करने के लिए नई-नई शिकायतें करने लगते हैं।

रोहित क्या गलत कहता है कि इण्डिया में तो लोगों का वश चले तो हर तरह की सलाह फ़ोन पर मुफ़्त में ही ले लें। बात बिलकुल सही है। यहाँ लोग कोशिश करते हैं कि डॉक्टर फ़ोन पर ही मर्ज़ सुनकर फ़ोन पर ही दवा लिखवा दें। इसीलिए डॉक्टर लोग भी चालाकी करते हैं। वे बिना मतलब आपके एक्सरे या खून टेस्ट करवा देते हैं और उसकी कमीशन उनकी जेब में पहुँच जाती है। लोग वकील तक से भी फ़ोन पर सलाह कर अपना काम करवा लेना चाहते हैं। इसीलिए वकील आपका केस उलझाए रखता है कि आपकी इनकम टैक्स या सेल्स टैक्स की समस्या कभी सुलझे नहीं और सुलझे तो बिचौलिए के रूप में अपनी जेब में मोटा पैसा डालकर। अफ़सर की जेब में जितना पैसा वकील डालेगा, उतना ही अपनी ही जेब में डालेगा। अजीब गोरखधन्धा चलता है इस देश में।

कहा जा रहा था कि किसी भी इंजीनियर, डॉक्टर से यहाँ वे लोग ज़्यादा कमाएँगे जो किसी तरह की सेवा उपलब्ध कराएँगे। जैसे विदेशों में पोस्टमैन, ड्राइवर और आपका हेयरड्रेसर या नाई आपके बराबर के मकान में रहकर आपकी तरह की ज़िंदगी जीता है, उसी तरह यहाँ भी हर तबके का आदमी ऊपर उठ सकेगा। पर यहाँ हुआ यह है कि सिर्फ़ वे लोग कमाई कर पाए जिन्होंने विदेशों को अपनी सेवा कम्प्यूटरों के जरिये बेची। उन्हीं के पास चेन्नई, बेंगलोर, हैदराबाद, गुड़गाँव में विदेशों का धन आया, और नीचे तबके का आदमी भी वहीं चल दिया क्योंकि उन्हें अच्छी तनख़्वाह वहीं मिल सकती थी। अब नौकर, ड्राइवर या दरबान बिहार-यू.पी. से कलकत्ता नहीं आते। सीधे बेंगलोर या हैदराबाद जाते हैं। रोहित कहता है कि कभी वह इण्डिया लौटा, तो बेंगलोर में ही बसेगा। कम-से-कम वहाँ पर यह 'कल्चर' तो आया है कि काम सही तरीके से करो और उसके मुहमाँगे दाम लो।

रोहित की बातें गलत नहीं थीं। जयगोविन्द को अपनी कन्सल्टेन्सी बन्द करनी पड़ी क्योंकि काम बहुत था, पर करने वाले लोग नहीं थे। या तो वे उसे धोखा देकर अपना हिसाब बैठाकर उसी के 'क्लायण्ट्स' यानी ग्राहकों को हड़प लेते थे, या बेंगलोर, गुड़गाँव में नौकरी के आवेदन के जवाब का इन्तज़ार करते एक तरह से मन-ही-मन त्यागपत्र लिख चुके होते थे। जयगोविन्द को लगने लगा था कि काम करवाना होगा, तो ऐसे लोगों से जो इतने चतुर नहीं हैं कि अपना अलग रास्ता निकाल सकें और उसी की तरह किसी कारण से नहीं छोड़ सकते। पर काम को बन्द करने का अन्तिम निर्णय उसने तब लिया जब उसके पास पाँच साल से काम कर रहे एकदम सीधे-सादे गोवर्धन दास को उसने अपने सॉफ़्टवेयर की नकली कॉपी बनाते हुए पकड़ लिया। रोहित कहता था कि अमेरिका में अगर किसी का सगा भाई भी उससे पैसा देकर खरीदे किसी फ़िल्म या गाने की 'डाऊनलोड' की नकल करना चाहे, तो वह उसे कभी नहीं देगा। वह अपने भाई को साफ़ कह देगा कि ऐसा करना अनुचित और ग़ैर कानूनी है।

कन्सल्टेन्सी बन्द करने का निर्णय लेने में कोई दुविधा इसलिए भी नहीं हुई थी क्योंकि उसके पास मिशिगन के पुराने दोस्त प्रीतम भंसाली का बहुत बढ़िया ऑफर था। प्रीतम भारत आकर चेन्नई यानी कि पुराने मद्रास में बस गया था

और उसकी कम्पनी 'सिलिकोन सॉफ़्टवेयर' के पास दुनिया की तमाम बड़ी-बड़ी कम्पनियों का आई.टी. का बिज़नेस था। सिर्फ आठ सालों में उसने अमेरिका, यूरोप और सिगांपुर में कम्प्यूटिंग कर देश के मुख्य दस बी.पी.ओ. या कॉल सेण्टर में अपना नाम दर्ज करवा लिया था। उसने फ़ोन पर जयगोविन्द को कहा था, ''अगले दो साल में यानी २००० के साल में मेरे पास २००० लोग काम कर रहे होंगे। मैं यह बात अपनी बड़ाई मारने के लिए नहीं बता रहा हूँ, सिर्फ तुम्हें यह बताना चाहता हूँ कि मेरा काम कितना फैल गया है। तुम्हारे लिए मेरे दरवाज़े हमेशा खुले हैं।'' जयगोविन्द का मन नहीं हुआ था कि उसे बताए कि वह कलकत्ता क्यों नहीं छोड़ना चाहता। अब जब एडवोकेट बाबू मर चुके हैं, यह कहना हास्यास्पद लगेगा कि वह एक पुराने झुके हुए मकान को बचाने के लिए शहर नहीं छोड़ सकता।

जयगोविन्द ने यूनिवर्सिटी के दिनों के अपने पुराने बिन्दास अन्दाज़ का सहारा लिया- ''अभी मेरा मूड छोड़ने का नहीं हैं। पर तुम्हारा काम मैं यहीं बैठा कर सकता हूँ। आज इण्टरनेट के जमाने में मैं तुम्हारे बगल के चेम्बर में बैठकर काम करूँ या तुमसे पन्द्रह सौ किलोमीटर दूर, क्या फ़र्क पड़ता है?'' भंसाली हँस पड़ा था। ''तुम करोगे वही, जो तुम चाहोगे। चलो, कोई बात नहीं। आज से तुम मेरी कम्पनी के आदमी हो। तुम्हारा सर्विस काण्ट्रेक्ट तुम्हें दो दिन में मिल जाएगा। तनख्वाह में तुम्हें जो रकम बैठानी हो, बैठा लेना। उस पर हम बात नहीं करेंगे।'' जयगोविन्द ने प्रीतम भंसाली के लिए काम करते हुए आश्चर्य से देखा कि कम्पनी का ध्यान सिर्फ अपने शेयरों के दाम बढ़ाने की तरफ था। प्रीतम जब-तब उसे फ़ोन करता। पर बातें बी.पी.ओ. से सम्बन्धित यानी विदेशी ग्राहकों को सन्तुष्ट रखने की समस्याओं पर नहीं होती थी। प्रीतम उसे कहता -''तुम मेरी कम्पनी के शेयर खरीद लो। जितना पैसा तुम्हारे पास इधर उधर पड़ा हो या भाभी के पास हो या बाजार से जितना ब्याज पर मिल जाए, सब लेकर मेरे शेयरों में लगा दो जैग। तुम क्या लाख-पचास हज़ार महीना कमाने के लायक हो दोस्त? तुम अमेरिका से पढ़े हुए सिस्टम इंजीनियर हो। मुझे दुख होता है कि तुम कुछ कर नहीं पाए।'' जयगोविन्द का दिमाग चकरा जाता। उसे मालूम था कि प्रीतम दो-तीन पेग पीकर ही उससे बात कर रहा है। बेशक प्रीतम अरबपति बन चुका है जबकि वह पढ़ने में जयगोविन्द से हरदम पीछे रहा। इस लिहाज से जैग के लिए उसका दुःख सही है, पर उसकी बात पर भरोसा कैसे किया जाय? जूट मिलों में दिन-रात गाड़ी चलाकर कमाए हुए पैसों को दाँव पर कैसे लगाया जाये?

वर्ष २००० के साल में जब 'सिलिकोन सॉफ़्टवेयर' के एक शेयर का दाम २१०० रुपए तक चढ़ गया, तो जयगोविन्द के होश उड़ गए। अगर उसने प्रीतम की बात मान ली होती, तो आज वह छोटा-मोटा करोड़पति बन ही जाता। यह अवसर भी उसने गँवा दिया। दो साल में जितने रुपए प्रीतम की कम्पनी से कमाए थे, यदि वही लगा देता, तो सारे पाप धुल जाते। पर जब वही शेयर अगले साल ही पचास रुपए हो गए, तो जयगोविन्द ने अपनी पीठ ठोंक ली। बच गया वह तो। तीन महीने बाद उसने अख़बार में एक रिपोर्ट पढ़ी कि 'सिलिकोन सॉफ़्टवेयर' ने एक ही नम्बर के शेयर किसी विदेशी कम्पनी को और मद्रास की किसी कम्पनी को बेचे हैं और बड़े-बड़े बैंकों का रुपया उस पर बकाया है। जयगोविन्द ने तुरन्त प्रीतम को फ़ोन लगाया। जैसे ही उसने अख़बार का ज़िक्र किया, प्रीतम ने लाइन काट दी।

कुछ महीनों तक जयगोविन्द के पास उसकी तनख्वाह का चेक आता रहा। उसके बाद पता चला कि 'सिलिकोन' ने अपने ख़ास ग्राहकों के साथ एग्रीमेण्ट किसी दूसरी कम्पनी को बेच डाले हैं। जयगोविन्द ने फिर प्रीतम के मोबाइल पर फ़ोन लगाया, पर फ़ोन नहीं उठाया गया। उसके बाद चेक आने बन्द हो गए। कुछेक महीने बाद अचानक प्रीतम ने

वापस जयगोविन्द को फ़ोन किया और किसी बैंक के अफसर से मिलकर दस कम्पनियों के नाम से बैंक में एकाउण्ट खोलने के लिए पच्चीस हज़ार रुपए उसे देने के लिए कहा। जयगोविन्द का मन हुआ कि इन्कार कर दे। पर वह दोस्ती के तकाज़े से ऐसा कर नहीं सका। बाद में जब प्रीतम भंसाली गिरफ़्तारी के डर से अमेरिका भाग गया, तब जयगोविन्द को अख़बारों से पता चला कि उसने उन दस फर्जी कम्पनियों के बैंक एकाउण्ट से करोड़ों रुपए इधर से उधर किए थे कि सरकार और शेयरहोल्डरों की आँखों में धूल झोंकी जा सके।

जयगोविन्द बहुत दिनों तक घबड़ाया रहा कि पुलिस उस तक न पहुँच जाये। प्रीतम पर न जाने कितने केस चल रहे थे। एक तो वे पच्चीस हजार रुपए प्रीतम उसे भेजना भूल गया था। ऊपर से जयगोविन्द की जान सूखी जा रही थी कि कहीं वह बैंक अफसर उसका नाम-पता और फ़ोन नम्बर पुलिस को न बता दे। पर शायद वह मामला रफ़ा-दफ़ा हो गया था। तीन साल बाद जब प्रीतम वापस भारत लौट आया और पुलिस ने उसे एयरपोर्ट पर गिरफ़्तार कर सीधे जेल भेज दिया, तो जयगोविन्द का सोया हुआ डर फिर उठा। छह महीने बीतने पर उसने जैसे ही चैन की साँस ली कि एक दिन किसी अजय विश्वास का फ़ोन उसके मोबाइल पर आया- ''हैलो मिस्टर जैग! मैं अजय विश्वास बोल रहा हूँ, मिस्टर प्रीतम भंसाली का सेक्रेटरी। आपको तो पता ही होगा कि प्रीतम सर को चेन्नई से कलकत्ता के प्रेसीडेन्सी जेल में शिफ़्ट किया गया है। मिस्टर भंसाली आपसे मिलना चाहते हैं। क्या आप कल शाम को पाँच बजे अलीपुर में जेल के गेट पर मुझे मिलेंगे?''

जयगोविन्द चकरघिन्नी हो रहा था। क्या वह साफ़ इन्कार कर दे या फिर कोई बहाना मार दे? साला वहीं मद्रास में पड़ा रहता। यहाँ आया होगा बैंक के उन्हीं दस खातों के कारण। अब उसे मिलने के लिए जेल में बुला रहा है! क्या पता यह धमकी हो कि अगर वह नहीं गया, तो उसका नाम प्रीतम पुलिस को बता देगा। लेकिन यदि वह जाता है, तो एक तरह से यह निश्चित हो जाता है कि कलकत्ते की धाँधलियों में वही भंसाली का पार्टनर है। पर जाना तो पड़ेगा ही। दोस्ती का भी एक तकाज़ा होता है। वह प्रीतम से यह पूछना भी चाहता है कि उसने क्यों अपने बने-बनाए साम्राज्य को इस तरह मटियामेट किया। क्या तो वह सपना देख रहा था कि 'इन्फोसिस' जैसी बड़ी कम्पनी बनाकर दिखाएगा और अब इस तरह सब कुछ लुटा कर जेल की सलाखों के पीछे दुर्दान्त दुर्गन्ध में पड़ा है! क्या करोड़ों का साम्राज्य उसके जीने के लिए काफ़ी नहीं था?

जयगोविन्द प्रीतम से मिला, पर न तो उसे जेल की दुर्गन्ध का सामना करना पड़ा और न ही वह प्रीतम से यह सवाल पूछ पाया। सेक्रेटरी अजय विश्वास ने भेंट करने वाले दिन सुबह-सुबह फ़ोन करके उसे बताया कि उसे अलीपुर जेल न जाकर रेसकोर्स के सामने वाली सड़क पर एक अस्पताल में जाना है और गेट पर दरबान को सिर्फ़ अपना पहला नाम जैग बताना है। जयगोविन्द की जान में जान वापस आ गई। बेशक प्रीतम जैसा चतुर सुजान क्या जेल में सड़ेगा? आखिर इतने अरब रुपए का करेगा भी क्या? बीस-तीस लाख आराम के लिए खर्च हो भी जाएँ तो क्या! उसके पास एक-एक करोड़ रुपए की कई गाड़ियाँ ही होंगी।

अचानक जयगोविन्द को कुछ बातें समझ में आईं। प्रीतम ने कभी उसे मद्रास नहीं बुलाया कि अपना वैभव दिखा सके। गाड़ियों के बारे में उसने अख़बार में ही पढ़ा था। क्या पता उसके पास सचमुच विदेशी कम्पनियों का इतना बड़ा आई.टी. सर्विस का काम था या नहीं? क्या पता सबकुछ फुलावटी हो और एक को हज़ार या दस हज़ार भी बताया जा रहा हो। हो सकता है कि ये सारे आँकड़े बताकर बैंकों से पैसा लिया जा रहा हो और शेयरों के दाम बढ़ाए जा रहे हों। क्या पता जयगोविन्द की तरह प्रीतम भंसाली के मन में भी हर्षद मेहता के लिए प्रशंसा का भाव रहा हो

और उसने मन-ही-मन उसे अपना गुरु मानकर अपनी होशियारी से पूरे 'सिस्टम' को एक बार फिर से झटका दिया हो। बेकार है प्रीतम से कोई भी सवाल पूछना, वह यही कहेगा कि उसने कुछ गलत किया ही नहीं। हर्षद मेहता ने भी तो यही कहा था। जयगोविन्द अस्पताल में घुसते-घुसते सोचने लगा था कि कहीं सचमुच प्रीतम बीमार तो नहीं हो गया? उसने उसके सेक्रेटरी से औपचारिकता के नाते भी प्रीतम की तबियत के लिए कुछ नहीं पूछा था। अब अस्पताल की ड्योढ़ी में घुसते-घुसते अस्पतालों की डेटोल या फिनाइल या कुछ और की गन्ध को सूँघते हुए उसके मन में यह ख्याल आया। हर्षद मेहता तो पचास की उम्र तक भी नहीं पहुँचा था। बेचारा हार्ट अटैक से मर गया। उसने काली-सफेद दाढ़ी उगाए हुए आँखों के काले घेरे में डूबती आँखों वाले प्रीतम की कल्पना की। आज उससे चार साल बाद भेंट होगी। पिछली बार 'वाई टू के' का कोर्स करने के दौरान न्यूयॉर्क के एक कैफे में ही दोनों मिले थे। इण्डिया में तो न वह प्रीतम के अहमदाबाद वाले घर कभी गया न मद्रास वाले।

कहानियों या फ़िल्मों पर सम्भवतः आधारित जयगोविन्द की कल्पना बिलकुल ग़लत निकली। उसे प्रीतम सफाचट क्लीन-शेव किया हुआ आफ़्टर-शेव की सुगन्ध से महकता हुआ अस्पताल के बेड पर बैठा हुआ मिला। 'हाय'- कहकर उसने जयगोविन्द से पूरी ताकत से हथेली भींचकर हाथ मिलाया और अमेरिकन अँग्रेज़ी के लहजे में बोलते हुए अपनी सुन्दरी पत्नी से परिचय कराया। दो-तीन मिनट तक प्रीतम जैग की प्रतिभा को 'ब्रिलियण्ट' और 'आउटस्टैंडिंग' बताते हुए उसकी मिशेल से दोस्ती और फोर्ड मुस्टांग स्पोर्ट्स कार पर बोलता रहा। जयगोविन्द यह जानते हुए भी कि प्रीतम बेमतलब उसको मक्खन लगा रहा है, अपने अन्दर अच्छा महसूस कर रहा था। ''हमारा हीरो था जैग! इण्डिया की शान। इसे तुरन्त असिस्टेण्ट टीचर की नौकरी मिल गई थी और अमेरिकन गर्ल-फ्रेण्ड भी! बाक़ी हम सारे इसकी सूरत और तक़दीर से रश्क करते थे-'' प्रीतम बोलता जा रहा था। प्रीतम की दुबली-पतली पत्नी सचमुच गजब सुन्दरी थी। वह चालीस पार तो ज़रूर होगी, पर बीस साल से कतई ज़्यादा की नहीं लग रही थी। कोई उसे लगभग गंजे हो गए प्रीतम की लड़की भी समझ सकता था। उसने सुर्ख लाल रंग की लिपिस्टिक लगा रखी थी और एक बड़ा-सा पर्स झुला रखा था, जिस पर एक बड़ा-सा 'डी' लटक रहा था। 'डियोर- क्रिश्चियन डियोर' का पर्स होगा- जयगोविन्द के मन में ख़्याल आया। ऐसे लग रहा था जैसे वह किसी ख़ास पार्टी में जाने के लिए तैयार होकर आई हो।

प्रीतम अचानक मिशिगन यूनिवर्सिटी के दिनों से वर्तमान पर आ गया। ''तुम तो समझ ही रहे हो जैग कि यह देश अपने सबसे बेहतरीन 'टैलेण्ट' के साथ कैसा बरताव करता है? तुम्हें क्या मिला यहाँ आकर? और मुझे क्या मिला लौटकर? यह सड़े हुए अस्पताल का यह आठ बाइ आठ फुट का कमरा? इसका एयर-कण्डीशन और टी.वी. सिर्फ़ सजाने के लिए है। दोनों ही ढँग से काम नहीं करते। घर का खाना खाने के लिए और सिगरेट पीने के लिए रोज़ जेल में दस हज़ार रुपए खर्च होते हैं। मेरी बीवी की हालत देखो। बेचारी सूखकर काँटा हो गई है। रोज डिप्रेशन की दस गोलियाँ खाती है। मैं जेल में रोज इसके लिए एक कविता लिखकर इसे भिजवाता हूँ। उसके हज़ारों रुपए अलग लगते हैं। यह बेचारी मेरे लिखे उन चन्द शब्दों पर ज़िन्दा है।''

जयगोविन्द ने देखा कि प्रीतम की पत्नी की आँखों में पानी भर आया था। वाकई ये लोग बहादुर लोग हैं। इतनी तकलीफ में ऊपर से अपने को चुस्त-दुरुस्त दिखा रहे हैं। यह कोई मामूली बात नहीं। हो सकता है कि बहुत महत्त्वाकांक्षी होने के कारण भंसाली ने थोड़ा-बहुत गैरकानूनी काम कर डाला हो, पर वह कोई चोर-डाकू तो नहीं है। ऐसे भी इस देश में टाटा-बिड़ला-अम्बानी से लेकर खुद उस तक कौन बेदाग है? प्रीतम हमेशा से थोड़ा अलग किस्म

का था। ''रूल्स आर फौलोड बाय फूल्स''- यानी कि नियमों का पालन गधे करते हैं- यह उसका यूनिवर्सिटी के दिनों में भी तकियाकलाम था। ठीक ही तो है। ऐसे-ऐसे नियम सरकार ने बना रखे हैं जिन पर चलकर तो कोई दाल-रोटी भी ढँग से खा नहीं सकता। एक करोड़ रुपए की गाड़ी तो खैर सपने में भी नहीं देख सकता। खुद वह अपने जीवन का हिसाब-किताब जोड़े तो उसने लोगों के नाम सरकारी ब्लैकलिस्टों से हटाने में या सरकारी टेण्डर दिलवाने में जितना कमाया है, उसका आधा भी जूट मिलों में अपना सॉफ़्टवेयर लगाकर चलाने में नहीं कमाया होगा।

''तुम्हें मेरा एक काम करना होगा दोस्त-'' प्रीतम के कहते ही जयगोविन्द एकाएक सकते में आ गया कि कोई नई मुसीबत पैदा होने को है। एक पल में उसके दिमाग ने उससे कहा- ओह यू स्टुपिड मैन। तुम क्या सोच रहे थे कि प्रीतम भंसाली जैसा इन्सान अपनी बीवी के सामने तुम्हारी बड़ाई ऐसे ही कर रहा था! ऑफ़ कोर्स, उसने तुम्हें कोई काम से ही याद किया है। ''देखो जैग, मुझे मिशिगन यूनिवर्सिटी के हमारे दोस्त दीपंकर सेन से पता चला कि तुमने उसका दिल्ली का डीडीए का फ़्लैट बिना कागज़ों के ही बिकवा दिया है। उसने बताया कि उसके पिता को वह फ़्लैट एलॉट किया गया था, पर उसके कागज़ उनके मरने के बाद उसकी माँ के पास से गायब हो गए थे। उसने बताया कि तुमने सिर्फ़ पाँच परसेंट के कमीशन पर यह काम करवा दिया। इतना ही नहीं, तुमने उसका कलकत्ते का टालीगंज वाला पुश्तैनी मकान भी बहुत रुपयों में बिकवा दिया। वह आज मौज में करोड़ों रुपए लेकर बैठा है, तो सिर्फ़ तुम्हारे कारण। अब मुझे भी तुम ही बचा सकते हो। मेरे पास कलकत्ते के आस-पास बहुत जमीनें हैं। मुझे सबके दाम खड़े करने हैं। तुम्हारा कमीशन तुम्हीं तय करोगे। जितनी ज़्यादा मुश्किल खाली करवाने में होगी, तुम्हारा कमीशन उतना ही ज़्यादा रखो। एनी प्राब्लम?''

जयगोविन्द ने नो प्रॉब्लम के अन्दाज़ में सिर हिलाते हुए प्रीतम की पत्नी की ओर देखा। उसके चेहरे पर बच्चों की-सी मासूम मुस्कान खेल रही थी।

जयगोविन्द का सारा सामान मुम्बई या बम्बई जाने के लिए पैक हो चुका है। उसने अपने जयदीप के नाम से लिखे आत्मकथात्मक उपन्यास को पूरा नहीं पढ़ा। बम्बई में तो कोई ख़ास काम नहीं होगा। न कोई यार दोस्त होगा आस-पास और न कोई 'रीयल इस्टेट' का बिज़नेस। ज़्यादा-से-ज़्यादा फ़ोन पर कलकत्ते वाले दलाल से कुछ शेयरों की खरीद करवा लेगा या बेच लेगा। बाक़ी समय तो किताबें पढ़ने में ही बीतेगा। अब तो ऑन-लाइन खरीदकर लैपटॉप में ही अनगिनत किताबें पढ़ी जा सकती हैं। ज़रूरत पड़ी तो किसी लाइब्रेरी की मेम्बरशिप ले लेगा। सुमित नौकरी की तरह ही जल्दी-जल्दी घर भी बदल लेता है। पर लाइब्रेरी तो हर जगह होती ही होगी।

जयगोविन्द ने कलकत्ता एयरपोर्ट पर बैठे-बैठे बम्बई के लिए बोर्डिंग की घोषणा होने का इन्तज़ार करते याद करने की कोशिश की कि उसके उपन्यास का अन्त कहाँ पर हुआ था। जहाँ तक उसे याद है, उपन्यास की शुरुआत वहाँ हुई थी जब दीपा और वह जानकीदास तेजपाल मैनशन में सबके छोड़कर चले जाने के बाद अकेले बचे थे। नीचे तिवारी दरबान था जो उसी के जाने के इन्तज़ार में तकलीफ सह रहा था। उन लोगों ने अगल-बगल के कमरों के दरवाज़े-खिड़कियाँ निकाल लिए थे और छत तोड़ने की धमकी तिवारी को दे चुके थे। सड़क से गुजरते हुए उसे पीछे से लोगों की टिटकारी और हँसने की आवाज़ें सुनाई पड़तीं। उसे मालूम था कि ये लोग आफ़ताब हुसैन के बैठाए हुए लोग हैं जो उसका और तिवारी का मनोबल तोड़ने के लिए उसे सुना-सुनाकर गालियाँ और धमकियाँ देते रहते हैं।

उपन्यास का अन्त क्या था? जयगोविन्द को यह याद है कि प्रीतम भंसाली ने उसे 'रीयल इस्टेट एजेण्ट' बनाकर उसके जीवन की एक नई दिशा तय कर दी थी। ठीक उसी समय पूरे देश में ज़मीन की कीमतों में ऐसा उछाल आया

था, जिसकी किसी ने कल्पना नहीं की थी। कलकत्ते में ज़मीनों के दाम पहले वाली बम्बई के दामों जैसे हो गए थे। यहाँ तक कि गली-कूचों में भी लोग पचास लाख रुपए 'कट्ठा' यानी सात सौ बीस वर्ग फुट जगह के लगाने लगे थे। कल तक जो ज़मीन सबसे महँगे इलाके में पच्चीस लाख रुपए कट्ठे में बिक नहीं पा रही थी, उसी का दाम दो से अढ़ाई करोड़ रुपये कट्ठे का हो गया था। कोई ऐसी गली नहीं थी जिसमें पुराने मकान टूटकर नए मकान न बन रहे हों। कलकत्ता शहर के अन्दर जिन इलाकों में बड़े-बड़े कारखाने हुआ करते थे, वहाँ आकाश को छूती शानदार मल्टीस्टोरीड बिल्डिंग खड़ी हो रही थीं। विराट शॉपिंग मॉल बनाने की घोषणाएँ की जा चुकी थीं। राजारहाट में न्यू कोलकाता के लिए सपाट खड़ी ज़मीनों पर बड़े-बड़े काँच की दीवारों वाले मकान खड़े होने लगे थे। ऐसा लग रहा था कि न्यू कोलकाता सिंगापुर जैसा बन जाएगा।

प्रीतम भंसाली की बेहाला वाली ज़मीन खाली करवाने में जयगोविन्द पूरे दो साल तक लगा रहा था। कई एकड़ ज़मीन कई कम्पनियों के नाम से थी, पर यह तब खरीदी गई थी, जब उस पर एक पूरी बस्ती बस चुकी थी। जयगोविन्द की बड़ा बाजार के थाने में और यहाँ के काउंसलर एम.एल.ए-एम.पी. से जितनी जान-पहचान थी उससे कहीं ज़्यादा बेहाला में बन गई थी। बेहाला के सबसे बड़े मस्तान दिवाकर घोष से तो उसका ऐसा दोस्ताना हो गया था कि अपने घर शाकाहारी खाना बनाकर उसे खिलाए बिना दिवाकर भेजता ही नहीं था। दीपा को खुद ही फ़ोन लगाकर कहता कि जॉय दादा यानी जयगोविन्द हमारे घर खाकर जाएँगे। बेशक दीपा को उसने दिवाकर का परिचय बेहाला के जमींदार परिवार का बताकर दे रखा था। कई बार दिवाकर उसे अपनी ज़मीन पर उगाई सब्ज़ियाँ भी दे देता। इससे भी दीपा को भरोसा दिलाने में आसानी हो जाती थी।

दिवाकर घोष की मदद से बेहाला की ज़मीन लगभग खाली करवाई जा चुकी थी। दिवाकर ने आफ़ताब हुसैन की तरह ही मेज़ पर पिस्तौल रखकर आधे लोगों को भुगता दिया था। बाक़ी लोगों को उसने एक-एक करके तरह-तरह से तोड़ा। जाहिर है कि इसमें जयगोविन्द ने उसे कई तरह की आइडिया दीं। एक आदमी को दमे की शिकायत थी। उसके बगल पड़ी खाली जगह में रोज लाल मिर्च की धूनी लगाकर खाना बनवाया गया। वह दस दिन में ही भाग लिया। बस एक नब्बे साल की अकेली बुढ़िया बच गई थी जिसके पास उसका कोई दूर का भतीजा रहता था। बुढ़िया किसी तरह जाने को तैयार नहीं थी। वह वहाँ जाते ही गाली बकने लगती। जयगोविन्द को कई बार लगता कि यह बुढ़िया उसी का प्रतिरूप है। या शायद एडवोकेट बाबू ज़िन्दा रहते, तो इसी तरह मकान खाली नहीं करते, चाहे कुछ भी हो जाता।

उपन्यास का अन्त शायद वहीं हुआ था जब जयदीप जानकीदास तेजपाल मैनशन से रातोंरात बिना सामान लिए भाग खड़ा हुआ था। उसी दिन बुढ़िया को उसके भतीजे की मदद से नींद की गोली खिलाकर दिवाकर घोष ने कलकत्ते से पचास मील दूर अपने पुश्तैनी घर के पास एक झोपड़ी बनाकर पार्सल कर दिया था। जयदीप जब रात को टंकी तोड़कर भारी पत्थर लुढ़काने से भी डरकर नहीं भागा था, तब आफ़ताब हुसैन हाइकोर्ट से नोटिस ले आया था जिसमें कॉरपोरेशन के चीफ़ इन्जीनियर की सिफ़ारिश पर जानकीदास तेजपाल मैनशन को गिराने का आदेश था। बहुत मिन्नत कर जयदीप ने दो दिन की मोहलत माँगी थी और अगले दिन दो ट्रकों में गोदरेज की लोहे की भारी अलमारियाँ और पुराना फर्नीचर लदवाकर उस दड़बे में ले आया था, जिसमें दीपा के साथ उसने अपने दाम्पत्य जीवन के अन्तिम दो साल गुजारे थे।

उधर बुढ़िया भागी, इधर जयदीप। एक ही रात में दोनों बेघर हो गए थे। यदि ऐसा सच में न हुआ हो या आगे-पीछे हुआ हो, तो भी उपन्यास का अन्त एक ऐसे संयोग से करना कोई पुरातनपन्थी तरकीब तो नहीं? बेदखल होना और बेदखल करना एक साथ होते ही हैं। यह तो जीवन का शाश्वत सत्य है।

अनन्तमूर्ति स्मृति

कमलेश

श्री अशोक वाजपेयी ने ज्ञानपीठ पुरस्कार प्राप्त कन्नड़ में लिखने वाले भारतीय लेखक श्री उ. रा. अनन्तमूर्ति के निधन के पश्चात् उनकी स्मृति में रज़ा फाउण्डेशन की ओर से इण्डिया इण्टरनेशनल सेण्टर में एक सभा आयोजित की थी। उसमें श्री शिव विश्वनाथन, श्री सीताराम येचुरी, श्री देवी प्रसाद त्रिपाठी, श्री सुरेश शर्मा आदि के अलावा मुझसे भी बोलने के लिए कहा गया था।

मैंने अनन्तमूर्ति से अपने कोई पचास वर्ष के मैत्री सम्बन्ध का उल्लेख करते हुए उनके प्रसिद्ध उपन्यास 'संस्कार' पर थोड़ी टीका भी की। मेरे निवेदन में सम्भवतः कुछ अस्पष्टता रह गयी, अथवा मैं कुछ ऐसी बातें कह रहा था जो समकालीन हिन्दी विमर्श के मुहावरे से अलग अथवा प्रतिकूल थीं। वे बातें लोगों के समक्ष खुल नहीं पायीं। सभा में बोलने के अभ्यास की कमी के कारण भी मेरा निवेदन लोगों को विचित्र लगा होगा।

अपनी बात लिखकर कहने की आवश्यकता लगी। संकल्पित लेख यहाँ प्रस्तुत है।

कर्नाटक सोशलिस्ट पार्टी के अध्यक्ष श्री गोपाल गौड़ा १९६३ में दिल्ली आये हुए थे। यह जानकर कि मेरी साहित्य में रुचि है, उन्होंने कन्नड़ साहित्य से मेरा परिचय कराने की कोशिश की। उन्होंने श्री अनन्तमूर्ति के बारे में विशेष रूप से बतलाया। श्री अनन्तमूर्ति उनके प्रिय लग रहे थे। वे उस समय मैसूर विश्वविद्यालय में अँग्रेज़ी में एम.ए. कर रहे थे। गोपाल गौड़ा के अनुसार अनन्तमूर्ति प्रसिद्ध अँग्रेज़ी उपन्यासकार और कवि, डी.एच. लॉरेंस से बहुत प्रभावित थे। डी.एच. लॉरेंस का उपन्यास 'लेडी चैटर्लीज लवर' कुछ अश्लील माने जाने वाले प्रसंगों के कारण इंग्लैण्ड-अमेरिका में प्रकाशित नहीं हो पाया था। केवल फ्रांस में एक छोटे प्रकाशक ने इसको अगण्यमान संख्या वाले संस्करण में प्रकाशित किया था। १९६० के बाद इंग्लैण्ड के न्यायालयों में कुछ ऐसे निर्णय हुए कि वहाँ के प्रकाशकों को लगा कि कानूनी वातावरण बदल चुका है। अब ऐसे उपन्यासों को इंग्लैण्ड और अमेरिका में प्रकाशित करने की चुनौती स्वीकार की जा सकती है। कुछ बड़े प्रकाशकों ने 'लेडी चैटर्लीज लवर' का प्रकाशन किया और वहाँ के उच्च न्यायालयों में उन प्रकाशकों पर मुकदमा चलाया गया। इन मुकदमों में बड़े-बड़े लेखकों और समाजशास्त्रियों ने उपन्यास के पक्ष में गवाही दी। इसके बाद 'लेडी चैटर्लीज लवर' तरह-तरह के संस्करणों में बड़े पैमाने पर बिकने लगा।

मैं तब तक लॉरेंस के उपन्यासों को कभी पूरा नहीं पढ़ पाता था। पर मुझे लॉरेंस की कविताएँ पसन्द थीं और अपने अभ्यास के लिए मैंने अनेक कविताओं का हिन्दी में अनुवाद भी किया था। लॉरेंस के बारे में और 'लेडी चैटर्लीज

लवर' पर चले मुकदमे के बारे में पढ़ता भी रहा था। उपन्यास की एक प्रति मुझे उन्हीं दिनों उपलब्ध हो पायी थी।

गोपाल गौड़ा कर्नाटक के जाने-माने किसान नेता थे। उन्होंने विख्यात 'कागोडू' किसान सत्याग्रह का नेतृत्व किया था। कर्नाटक में सोशलिस्ट पार्टी के गठन में उनका अपूर्व योगदान था। उनके द्वारा राजनीति में लाये गये अथवा उनके द्वारा नेतृत्व में आगे बढ़ाये गये अनेक लोग बाद में कर्नाटक राजनीति में शिखर पर पहुँचे और कई लोग मुख्यमन्त्री बने। गोपाल गौड़ा अपने राजनीतिक योगदान के लिए प्रायः याद किये जाते हैं। वे कन्नड़ साहित्य के गम्भीर अध्येता थे। कन्नड़ संस्कृति से उनका बहुत ही आत्मिक सम्बन्ध था। अनेक कन्नड़ साहित्यकारों से उनके व्यक्तिगत सम्बन्ध थे।

श्री अनन्तमूर्ति का जन्म कर्नाटक के शिमोगा जिले के 'मेलिगे' गाँव में हुआ था और वहीं उन्होंने आरम्भिक शिक्षा पायी थी। यह गाँव 'कागोडू' सत्याग्रह के क्षेत्र में था। बालक अनन्तमूर्ति और उनके माता-पिता 'कागोडू' सत्याग्रह के प्रभाव में रहे थे। अनन्तमूर्ति बाद के दिनों में भी 'कागोडू' सत्याग्रह का स्मरण करते रहते थे। गोपाल गौड़ा अनन्तमूर्ति के परिवार को अच्छी तरह से जानते थे और उनके पिता से अनन्तमूर्ति की शिक्षा के बारे में राय-मशविरा भी करते थे। अनन्तमूर्ति में बाल्यावस्था से ही प्रतिभा का प्रस्फुटन पाकर गोपाल गौड़ा को हर्ष होता था। अनन्तमूर्ति क्या-क्या लिख-पढ़ रहे हैं इससे वे पूरी तरह अवगत रहते थे। वे एक प्रकार से अनन्तमूर्ति के अभिभावक ही हो गये थे। अनन्तमूर्ति को मैसूर विश्वविद्यालय में पढ़ने के लिए भेजने के पीछे भी उनकी राय रही होगी।

जब गोपाल गौड़ा दिल्ली में होते तो हम दो-चार बार कॉफ़ी हाउस जाते और कई बार साथ-साथ भोजन भी करते। उन्होंने कन्नड़ साहित्य से मेरा परिचय प्रगाढ़ करने का पूरा प्रयत्न किया। उनसे सुनकर मैं कन्नड़ में आधुनिक कविता के पुरोधा श्री गोपालकृष्ण अडिग से परिचित महसूस करने लगा। इस पृष्ठभूमि के कारण जब श्री अडिग नेशनल बुक ट्रस्ट में काम करने के लिए दिल्ली आये तो उनसे काफ़ी घनिष्ठता हो गयी। गोपाल गौड़ा ने ही कन्नड़ की नयी पीढ़ी के लंकेश, चन्द्रशेखर कम्बार, गिरीश करनाड आदि लेखकों के बारे में भी बताया। पुरानी पीढ़ी के दत्तात्रेय रामचन्द्र बेन्द्रे, शिवराम कारन्त और विनायक कृष्ण गोकाक के साहित्य की भी वे चर्चा करते रहते थे। उनकी कविताओं के अंश भी वे सुनाते रहते थे। गोपाल गौड़ा ने ही नाट्यकर्मी ब.व. कारन्त के बारे में बताया जो उन दिनों काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में हिन्दी साहित्य का अध्ययन कर रहे थे। गोपाल गौड़ा द्वारा दिये गये परिचय के कारण ही मैं एक बार बनारस जाने पर कारन्त जी से मिला।

मैसूर विश्वविद्यालय में अँग्रेज़ी साहित्य में स्नातकोत्तर पढ़ाई सम्पन्न कर लेने के बाद अनन्तमूर्ति शोध कार्य के लिए इंग्लैण्ड चले गये। वहाँ उन्होंने बर्मिंघम विश्वविद्यालय में मालकम ब्रैडबरी के निर्देशन में एक भूले जा चुके प्रतिभाशाली साहित्यिक एडवर्ड अपवर्ड के कार्य पर शोध किया। एडवर्ड अपवर्ड अँग्रेज़ी साहित्य में तीसरे-चौथे दशक में प्रसिद्ध हुई ऑडेन, स्पेण्डर, सिसिल दे'लुईस, क्रिस्टोफर ईशरवुड और लुई मैकनीस की पीढ़ी के थे। क्रिस्टोफर ईशरवुड की आत्मकथात्मक पुस्तकों में अपवर्ड की प्रायः चर्चा हुई है। अपवर्ड की कथात्मक और आलोचनात्मक कृतियाँ कम्युनिस्ट दृष्टि से सम्पन्न होती थीं। अपनी पीढ़ी के इन सभी साथियों को अपनी कम्युनिस्ट गतिविधियों और बौद्धिकता से उन्होंने प्रभावित किया था। उनके ही प्रभाव के कारण उनकी पीढ़ी के उपर्युक्त लेखक कई वर्षों के लिए वामपन्थी बन गये थे। अपवर्ड ने शीघ्र ही कम्युनिज़्म से और पार्टी से नाता तोड़ लिया, लेकिन उन्होंने साथ ही साहित्य रचना से भी मुँह मोड़ लिया। उन्होंने ऐसा करने का कोई कारण नहीं घोषित किया था।

अनन्तमूर्ति के शोध निर्देशक मालकम ब्रैडबरी शोध कार्य के अलावा भी अनन्तमूर्ति के सांस्कृतिक प्रशिक्षण में रुचि लिया करते थे। उन्होंने अनन्तमूर्ति को उन दिनों बर्मिंघम में दिखायी जा रही इंगमार बर्गमान की फ़िल्म 'सेवेन्थ सील' देखने का परामर्श दिया। साथ ही उन्होंने अनन्तमूर्ति को अपने अनुभवों के बारे में भी लिखने की सलाह दी। अनन्तमूर्ति ने वहीं बर्मिंघम में ही 'संस्कार' की पाण्डुलिपि तैयार की जिसे बंगलुरू के उनके एक मित्र प्रकाशक ने प्रकाशित कर दिया। उन्होंने पाण्डुलिपि की एक प्रति अपने मित्र गिरीश कर्नाड को भी भेजी थी। कर्नाड नाटककार थे। उन्होंने उपन्यास की 'फ़िल्म स्क्रिप्ट' तैयार कर दी। अपने परिचित पट्टाभिराम रेड्डी को वह स्क्रिप्ट फ़िल्म बनाने के लिए दिखायी। उन्हीं दिनों एक आस्ट्रेलियन कैमरामैन टाम कोवान बंगलुरू में थे। वे 'संस्कार' की फ़िल्म के लिए कैमरा सँभालने को तैयार हो गये। कर्नाड ने फ़िल्म में नायक प्राणेशाचार्य की भूमिका की।

अपनी शोध के सिलसिले में अनन्तमूर्ति एडवर्ड अपवर्ड से मिले और उनके सम्बन्ध घनिष्ठ हो गये। इतने घनिष्ठ कि अनन्तमूर्ति जब स्टीफ़ेन स्पेण्डर से मिलने गये तो उन्होंने आश्चर्य प्रकट किया कि अपवर्ड कैसे उन्हें इतना जान गये कि वे उनके बारे में अपने मित्रों से बात करने लगे। अपवर्ड की परिचय परिधि के कारण अनन्तमूर्ति को अनेक अँग्रेज़ी साहित्यकारों से मिलने का अवसर मिलने में सरलता हुई।

शोध कार्य सम्पन्न करके वापस आने पर अनन्तमूर्ति मैसूर स्थित केन्द्रीय भाषा संस्थान में काम करने लगे। दो वर्ष बाद ही उन्हें मैसूर विश्वविद्यालय में अध्यापन का अवसर मिल गया। वे पहले से ही कन्नड़ में कहानियाँ, कविताएँ और लेख लिखते रहे थे। कन्नड़ में आधुनिक मुहावरे के पहले कवि गोपालकृष्ण अडिग से उन्हें पर्याप्त प्रोत्साहन मिला था। अडिग उन दिनों कर्नाटक के एक कॉलेज के प्रिंसिपल थे। वे कन्नड़ साहित्य में आधुनिकतावादी आन्दोलन के नेता थे। कन्नड़ पत्रिकाओं और प्रकाशकों के साथ उनका घनिष्ठ सम्बन्ध था। अनन्तमूर्ति की पीढ़ी कन्नड़ साहित्य में 'नव्य काव्य' का आन्दोलन चला रही थी। इस पीढ़ी को अडिग का पूरा समर्थन प्राप्त था।

इस बीच मुझे श्री गोपाल गौड़ा के ज़रिए अनन्तमूर्ति और अन्य कन्नड़ साहित्यकारों के कार्य का परिचय मिलता रहता था। पर अनन्तमूर्ति से मेरी पहली भेंट १९६८ में हुई। दिल्ली विश्वविद्यालय के अँग्रेज़ी विभाग में एक रिक्त स्थान के लिए विज्ञापन निकला था। अनन्तमूर्ति को भी इण्टरव्यू के लिए बुलाया गया था। वे दिल्ली आ सकेंगे इसलिए चले आये अन्यथा उन्हें अपने चयन की आशा नहीं थी। दिल्ली में अनन्तमूर्ति मेरे साथ ही ठहरे। इसके बाद वे जब भी दिल्ली आते मेरे साथ ही ठहरते।

अनन्तमूर्ति जब 'राष्ट्रीय पुस्तक न्यास' के अध्यक्ष बने तब न्यास ने उनके रहने का प्रबन्ध पहले इण्डिया इण्टरनेशनल सेण्टर में, फिर जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में किया। बाद में वे सरकारी काम से ही दिल्ली आते थे और सरकारी व्यवस्था के अनुसार इण्डिया इण्टरनेशनल सेण्टर में रुकते थे। जब वे कोट्टायम (केरल) स्थित श्री महात्मा गाँधी विश्वविद्यालय के उपकुलपति बने तब वे दिल्ली में केरल भवन में रुकने लगे। वे जहाँ भी रुकते, दिल्ली पहुँचते ही मुझे फ़ोन पर अपने आने की सूचना ज़रूर दे देते और उसी दिन नहीं तो अधिक से अधिक अगले दिन हम लोग अवश्य मिल लिया करते।

मैं भी जब बंगलुरू जाता, तो अनन्तमूर्ति से मिलने मैसूर अवश्य जाता। वहाँ उनकी पत्नी एस्थर, पुत्र शरत और बेटी अनुराधा से भी मधुर सम्बन्ध हो गए थे- कन्नड़ लोग न केवल सुन्दर और सद्व्यवहार सम्पन्न होते हैं, उनमें मित्रता और घनिष्ठता की भी प्रतिभा होती है। गोपालकृष्ण अडिग भी प्रिंसिपल पद से अवकाश प्राप्त कर बंगलुरू में ही रहते

थे। लंकेश और कम्बार भी वहीं थे। बंगलुरू जाने पर इन सबके साथ समय बीतता।

कर्नाटक के मजदूर नेता श्री वेंकटराम बाद में संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी के केन्द्रीय कार्यालय दिल्ली में १९६८ में संयुक्त सचिव बनकर आ गये। मुझे भी उसी समय पार्टी का संयुक्त सचिव बनाया गया और मैं दिल्ली आ गया। श्री वेंकटराम मजदूर नेता थे। उन्होंने बम्बई के मज़दूर आन्दोलन में राजनीतिक कार्य की दीक्षा ली थी। वे त्रात्स्कीवादी थे और उन्होंने पश्चिम में समाजवादी विचारों और मार्क्सवाद के इतिहास का गम्भीर अध्ययन किया था। वे कन्नड़ संस्कृति के भी गम्भीर अध्येता थे। उन्होंने भक्ति काव्य पर एक लम्बा लेख भी लिखा था। अगर वह हिन्दी में प्रकाशित हो सकता तो हिन्दी के भक्ति साहित्य को भी समझने में कुछ अन्तर्दृष्टि मिलती। श्री वेंकटराम और मेरे सम्बन्ध घनिष्ठ होने में अधिक समय नहीं लगा। उनके कारण कन्नड़ संस्कृति में मेरी पहचान क्रमशः और भी गहरी होती गयी। उनके साथ मिलकर मैंने गोपालकृष्ण अडिग, अनन्तमूर्ति, लंकेश और चन्द्रशेखर कम्बार की कई रचनाओं के अनुवाद किये जिन्हें प्रोफ़ेसर नामवर सिंह ने 'आलोचना' में प्रकाशित किया। हम लोगों ने अनन्तमूर्ति के जिस लेख को अनुवाद के लिए चुना था, उसका शीर्षक था 'ब्राह्मण और शूद्र प्रज्ञा'। इस लेख में शूद्र प्रज्ञा को भाव-समृद्ध और ब्राह्मण प्रज्ञा को तर्क-समृद्ध बताते हुए साहित्य सृजन के लिए दोनों प्रज्ञाओं की युति आवश्यक मानी गयी थी।

उस समय तक मैंने 'संस्कार' को पढ़ा नहीं था। तब तक ए.के. रामानुजम का अँग्रेज़ी अनुवाद छपा नहीं था। लेकिन ऐसे अनेक कारण बने कि मैं और मेरे मित्र 'संस्कार' से जुड़ गये। पट्टाभिराम रेड्डी तेलुगू में आधुनिक काव्य के प्रारम्भिक कवियों में थे। वे समृद्ध भूस्वामी परिवार के थे और चेन्नई (तब मद्रास) में एक रेस्तराँ चलाने के अलावा तेलुगू में पौराणिक विषयों पर फ़िल्में बनाते थे। उनकी पत्नी स्नेहलता रेड्डी उनकी सहयोगी थीं। यह परिवार समाजवादी राजनीति का समर्थक था। डॉ. राममनोहर लोहिया जब भी चेन्नई जाते इस परिवार के साथ ही रुकते थे।

स्नेहलता रेड्डी के माता-पिता बंगलुरू में रहते थे। स्नेहलता ने अपने वृद्ध माता-पिता की देख-रेख के लिए बंगलुरू में रहने का निर्णय किया। पट्टाभिराम रेड्डी का पूरा परिवार बंगलुरू आ गया। बंगलुरू आने के बाद उन्होंने तेलुगू के अतिरिक्त कन्नड़ में फ़िल्में बनाने की सोची। अपनी पहली फ़िल्म के लिए उन्होंने अनन्तमूर्ति के उपन्यास 'संस्कार' को चुना। कन्नड़ साहित्यिक क्षेत्रों में अनन्तमूर्ति के अनेक प्रतिद्वन्द्वी थे। ये लोग 'संस्कार' को महत्त्व मिलने से ईर्ष्यालु हो उठे थे। कन्नड़ समाज में कुछ ऐसा प्रचार हुआ कि 'संस्कार' पर बन रही फ़िल्म ब्राह्मण-विरोधी फ़िल्म है। कुछ लोगों ने सेंसर बोर्ड से अपील की कि इस फ़िल्म को 'सर्टिफिकेट' नहीं दिया जाए। हम लोगों को भी ऐसा लगने लगा कि अनन्तमूर्ति के कन्नड़ प्रतिद्वन्द्वियों के कारण 'संस्कार' के प्रदर्शन पर प्रतिबन्ध लग जाएगा। पट्टाभिराम रेड्डी को भी आधिकारिक स्तरों पर इसकी आशंका जतायी गयी।

हम लोगों ने दिल्ली में 'संस्कार' फ़िल्म के सेंसर किये जाने या प्रतिबन्ध लगाये जाने के विरुद्ध अभियान चलाया। सौ-एक साहित्यकारों, पत्रकारों, कलाकारों, संगीतज्ञों के हस्ताक्षर से वक्तव्य निकाला गया। इनमें से कई प्रमुख लोगों की प्रेस कांफ्रेंस भी आयोजित की गयी। दिल्ली के समाचार-पत्रों में 'संस्कार' के समर्थन में अभियान चलने का प्रभाव कर्नाटक में भी हुआ। 'संस्कार' को सेंसर बोर्ड का 'सर्टिफिकेट' मिल गया। अब दिल्ली में 'संस्कार' के प्रदर्शन की तैयारी की गयी। 'संस्कार' को उस वर्ष की सर्वश्रेष्ठ फ़िल्म के रूप में भारत सरकार का पुरस्कार भी मिला। बाद में वह लोकार्नो और अन्य विदेशी फ़िल्म उत्सवों में प्रदर्शित की गयी और उसे कई पुरस्कार मिले।

विवाद अनन्तमूर्ति का सदैव पीछा करते रहते थे। उन्हें भी विवादों में आनन्द मिलता था। कन्नड़ साहित्यिक और राजनीतिक क्षेत्रों में उन्होंने कई विवादों की शुरुआत की। उनको लेकर भी कई विवाद उठे। कन्नड़ साहित्य में वामपन्थी उदारवाद जितना सबल है, परम्परावाद उसकी तुलना में कभी अबल नहीं पड़ता। कन्नड़ लोगों से मिलने पर यह चर्चा प्रायः चल पड़ती है कि अनन्तमूर्ति अच्छे उपन्यासकार हैं या श्री भैरप्पा अच्छे उपन्यासकार हैं। श्री भैरप्पा के उपन्यासों की संख्या न केवल अनन्तमूर्ति के उपन्यासों से कई गुना अधिक है, उनकी लेखनशैली भी लोकरंजक है और उन्होंने कन्नड़ के सांस्कृतिक इतिहास से चुने गये विषयों पर अपने कथानक चुने हैं। अनन्तमूर्ति 'कास्मोपॉलिटन' लेखक थे, उनको अखिल भारतीय ख़्याति मिल चुकी थी। उनकी तुलना में भैरप्पा अपने सांस्कृतिक क्षेत्र के बाहर बहुत कम जाने जाते थे।

इसका एक कारण यह भी रहा होगा कि अनन्तमूर्ति कर्नाटक के साहित्यिक और सांस्कृतिक जीवन में अनेक स्तरों पर सक्रिय थे। उनका कर्नाटक के सामाजिक और राजनीतिक जीवन में भी महत्त्वपूर्ण स्थान बन गया था। तमिल मूल के एक कन्नडिगा ए.के. रामानुजम शिकागो विश्वविद्यालय में भाषा विज्ञान के प्रोफ़ेसर थे। वे कन्नड़ तथा अँग्रेज़ी में भी कविताएँ लिखते थे। वे तमिल और कन्नड़ कविता के कुशल अनुवादक के रूप में विख्यात थे। उन्होंने 'संस्कार' का अँग्रेज़ी अनुवाद किया। इस अनुवाद को अनेक अमरीकी विश्वविद्यालयों के भारत विद्या के पाठ्यक्रमों में स्थान मिला। 'संस्कार' का जो भी साहित्यिक मूल्य रहा हो, पश्चिम में उसकी मान्यता 'संस्कार' की कथा में चित्रित भारतीय जाति प्रथा के उदाहरण के रूप में थी। अनन्तमूर्ति आयोवा के अन्तर्राष्ट्रीय कविता कार्यक्रम में और बाद में टफ्ट्स विश्वविद्यालय में प्रोफ़ेसर के रूप में रहे। कन्नड़ साहित्य में उनका महत्त्वपूर्ण स्थान बनाने में कुछ योगदान उनके साहित्य की अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता का भी था।

अनन्तमूर्ति मैसूर विश्वविद्यालय से अवकाश प्राप्त करने के बाद बंगलुरू में रहने लगे। उनके पुत्र शरत भी अमेरीका में उच्च अध्ययन के बाद बंगलुरू स्थित 'इण्डियन इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस' में काम करने लगे थे। अनुराधा भी अपनी चिकित्सा शिक्षा की समाप्ति के बाद बंगलुरू में ही काम कर रही थी। इसलिए अनन्तमूर्ति का बंगलुरू आ जाना स्वाभाविक हो गया। कुछ ही समय बाद कर्नाटक सरकार ने बंगलुरू में रहने के लिए उन्हें एक अच्छा मकान दे दिया। सरकार द्वारा मकान दिए जाने को लेकर भी कन्नड़ साहित्यिक क्षेत्रों में विवाद चला था।

इन्हीं दिनों अनन्तमूर्ति की गुर्दे की समस्या गम्भीर होती गयी। कुछ दिनों बाद उन्हें नियमित 'डायलिसिस' करवाने की ज़रूरत हो गयी। उनसे मेरी अन्तिम मुलाकात उस अस्पताल में हुई जहाँ वे डायलिसिस करवा रहे थे। अब उनका दिल्ली आना समस्यामूलक हो गया। उनसे मिलने और विचार विनिमय करने के अवसर कम हो गए। मैं जब भी बंगलुरू जाता उनके घर अवश्य जाता। उनके यहाँ एक बार भोजन करना निश्चित हुआ करता था।

इतने दिनों के सम्बन्ध में कभी ऐसा अवसर नहीं आया कि अनन्तमूर्ति ने कभी राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ या भारतीय जनता पार्टी के विरुद्ध कुछ कहा हो। वे अटल बिहारी वाजपेयी और लालकृष्ण आडवाणी, दोनों के प्रशंसक थे। ये लोग आपातकाल (एमर्जेन्सी) में बंगलुरू जेल में रहे थे। अनन्तमूर्ति जीवन के अन्तिम दिनों में कब भारतीय जनता पार्टी के विरोधी हो गये, यह पता नहीं चला। पिछले लोकसभा चुनाव के समय श्री नरेन्द्र मोदी की विजय को लेकर उन्होंने यह क्यों कहा कि अगर मोदी प्रधानमन्त्री बने तो वे भारत देश छोड़ देंगे। (इस बात की प्रतिक्रिया में किसी ने उन्हें लन्दन आने-जाने का हवाई टिकट भी भेज दिया था।) ख़ैर, उन्होंने बाद में अपने संकल्प की अन्य व्याख्या की

और स्वीकार किया कि वे भारत छोड़कर और कहीं नहीं जा सकते, लेकिन मोदी सरकार बनने के कुछ दिनों के भीतर ही वे मनुष्य देह ही छोड़ कर चले गये।

यहाँ हम अनन्तमूर्ति के प्रसिद्ध उपन्यास 'संस्कार' का संक्षिप्त विश्लेषण करेंगे।

'संस्कार' के नायक प्राणेशाचार्य हैं। वे माध्व ब्राह्मण हैं और काशी जाकर संस्कृत भाषा का और उसमें लिखे गये दर्शन ग्रन्थों, साहित्य और धर्मशास्त्र का उच्च अध्ययन कर आए हैं। वे दुर्वासापुर नामक एक अग्रहार में रहते हैं। कर्नाटक मे 'अग्रहार' ब्राह्मणों की बस्तियों को कहा जाता है। प्रायः अग्रहार में किसी ब्राह्मणेतर जाति के लोग नहीं रहते। इस अग्रहार में रहने वाले सभी ब्राह्मण माध्व सम्प्रदाय के थे। सभी को माध्व आचारों-विचारों और रूढ़ियों का पालन करना पड़ता था।

प्राणेशाचार्य ने कोई २० वर्ष पहले दयार्द्र होकर एक अपाहिज और रोगिणी महिला भागीरथी से विवाह किया था। उनकी पत्नी उनके घर को चलाती इसकी बजाय उन्हें ही अपने दैनन्दिन समय का कुछ भाग अपनी पत्नी की चिकित्सा करने और उन्हें भोजन आदि कराने में लग जाता था। 'संस्कार' का प्रारम्भ २० वर्ष पुराने विवाह के बाद एक प्रातःकाल की ऐसी ही घटना से होता है जब प्राणेशाचार्य अपनी पूजा आदि सम्पन्न कर देवता का प्रसाद भागीरथी को देने ले जाते हैं और उसे नहला कर, कपड़े आदि पहना कर, रसोई में दलिया पका कर उसे खिलाने के लिए ले आते हैं। सायंकाल भी प्राणेशाचार्य का यही कार्यक्रम होता था।

भोजन के पश्चात् अग्रहार के अनेक ब्राह्मण प्राणेशाचार्य के घर के सामने बने चबूतरे पर प्राणेशाचार्य का प्रवचन सुनने के लिए एकत्र हुआ करते थे। एक दिन सायं काल वे गौ ग्रास लेकर घर के पिछवाड़े चरने वाली गौरी नाम की गाय को खिलाने गये। तभी उन्हें चन्द्री की आवाज़ सुनायी पड़ी और पता चला कि अग्रहार में ही रहने वाला ब्राह्मण नारणप्पा चल बसा। चन्द्री नारणप्पा की रखैल थी। नारणप्पा माध्व ब्राह्मणों के आचार-विचार छोड़कर सब तरह से पतित हो गया था। वह शराब पीने लगा था और खुल कर चन्द्री जैसी वेश्या के साथ रहता था। चन्द्री ने बताया कि नारणप्पा शिवमोगा गये थे और वहाँ से लौटे तो ज्वर के कारण खाट पर लेट गये। चार दिन तक ज्वर में ही लेटे रहे, उन्हें गिल्टी निकल आयी थी। अग्रहार में किसी ब्राह्मण की लाश पड़ी हो तो उसका अन्तिम संस्कार होने तक कोई ब्राह्मण परिवार भोजन ग्रहण नहीं कर सकता था। किसी प्रकार के शुभ कर्म नहीं किये जा सकते थे। प्राणेशाचार्य गरुड़ाचार्य के घर गये और उन्हें मृत्यु की सूचना देकर भोजन करने से रोका। दोनों फिर लक्ष्मणाचार्य के घर गये और उनको भी यह सूचना दी। गरुड़ाचार्य ने दुर्गाभट्ट के घर भी जाकर यह सूचना दी।

नारणप्पा का शव अग्रहार के ब्राह्मणों के लिए एक समस्या बन गया। लेकिन नारणप्पा तो ब्राह्मण आचार-विचार छोड़ चुका था। वह पतित हो चुका था। उसका एकमात्र सम्बन्ध केवल चन्द्री से था। अब उसका अन्तिम संस्कार कौन करे?

अग्रहार के ब्राह्मणों ने यह समस्या प्राणेशाचार्य के सामने रखी। काशी जाकर धर्मशास्त्र की और वेदान्त की उच्च शिक्षा प्राप्त कर चुके प्राणेशाचार्य ही उनमें सर्वाधिक शिक्षित थे। वे ही इसका निर्णय कर सकते थे। अग्रहार के सारे ब्राह्मण उन्हीं का मुँह जोहने लगे। सभी नारणप्पा की निन्दा करने लगे। एक बार प्राणेशाचार्य भी नारणप्पा से मिले थे। उसने तब अनेक ब्राह्मणों के आचार-विचार की कलई खोलकर रख दी थी। नारणप्पा ने उनके सामने ऐसे अनेक प्रश्न उठाए थे जिनका उत्तर वे नहीं दे सकते थे। नारणप्पा ने अपने माँ-बाप का श्राद्ध भी नहीं किया था। माँस भी

खाता था। मुसलमानों को घर में बुलाकर अपेय पान और अभक्ष्य भोजन करता था। अपनी मृत पत्नी के सारे गहने उसने चन्द्री को दे दिए थे। यदि उसका दाह संस्कार अग्रहार का कोई ब्राह्मण करेगा तो निश्चय ही वह जातिच्युत हो जाएगा और अन्य स्थानों के ब्राह्मण इस अग्रहार के ब्राह्मणों को त्याज्य घोषित कर देंगे।

प्राणेशाचार्य के सामने यह बहुत बड़ी समस्या खड़ी हो गयी। वे स्वयं अपने व्यक्तित्व के बारे में सोचने लगे। पहले वे मोक्षधर्म के प्रति समर्पित परम्परागत माध्व का पावन जीवन जी रहे थे। नारायणप्पा की समस्या ने उनमें अनिश्चय भर दिया। वे चन्द्री से सम्पर्क के बाद अपने को कोसने- से लगे। शास्त्रों के आधार पर निर्मित निश्चित मूल्यों ने उनके जीवन को पुष्ट ढाँचा दे रखा था। वह ढाँचा चरमरा कर टूटने- सा लगा। वे स्वयं समस्या का समाधान ढूँढ़ने में असमर्थ होते गये। केवल चन्द्री ने कुछ समाधान ढूँढ़े।

चन्द्री ने नारणप्पा के अन्तिम संस्कार के लिए उससे पाये सारे गहने लोगों के सामने रख दिये थे। उन गहनों को देख कर कुछ के मन में लोभ भी जागने लगा।

निर्णय प्राणेशाचार्य को करना था। अग्रहार के सारे ब्राह्मणों का दायित्त्व उनके कन्धों पर आ गया था। नारणप्पा ने ब्राह्मणत्व त्याग दिया था लेकिन ब्राह्मणत्व ने उसे नहीं त्यागा था। अग्रहार के ब्राह्मण भी उसके बहिष्कार का निर्णय पहले कभी नहीं ले पाये क्योंकि नारणप्पा धमकी दिया करता था कि उन्होंने ऐसा किया तो वह मुसलमान बन जाएगा। वह अग्रहार के तरुण बालकों को भी भटकाता था। उसके कहने से एक लड़का ब्राह्मण धर्म का पालन करने के बजाय मिलिट्री में भर्ती हो गया था। फिर भी प्राणेशाचार्य के मन में संशय था। वे कुछ भी निर्णय नहीं कर पा रहे थे।

नारणप्पा अपने साथ शिवमोगा से ज्वर ही नहीं, प्लेग लेकर आया था। चन्द्री ने तभी जैसा बताया था, उसे ज्वर था और गिल्टी भी निकल आयी थी। यह प्लेग धीरे-धीरे पूरे अग्रहार में फैलने लगा। अग्रहार के हर घर में चूहे मरने लगे। अनेक ब्राह्मण परिवार अग्रहार को छोड़कर पारिजातपुर चले गये। चन्द्री ने चुपके से अपने गहनों के बल पर नारणप्पा का अन्तिम संस्कार भी करवा दिया।

प्राणेशाचार्य अपनी पत्नी का अन्तिम संस्कार करने के बाद अग्रहार की ओर नहीं लौटे। उन्होंने चिता से भस्मी या फूल उठाने की आवश्यकता भी नहीं समझी। उनके पाँव किसी अनजानी दिशा की ओर चलने लगे। वे कहाँ जा रहे थे, उनका कोई लक्ष्य नहीं था। जिस अनिश्चय ने उनके अभी तक के जीवन को निर्मित किया था, वही अनिश्चय उनको किसी अन्य दिशा की ओर जाने के लिए प्रेरित कर रहा था। उन्हें ऐसा लगा कि वे आत्म-प्रवंचना की एक दूसरी गुफा में प्रवेश कर रहे हैं। वे ढोरों के गले में बँधी काठ की घण्टियों की आवाज़ और चरवाहों द्वारा छेड़ी गई बाँसुरी के सुरों की दिशा में बढ़ते गये।

प्राणेशाचार्य एक कटहल के वृक्ष के नीचे बैठ गये। उन्हें भूख लग रही थी। प्रायः घण्टे भर चक्कर लगाने के बाद वे एक देवी के मन्दिर के पास पहुँचे। अर्थात यहाँ पास में कोई अग्रहार नहीं था जहाँ किसी ब्राह्मण के घर जाकर वे अपनी भूख को शान्त कर पाते। भैंसों को हाँकते हुए एक ग्वाले ने उन्हें देखा और उनके निकट आ गया। उसने उनसे उनका गन्तव्य पूछा। प्राणेशाचार्य ने एक दिशा की ओर इशारा कर दिया। उसने उनको भोजन के लिए दूध और केले दिये। उसके जाने के बाद प्राणेशाचार्य जंगल की ओर चलने लगे। जंगल के भीतर रास्ते चलते-चलते अपने अतीत के बारे में सोचते रहे। जंगल में उनके पीछे-पीछे मालेर का पुट्ट चला आ रहा था। वह उनसे बातचीत करने का प्रयत्न करने लगा। वह उसे टालते रहे। लेकिन एक प्रकार से वह उसके पिछलग्गू हो गये। वह मेलिगे जा रहा था। वहाँ रथ यात्रा का मेला था। मेले में तरह-तरह के तमाशे हो रहे थे। जैसे मुर्गों की लड़ाई। तरह-तरह की दुकानें सजी हुई थीं।

कलाबाजी के खेल चल रहे थे। पुट्ट ने उन्हें कॉफी पीने के लिए निमन्त्रित किया। आरम्भिक हिचक के बाद प्राणेशाचार्य ने कॉफी पी। प्राणेशाचार्य ने डरते-डरते कि कहीं पहचान न लिये जाएँ, एक मन्दिर में भोजन भी कर लिया। वे आखिरकार पहचान लिए गये। पुट्ट फिर उन्हें पद्मावती के लम्बे-चौड़े बगीचे की ओर ले गया। पद्मावती प्रसिद्ध वेश्या थी। प्राणेशाचार्य में आकर्षण भी जागता था और वे उससे दूर भी भागना चाहते थे। पुट्ट ने प्राणेशाचार्य को अन्ततः दुर्वासापुर की ओर जा रही एक बैलगाड़ी में बैठा दिया।

'संस्कार' की कुल यही कथा है। यह एक ऐसे व्यक्ति की कथा है जो परम्पराओं से बँधा हुआ था लेकिन अन्ततः उनसे विलग होकर स्वतन्त्र हो जाता है। उसे यह स्वतन्त्रता एक ग्वाले के पीछे चलते हुए प्राप्त होती है।

'संस्कार' का समाज बिलकुल सड़ चुका है। उससे दुर्गन्ध उठ रही है। वहाँ गिद्ध मँडरा रहे हैं। माध्व रूढ़ियों के प्रतीक प्राणेशाचार्य भी इस सड़ाँध के लिए उत्तरदायी हैं।

जिन कन्नडिगा लोगों ने 'संस्कार' के प्रकाशन के समय उसमें ब्राह्मण चित्रण का विरोध किया था क्या वे सचमुच समझ पाये थे कि माध्व ब्राह्मण पात्र होने के बावजूद यह किसी भी टूटते समाज की सड़ाँध का चित्रण हो सकता है। अनन्तमूर्ति ने माध्व ब्राह्मण पात्र ही अपने उपन्यास में रखे। सम्भवतः स्वयं माध्व ब्राह्मण होने के कारण वे उनसे अधिक परिचित थे। अपने जीवन से ही उन्होंने पात्र चुने। लेकिन क्या यह चित्र कन्नड़ क्षेत्र से बाहर का नहीं हो सकता था जहाँ ब्राह्मण नहीं, दूसरी जाति के पात्र हों। अनन्तमूर्ति ने माध्व ब्राह्मण होने का पूरा लाभ उठाया। साथ ही उनकी एक गहन आलोचना भी प्रस्तुत कर दी।

'संस्कार' में एक उपन्यास की तरह द्वन्द्व है। समाज के यथार्थ चित्र हैं। अनेक चित्र बहुत सजीव हैं। अन्ततः यह एक ब्राह्मण ही नहीं, किसी भी व्यक्ति के अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण हो सकता है। अनन्तमूर्ति किसी निर्णय पर नहीं पहुँच पाये हैं। उन्होंने प्राणेशाचार्य को अपने अनिश्चय में ही रहने दिया है। क्या सचमुच? प्राणेशाचार्य तो अन्ततः पुट्ट ग्वाले के अनुगामी बन गये हैं। क्या यही समाधान है?

अनन्तमूर्ति संस्कार नाम के एक ही उपन्यास के लेखक नहीं हैं, उन्होंने उसके बाद भी उपन्यास लिखे हैं। इनमें से एक उपन्यास का उल्लेख करना उचित होगा। वह उपन्यास है- 'अवस्थे'। यह उपन्यास उनके प्रोत्साहक श्री गोपाल गौड़ा के जीवन पर आधारित है। लेकिन इसमें कुछ ऐसी बातें लिखी गयीं जिनसे गोपाल गौड़ा को जानने वाले अनन्तमूर्ति के सभी मित्र नाराज़ हुए। यहाँ तक कि गोपाल गौड़ा की पत्नी ने अनन्तमूर्ति द्वारा 'अवस्थे' में गोपाल गौड़ा के चरित्र चित्रण को लेकर न्यायालय में अनन्तमूर्ति के खिलाफ़ मुकदमा दायर किया।

'संस्कार' में अनन्तमूर्ति ने माध्व ब्राह्मणों पर लांछन लगाये और वे स्वयं माध्व ब्राह्मण परिवार में पैदा हुए थे, 'अवस्थे' में उन्होंने अपने प्रोत्साहनकर्त्ता पर लांछन लगाये।

मनुष्य क्या करे, क्या न करे? क्या शुभ है, क्या अशुभ? यह अन्तर्द्वन्द्व सभी चिन्तनशील मनुष्यों के भीतर चलता रहता है। सभी चिन्तनशील मनुष्य समाज के साथ कुछ विरोध-भाव में जीवन जीते हैं। सामाजिक रूढ़ियाँ उन्हें असहनीय बन्धन लगते रहते हैं। उनकी नैतिक शक्ति जितनी ही प्रबल होती है, वे सामाजिक रूढ़ियों पर विजय प्राप्त करते हैं। यह केवल ब्राह्मणों में ही नहीं होता, केवल ब्राह्मण ही चिन्तनशील मनुष्य नहीं होते, यह दूसरी जातियों, दूसरे देशों में भी होता है। शुभ और अशुभ के बीच में अनिश्चय अनन्तकाल से हर समाज में परिवर्तन का कारण रहा है।

प्रेम का देवता

अमला शंकर
मूल बाँग्ला से रूपान्तर - रामशंकर द्विवेदी

वे मेरे प्राण पुरुष थे और जीवन भर बने रहे। इतने निकटतम व्यक्ति का चित्र आँकना और शब्दों को गूँथ-गूँथ कर उनके अवयवों का निर्माण करना बड़ा कठिन काम है। स्मृतिपथ का अनुसरण करना ही इस विषय में श्रेयस्कर है। और चौंका देने वाले नाटक, उत्तेजना और उच्छवास का तो कोई अन्त ही नहीं था। उनसे पहली भेंट के बारे में सोचती हूँ, जिन-जिन कारणों से विदेशी भूमि में उनसे मिलना हुआ, कितनी बंगाली लड़कियों के जीवन में वैसा घटित होता है, यहाँ तक कि आज भी वैसी घटना नहीं घटती है। फिर यह तो लगभग ८०-८१ वर्ष पहले की घटना है। विदेश-वाणिज्य-यात्रा पर अगर बाबा अक्षय कुमार नन्दी मुझे साथ न ले जाते तो फिर मेरा जीवन किस पथ पर प्रवाहित होता कहना कठिन है। बारह वर्ष की लड़की को साथ लेकर पेरिस जाने का उन्होंने जो संकल्प लिया था, आज उस संकल्प को मैं महामूल्यवान पितृ आशीर्वाद के रूप में समझती हूँ।

१९३१ ईस्वी में फ्रान्स के आमन्त्रण पर ही यह यात्रा की गयी थी। पेरिस नगर में 'इण्टरनेशनल कोलोनियल एक्सपोज़ीशन' नाम से एक विशाल प्रदर्शनी का आयोजन किया गया था। उसमें हमारे आभूषणों के कारखाने 'इकॉनॉमिक ज्वेलरी वर्क्स' का स्टॉल लगना था। हाँ, उस प्रदर्शनी में हम लोग भारत के विभिन्न अंचलों से हस्तशिल्प के कई नमूने ज़रूर ले गये थे। पेरिस नगर के दक्षिण पूर्व प्रान्त के बाया दे मानसाँ अर्थात् मानसाँ के वोन नामक एक वन के भीतर। कलाकृतियों के प्रदर्शन और विक्रय के अलावा प्रत्येक देश के अपने-अपने नृत्य-गायन के कार्यक्रमों की भी व्यवस्था की गयी थी। मादाम नियता नियका को भारतीय नृत्य प्रदर्शनी का दायित्त्व सौंपा गया था। नियता के अनुरोध पर भारतीय नृत्य प्रस्तुत करने के लिए मेरे बाबा ने अपनी सहमति दे दी थी। किन्तु मैं उस समय नृत्य के बारे में कुछ नहीं जानती थी। नियता ने ही मुझे कुछ सिखा-पढ़ा दिया था।

पेरिस की उस प्रदर्शनी में नृत्य प्रस्तुत करने के लिए एक व्यक्ति को और आमन्त्रित किया गया था, जिसका नाम तो मैंने सुना था किन्तु तब तक उसे देखा नहीं था। वे और कोई नहीं बंगाल के गौरव उदयशंकर थे। उनके बारे में मैं उस समय सिर्फ़ यही जानती थी कि वे मेरे बाबा के निकटतम विशेष बन्धु हैं। एक ही ज़िले यशोहर के रहने वाले हैं। और यह भी जानती थी कि जगद्विख्यात नर्तकी अन्ना पाव लोवा के साथ यूरोप और अमेरिका में नृत्य प्रदर्शन कर यशस्वी भी हो गये थे।

उदयशंकर उन दिनों पेरिस में ही थे। अपना नृत्य दल लेकर आये थे। भारतवर्ष के कई विख्यात संगीतज्ञ और उनके अपने तीन सगे भाई थे उस दल में। वे अपनी माँ, बहन और काका को भी अपने साथ ले आए थे। पेरिस को केन्द्र

बनाकर पूरे यूरोप का भ्रमण कर कला प्रदर्शन की उनकी योजना थी। कहाँ-कहाँ भ्रमण करना है, इसकी एक मोटी-मोटी सूची भी उन्होंने तैयार कर ली थी।

यही उदयशंकर एक दिन दल-बल समेत हमारे ज्वेलरी के स्टॉल पर आये। विश्वविख्यात एक भारतीय के रूप में मैं उस समय सिर्फ़ एक ही व्यक्ति को जानती थी और वे थे रवीन्द्रनाथ ठाकुर। पेरिस में जब पहली बार उदयशंकर का नाम सुना, तब मैं सोच रही थी कि शायद किसी क्षेत्र के प्रवीण दिक्पाल होंगे। इस समय सेवानिवृत्त होकर पेरिस में दिन बिता रहे होंगे। फिर भी उनके नाम में एक जादू जैसा तो कुछ था ही, एक सुर था, उनका नाम मेरे मन में अंकित हो गया।

सहसा पैवेलियन के सामने सोलह आना अँग्रेज़ी वेशभूषा में एक भारतीय को देखा। खूब सुन्दर सुपुरुष, अन्ततः अगर नाक, मुख और आँखों पर विचार कर देखा जाए तो वो कुछ भी नहीं। फिर भी दोनों आँखें खूब चमक रही थीं। क्षण भर में ही जान गयी कि यही उदयशंकर हैं।

वे बाबा से कुछ देर बातचीत कर चले गये थे। बाबा के सामने बाबा और मुझे अपने घर आने के लिए निमन्त्रित भी कर गये। दूसरे ही दिन हम लोग उदयशंकर के घर चले गये। पेरिस में एक दुमंज़िला मकान किराए पर लेकर वे रह रहे थे। सामने उद्यान था। विशाल हॉल था। उस घर में पैर रखते ही पेरिस तो गायब हो जाता था। ऐसा लगता था जैसे भारत में ही हूँ। खद्दर का कुर्ता-पजामा पहनकर युवकों का एक दल बाहर वॉलीवॉल खेल रहा था। उस दल में उदयशंकर भी थे।

उदयशंकर की माँ हेमांगिनी देवी मुझसे मिलकर बड़ी खुश हुईं। सहसा, मुझे मेरी माँ की याद आ गयी। याद है मैंने चच्चडी, माँस और पुलाव खाया था। उस भोजन का ज़ायका आज भी मेरी जीभ पर बरकरार है। उस दिन के बाद आने-जाने का सिलसिला तो लग ही गया। रवि, अर्थात् रविशंकर के साथ मेरा खूब भाव जम गया। जब-तब चली ही जाती थी।

प्रदर्शनी में उदयशंकर मेरा नाच देखकर खूब खुश हुए थे। एक दिन उनके घर में रवि के साथ मैं खेल रही थी कि एकाएक मुझे बुलाकर नृत्य की एक मुद्रा दिखाकर बोले, 'तुम यह कर सकोगी?' मैंने हाँ में सिर हिलाते हुए कहा, हाँ कर सकूँगी और मैंने उस मुद्रा को करके दिखाया भी।

इसके बाद बाबा से एक दिन वे बोले-'हम लोग यूरोप के अनेक शहरों में नृत्य के अनुष्ठान करने जा रहे हैं, अमला को मुझे दे दीजिए।' ठीक उसी समय मेरे बाबा भी सोच रहे थे कि यूरोप के सारे कला केन्द्रों को मुझे दिखाते हुए सफर शुरू करेंगे। किन्तु उदयशंकर ने मेरे बाबा के सामने जो प्रस्ताव रखा था उसे सुनकर मैं तो नाच उठी। इस प्रस्ताव पर बाबा में जरा भी दुविधा नहीं थी, ऐसा नहीं है किन्तु अन्त में वे हेमांगिनी देवी के अनुरोध पर राज़ी हो गये। नवम्बर महीने में बाबा देश लौट गये। मैं हेमांगिनी देवी के पास रह गयी।

उदयशंकर से मैं नाच सीख रही थी किन्तु उनकी शिक्षा का ढँग ऐसा था कि ऐसा लगता ही नहीं था कि मैं नाच सीख रही हूँ। इतना अनायास, इतना खेल-खेल में सब घटता जा रहा था। उस समय उनकी मुख्य शिष्या एक फ्रांसीसी युवती थी, जिसका नाम था सीमोन, पर नृत्य दल में उसका नाम था सिमकी। शंकर की बहन का नाम था कनकलता और मेरा नया नाम रखा गया अपराजिता।

उदयशंकर को मैं बड़े दादा कहकर पुकारा करती थी। उनके दोनों भाइयों को मँझले दा और सँझले दा कहकर बुलाती थी। दल में तीन लोग वाद्ययन्त्रों के विशेषज्ञ थे, विख्यात सुरशिल्पी तिमिखरण, अन्नदा चरण और पश्चिमी भारत के युवक विष्णुदास शिराली। दल की महिला अध्यक्ष स्विट्ज़रलैण्ड की मिस एलिस बोनर थीं।

१९३१ ईस्वी के २९ दिसम्बर को हमारा सफर शुरू हुआ। कुल मिलाकर हमारे दल में सोलह लोग थे। किराये पर एक बस लेकर हमारी यात्रा शुरू हुई।

इस सफर में हमने कितने ही देश नहीं घूमे! कहाँ-कहाँ शो नहीं किये ! आस्ट्रिया से लेकर बाल्टिक के लिथुआनिया तक सभी जगह हमारी बस दौड़ती रही अथवा कहीं-कहीं हम लोग ट्रेन से भी गये। जर्मनी के साल्ज़बर्ग, फ्रांस के टूलन, स्वीडन के मालमो, नार्वे के ओस्लो, फ़िनलैण्ड के हेलजित् फोर्स, बेल्जियम के लिज़्। अगर भविष्य के बारे में पहले से ही जानती होती, अक्ल-वक्त अगर मुझमें पक्की होती, मैं उस सारी यात्रा का एक नक्शा प्रस्तुत कर रखती। फिर भी पहली बार यूरोप घूमकर आने के बाद तेरह बरस की उस उम्र में ही मैंने बाँग्ला में एक भ्रमण वृत्तान्त लिख डाला था। 'सात सागर के पार' शीर्षक से वह ग्रन्थाकार में प्रकाशित भी हुआ था, लेखिका का नाम था कुमार अमला नन्दी। अब वह पुस्तक दुष्प्राप्य है।

लिज़् शहर में एक मज़ेदार घटना घट गयी थी। इस घटना से उदयशंकर के स्वाधीन मनोभाव और आत्मसम्मान बोध का मुझे परिचय मिला था। शाम को छह बजे लिज़् में हमारा अनुष्ठान होना था। वहाँ पहुँचते-पहुँचते अपरान्ह के तीन बज गये थे। हम लोग एक विशाल होटल में ठहर गये। होटल के कमरे को लेकर एक समस्या दिखायी देने लगी। अच्छे-अच्छे कमरों के खाली होते हुए भी होटल वाले ने बड़े मामूली कमरों में हमारे ठहरने की व्यवस्था की थी। कारण पूछने पर बड़ी सहजता से उसने बताया, होटल का मालिक एक अँग्रेज़ है और हम लोग हैं भारतीय अर्थात् अँग्रज़ों की प्रजा। इसलिए इस होटल में अच्छे कमरे का अधिकार हमारा है ही नहीं।

उदयशंकर ने उससे कुछ न कहकर सीधा फ़ोन किया ब्रिटिश काउन्सिल को। कुछ पलों में ही एक राजकर्मचारी ने आकर होटल वाले को हमारा परिचय बताते हुए कहा-''इन लोगों का ही नृत्य देखने आज दूरदूरान्तर से लिज़् शहर में अनगिनत लोग आए हैं। इन्हें तुम इनके उपयुक्त ही सम्मान दोगे।''

मेरा प्रशिक्षण शुरू हुआ था 'कालियदमन नृत्य नाटिका' से। मैं कालिया नाग बनी थी और उदयशंकर बने थे कृष्ण। विदेशी लोग अभिभूत होकर हमारा नृत्य देखा करते थे। आठ मास के इस सफर में भारतवर्ष की सांस्कृतिक श्रेष्ठता के सम्बन्ध में हमारी आँखें खुल गयीं। खचाखच भरा हॉल। दर्शकों का कैसा तो था उत्साह। गुणीजन, पण्डित से लेकर साधारणजन सभी पूरी तरह परितृप्त। अपना पथ मैंने नहीं खोजा, खोजना भी नहीं पड़ा, उदयशंकर के माध्यम से ही मेरा पथ था अर्थात् नृत्य ने स्वयं ही मुझे यह दिखा दिया कि कौन-सा है मेरा पथ।

यहाँ पर एक बात बताना बहुत ज़रूरी है, इतना घूमी-फिरी, इतने अनुष्ठान किये, उदयशंकर के इतने नज़दीक रहती थी-फिर भी तब तक रोमांस का कोई चिह्न भी हमारे बीच नहीं था। कारण बड़ा साफ़ है, उस समय मेरी उम्र मात्र तेरह वर्ष थी। देश लौट आयी उनके प्रति असीम श्रद्धा लेकर।

इसके बाद मिलना-जुलना खूब क्षीण हो गया। उदयशंकर देश वापस आते तब भेंट होती। कलकत्ता में जब वे कोई अनुष्ठान करते तो मैं देखने जाती, बस यहीं तक था मेरा उनका सम्बन्ध। थोड़ी-बहुत बातचीत भी होती।

उस समय त्रिभुवन की सीमा में भी रोमांस का 'र' अक्षर नहीं था। उसके अलावा उदयशंकर उम्र में मुझसे उन्नीस बरस बड़े थे। 'बड़े दादा' कहकर ही उन्हें बुलाती थी। मन में भी यही सोचा करती थी। समय के साथ-साथ उनके प्रति मेरी श्रद्धा ज़रूर बढ़ती जा रही थी।

इसी दौरान मैं कई कॉन्फ्रेन्सों में नृत्य कर चुकी थी। थोड़ा-बहुत मेरा नाम भी फैल गया था। किन्तु उस समय भी नृत्य को एक व्रत के रूप में, जीवन के लक्ष्य के रूप में सचेत भाव से ग्रहण नहीं किया था। मन में आदर्श पुरुष कल्पना का कोई अंकुरण न हुआ हो, ऐसा नहीं था। मेरे स्कूल के साथी इस बात को लेकर तरह-तरह की बातें करते थे। किन्तु उन जैसे रक्तमांस के किसी नायक की बात मैं सोचती ही नहीं थी। मेरे हृदय में तो समाए हुए थे कृष्ण और अर्जुन। यही लोग उस समय मेरे हीरो थे।

सम्भवतः वह १९३५ का साल रहा होगा। आज के एलीट सिनेमा घर का नाम उस समय था 'मैदान थिएटर'। मैदान थिएटर में उदयशंकर की नृत्यनाटिका कार्तिकेय का अनुष्ठान होना था। मैं तय करके देखने गयी थी। मंच पर कार्तिकेय का प्रवेश हुआ, अर्थात् कार्तिकेय वेशधारी उदयशंकर का। फिर मैं उन्हें देखकर अपनी आँख नहीं हटा सकी। देखने मात्र से ही ऐसा लगा, यह तो वही पुरुष है, मेरा जीवन-पुरुष, इसी को तो मैं खोज रही थी। मेरी उम्र उस समय सोलह की थी। इस अनुभूति की चर्चा बाद में भी कभी उदयशंकर से नहीं कही। यह मेरे हृदय की एकमात्र निजी अनुभूति थी।

विदेश का सफर करते समय उदयशंकर को एक फोर्ड गाड़ी उपहार में मिली थी। एक बार उन्होंने निश्चय किया कि उसी गाड़ी से कलकत्ता से देहरादून होते हुए वे अलमोड़ा जाएँगे। इस यात्रा में मैं भी उनके साथ गयी। हाँ, उसमें और भी कई लोग थे। इस बार की यात्रा बहुत कुछ अलग-सी थी। मेरे मन में उस समय उदयशंकर को लेकर विचित्र अनुभूति काम कर रही थी। रोमांस के साथ घुली-मिली लज्जा, दुविधा और कुछ-कुछ भय भी था।

धनाढ्य और असाधारण सुन्दरियाँ उस समय उदयशंकर के पीछे पागल रहा करती थीं। यूरोप में मैंने देखा ही था कि इस तरह की महिलाएँ उनके सभी तरह के 'शो' की दर्शक हुआ करती थीं। फिर वह 'शो' चाहे जिस शहर में क्यों न हो रहा हो, मेरे जैसी काली, ठिगनी महिला ऐसे सुपुरुष को कभी छू भी सकती है, ऐसी कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। हालाँकि मैं तो उन्हीं को चाहती थी। यह बात मैं उनसे कैसे कहूँ, मैं कैसे बताऊँ कि तुम मेरे हृदय सर्वस्व हो। अपने मन के मनुष्य के साथ मैं बनारस-देहरादून घूम रही थी किन्तु मुँह खोलकर कुछ कह नहीं पा रही थी।

याद है, उन्होंने मुझे दो-एक बहुत सुन्दर पुस्तकें खरीद दी थीं। उन सब पुस्तकों पर उन्होंने लिख दिया था, विद लव, उदयशंकर। मन ही मन सोच रही थी, यह भी क्या कम पावन है। कितनी बार पुस्तक खोलकर उन्हीं हस्ताक्षरों को देखा करती थी।

कलकत्ता लौटने के कुछ दिन बाद शौकवश एक महँगी साड़ी खरीदी थी। पीले रंग की टेसू की बनारसी साड़ी। दाम देने पड़े थे पच्चीस रुपए। खरीद तो ली किन्तु किसी भी तरह उसे पहन नहीं सकी। विवाह, बऊभात, किसी का जन्म दिन ये सब उपलक्ष्य बहुत छोटे लगते थे। कोई और भी बड़ा अवसर हो, खूब विशेष किसी उपलक्ष्य के अलावा उस साड़ी को कभी खोलूँगी नहीं, ऐसा निश्चय कर रखा था।

एक दिन मेरे भाग्य खुल गये, बिना बादल के बरसात और किसे कहते हैं! एकाएक एक दिन उदयशंकर ने कहा, ''मैटिनी शो में मेट्रो से एक फ़िल्म देखने जा रहा हूँ, तुम चलोगी?''

खूब चिलचिलाती धूप में मैं चल पड़ी वही तड़क-भड़कदार साड़ी पहनकर।

बाबा के साथ उस ज़माने में बहुत से गुणीजनों की घनिष्ठता थी। इन्हीं में से एक थे संगीत विशारद, विख्यात दिलीप कुमार राय। दिलीप बाबू ने मेरा नृत्य देखा था, तारीफ़ भी खूब की थी। बाबा से एक बार कहा भी था, 'अमला का खूब नाम होगा, वह नाचती भी है खूब दिल से।' नेताजी सुभाषचन्द्र बसु की शिल्पप्रीति के बारे में कहीं मैंने अधिक चर्चा नहीं सुनी है, किन्तु देश की संस्कृति के प्रति उनमें गहरा अनुराग था।

इसी दौरान एक दिन दिलीप राय ने मुझसे कहा-''तू इतना अच्छा नाचती है, एक दिन सुभाष बसु को अपना नाच दिखा।'' दिलीप राय ने ही इसकी व्यवस्था कर दी। सुरेन्द्रनाथ बंद्योपाध्याय के ही घर में इसका आयोजन किया गया। मैं खद्दर की साड़ी पहने हुए थी। सुभाष बसु मेरा नाच देखकर खूब खुश हुए। दादा से बुलाकर कहा-उदयशंकर के अलमोड़ा केन्द्र में मुझे भेज दें। बाबा इस पर राज़ी हो गये।

जितनी सहजता से मैंने यह बात कही है, उतनी सहजता से यह ज़रूर घटित नहीं हुई थी। मेरी उस समय अल्प उम्र थी। मेरी मुद्राएँ तथा नृत्य के प्रति मेरी निष्ठा देखकर सुभाषचन्द्र मुग्ध हो गये थे। मुझसे कहा था, उदयशंकर बहुत जल्दी कलकत्ता आ रहे हैं, उनसे बातचीत कर तुम अलमोड़ा चली जाओ, किन्तु बाबा ने मेरी बात पर कुछ विशेष ध्यान नहीं दिया। वे चाहते थे कि मैं अपना मन लिखने-विखने में लगाऊँ। उदयशंकर के सम्बन्ध में सुभाषचन्द्र ने कहा था-आइ एम एन अरडेण्ट एडमाइरर ऑफ़ दिस मेन-अर्थात् मैं उदयशंकर का भारी प्रशंसक हूँ। फिर भी देखिए दोनों लोगों की आपस में भेंट कभी नहीं हुई। सुभाषचन्द्र ने उदयशंकर का नाच भी कभी नहीं देखा था। फिर भी उन्होंने इतनी प्रशंसा की थी। वियना में सुभाषचन्द्र एक बार अस्वस्थ हो गये थे। उस समय वियना में उदयशंकर का शो चल रहा था। स्थानीय सभी तरह के समाचार-पत्रों में उदयशंकर के नृत्य की प्रशंसा की बाढ़ आ गयी थी। एक तरह से हलचल मच गयी थी। यूरोप भर में उस समय उदयशंकर का मेनिया चल रहा था।

मेरे मुँह से ही उदयशंकर ने पहली बार सुना था कि नेताजी उनके काम की कैसी प्रशंसा कर रहे हैं। यह सब सुन-सुनाकर उदयशंकर एक बार उनके एलगिन रोड वाले घर पर उनसे भेंट करने गये थे। उस वक्त नेताजी घर पर नहीं थे। इसीलिए उनसे भेंट नहीं हो सकी थी। इधर सुभाषचन्द्र ने वापस आकर जब यह सुना कि उदयशंकर मुझसे मिलने आये थे, वैसे ही वे काण्टीनेण्टल होटल दौड़े गये, जहाँ वे ठहरे हुए थे। दुर्भाग्य की बात यह थी कि उदयशंकर भी उस समय होटल में नहीं थे।

उन दोनों की भेंट की अन्तिम कोशिश की मेरे बाबा अक्षय कुमार नन्दी ने। दोनों को ही हमारे टालीगंज वाले घर में चाय पर आमन्त्रित किया गया। ठीक समय पर उदयशंकर तो आ गये किन्तु नेताजी का कहीं कोई पता नहीं था। उदयशंकर उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। इधर मच्छर काटते हुए उन्हें मारे डाल रहे थे। वे काफ़ी देर तक बैठे रहे। अन्त में खबर मिली कि कहीं किसी सभा में भाग लेने के लिए उन्हें अकस्मात जाना पड़ा है। फिर दोनों लोगों में कभी भेंट हुई ही नहीं। खैर जो भी हो, मैं सुभाषचन्द्र बसु के हस्तक्षेप के कारण ही अलमोड़ा जा सकी। उन्होंने ही बाबा को राज़ी किया था। अलमोड़ा ने मेरे पूरे जीवन को बदल दिया। एक ओर तो प्रकृति का ऐश्वर्य, दूसरा कलानुशीलन का वैसा आदर्श क्षेत्र। यह १९३९ ईस्वी की घटना है। अलमोड़ा के शिल्प केन्द्र के १४ बंगले थे। वहाँ पर सिमकी, जोहरा मुमताज, उजरा बेगम थीं। वे तीनों लोग घर के एक तरफ़ रहती थीं। उसी घर के एक तरफ़ रहते थे उदयशंकर और ठीक उसके बगल वाले घर में ही मेरे रहने का स्थान था।

पक्के एक वर्ष उदयशंकर ने अनेक तरह से मुझे जाँचा-परखा। मैं कितना कष्ट सह सकती हूँ, मुझमें सच्चा शिल्पबोध कितना है, उदारता कितनी है, विशुद्ध भारतीय स्त्री का प्रतिनिधित्व करने की योग्यता कितनी है, आदि-आदि दृष्टियों से। एक बार उन्होंने मुझसे कहा था-''मैंने सात घाटों का पानी पिया है, गंगाजल का स्वाद क्या है, इसे मैं जानता हूँ।'' जीवन में उन्होंने कुछ कम भोग नहीं किया था, सीखा भी बहुत कुछ था। मामूली तरह से घुलना-मिलना, थोड़ी-बहुत घनिष्ठता होना और विवाह में वे काफ़ी फर्क करते थे। अनुभवी और परिपक्व मनुष्य थे, किसी-न-किसी प्रकार उन्हें मेरी दुर्बलता की भनक लग गयी थी। वे यह समझ गये थे कि मैं मन-ही-मन एक प्रेमी के रूप में उनकी पूजा करती हूँ। श्रद्धा और अनुराग लगभग बराबर मात्रा में थे। यद्यपि इस भाव को उन्होंने तुरन्त व्यक्त नहीं किया था। मैंने भी उनसे कुछ नहीं कहा।

यहाँ पर सिमकी के बारे में कुछ बताना बहुत ज़रूरी है। उदयशंकर प्रेम, विवाह आदि और मित्रता में फर्क किया करते थे। सिमकी के साथ उनका सम्बन्ध नर-नारी के बीच होने वाली मित्रता का सम्बन्ध था। उन लोगों के बीच अगर कोई अन्य घनिष्ठता हुई भी हो तो उसमें किसी तरह के बन्धन या चिरकाल के लिए बँध जाने की कोई सम्भावना नहीं थी। सिर्फ़ सिमकी ही नहीं, एल्महर्स्ट की बेटी वियात्रिचे पागल की तरह उदयशंकर को चाहती थी। फिर भी वह सम्बन्ध विवाह बन्धन तक नहीं पहुँचा। उल्टे अलमोड़ा में ज़ोहरा को वियात्रिचे ने एक चिट्ठी लिखी थी। वियात्रिचे ने उसमें लिखा था कि ''मैं एक बन्धु के प्रेम में पड़ गयी हूँ, दादा दो (उदयशंकर को) सीधे-सीधे कहने में मुझे लज्जा हो रही है'' अर्थात् वियात्रिचे तो स्वयं ही हट गयी थीं।

वियात्रिचे का विवाह उसी मित्र के साथ हो गया। इसके कुछ दिन बाद हम लोगों ने मद्रास का सफर किया था। मन में गम्भीर संशय था कि मैं उन्हें कभी नहीं प्राप्त कर पाऊँगी। किन्तु मन में यह निश्चय कर रखा था कि और कोई नहीं, और किसी को नहीं या तो उदयशंकर से विवाह करूँगी, अन्यथा जीवन में विवाह ही नहीं करूँगी। सोच रखा था, विवाह यदि नहीं भी करती हूँ पर अगर कभी माँ बनी तो गर्भ में उन्हीं की संतान धारण करूँगी। उदयशंकर से मिलन के फलस्वरूप उपहार के रूप में आएगी वह सन्तान। नहीं तो सन्तानहीन ही बनी रहूँगी जीवनभर।

जब मेरे मन की यह दशा थी, तभी घटित हुआ वह अलौकिक काण्ड, आशीर्वादों की वह पुष्पवृष्टि। १९३९ ईस्वी का ८ दिसम्बर, उदयशंकर का जन्म दिन। मद्रास के एक होटल में सभी उपस्थित थे। डिनर समाप्त हुआ। एक-एक कर सभी अपने-अपने कमरों में चले गये। मैं भी अपने कमरे में आकर दरवाज़ा बन्द कर सोने की जोड़-तोड़ कोशिश कर रही थी।

सहसा दरवाज़े पर हल्की दस्तक। पहले तो मैंने अनसुनी कर दी। उसके बाद पुनः दस्तक हुई। द्वार खोलते ही मैं चौंक उठी। मेरे कमरे के सामने खड़े हुए थे वे, उदयशंकर।

कमरे के अन्दर आ गये। धीरे से दरवाज़ा बन्द कर दिया। पल भर की एक चुप्पी। उसके बाद सीधे मेरी आँखों में देखते हुए बोले-''पता है, मैंने निश्चय कर लिया है कि विवाह करूँगा।''

मैंने विचलित होते हुए अपने को सम्हालकर कहा-''वाह, यह तो बहुत अच्छा है।''

''नाम नहीं जानोगी, किसके साथ विवाह करूँगा?''

''क्या, कौन, किसके साथ?''

''-उसका नाम है अमला।''

फिर मैं अपने को सम्हाल नहीं सकी, एक छोटी बच्ची की तरह रो पड़ी।

मैं रो रही थी, रोती ही जा रही थी। उन्होंने पास आकर मेरी पीठ और सिर पर हाथ फेरा। उसके बाद एकदम मुझे हृदय से लगा लिया। मेरा वही पहला आलिंगन था।

कुछ क्षण मेरे पास रहे। दो-एक बातें कीं। वैसे कुछ कहने की ऐसी कोई ज़रूरत भी नहीं थी। स्तब्धता, चुप्पी और स्पर्श सब कुछ पूर्ण किये दे रहे थे। थोड़ी देर बाद वे चले गये।

दोनों लोगों के भीतर प्रेम अपनी पंखुड़ियाँ खोल रहा था। निगाहों का मिलना, एक-दूसरे की निकटतम उपस्थिति, एक-दूसरे को देखना और बिना देखे भी एक-दूसरे के मन की बात, दोनों समझ लेते थे, किन्तु इतने पर भी इस प्रेम की एक बात भी किसी दूसरे के सामने व्यक्त नहीं हुई थी। सब कुछ अत्यन्त गुप्त था, तब तक। दोनों के बीच सीमित। धीरे-धीरे दूसरे लोगों को भी थोड़ी-थोड़ी इसकी भनक लग रही थी। उदयशंकर ने पूरी बात बताते हुए मेरे बाबा को एक चिट्ठी लिखी। बाबा, जैसा कि स्वाभाविक था, कुछ दुविधा में थे। सोच रहे थे उदयशंकर एक खिलंदड़े टाइप के लड़के हैं, क्या यह विवाह टिक पाएगा। अलाउद्दीन ख़ाँ साहब ने बाबा को समझाते हुए कहा था-''किसी तरह की चिन्ता मत करो, विवाह के बाद अमला ठीक तरह से ही रहेगी।''

विवाह हो गया। दल की रीति-नीति और कायदे को मैं ठीक-ठीक मानकर चलती थी। विवाह के बाद भी किसी नृत्यानुष्ठान में मैं मंच पर उदयशंकर के पास नहीं बैठी। उदयशंकर की डान्स पार्टनर सिमकी थी, सुतराम उसी के वहाँ पर बैठने की बात थी।

हमारा प्रतिदिन का जीवन अचरज से भरा बड़ा रोमांसमय था। रोमांच से भरा। बाह्य घटनाओं की वजह से नहीं, यह था भीतर-ही-भीतर। आनन्द का जन्म हो गया था। ठीक उसके एक वर्ष बाद की एक मज़ेदार घटना की बात कहती हूँ। 'कल्पना' छवि की लोकेशन देखने और छवि से जुड़ी हुई अन्य सब व्यवस्थाओं को पूरी तरह तैयार रखने की वजह से उदयशंकर को अहमदाबाद, पूना, बम्बई और कलकत्ता जाना था। अकेले ही जाने की योजना थी। पता लिखकर, टिकिट लगाकर १० लिफाफे उन्हें दे दिये। चिट्ठी लिखते रहेंगे, यह उनसे कह भी दिया। इस सफर में वे सबसे अन्त में कलकत्ता गये थे और कलकत्ता छोड़ते समय वे दसों चिट्ठियाँ उन्होंने डाक से पोस्ट कर दीं। मुझे वे चिट्ठियाँ मिलें, इसके बहुत पहले ही वे लौट आये।

'कल्पना' फ़िल्म में जिस भारत को चित्रित किया गया है, उसकी केवल कलात्मक दिशा ने पहले ही रूप प्राप्त कर लिया था 'उदयशंकर इण्डिया कल्चर सेण्टर' अलमोड़ा में। आज भी यह फ़िल्म अप्रासंगिक नहीं हुई है। वरन् शिक्षा, शिल्प, भारतीय आदर्श इन सबको इस छवि में जिस तरह से प्रस्तुत किया गया, उससे उदयशंकर का शिल्पी मन और उनकी दूरदृष्टि कितनी गम्भीर और प्रखर थी, इसका बखूबी पता चल जाता है।

इस फ़िल्म में दो सौ वाक्यों का प्रयोग किया गया है। ८ इंच से शुरू कर ४ फुट लम्बा मृदंग था। गोंग, गेमिलन जैस वाद्य आदि उन्होंने इकट्ठे किये थे। जावा, बाली, सुमात्रा और ब्रह्म देश से। देसी बाजों के सम्बन्ध में उनका आग्रह पेरिस में रहते समय ही गहरा हो गया था। विख्यात पश्चिमी संगीतज्ञ लिओपांड स्टोकव्हिस्की तबला सुनकर तो विस्मय में पड़ गये थे। तबले के विभिन्न स्थानों पर विभिन्न मात्रा में गाँव की गोंद का लेप होने के कारण एक ही

तबले से विभिन्न आवाजें निकालना सम्भव है। तबला सुनकर मुग्ध हुए स्टोकव्हिस्की ने उदयशंकर से कहा था–''जो देश एक ही वाद्य यन्त्र से इतने तरह की आवाजें निकाल सकता है, दुनिया में उस देश की कोई जोड़ी नहीं है।''

१९६८ ईस्वी तक हमारा दाम्पत्य जीवन अत्यन्त सुखद था। सहसा एक काला मेघ हमारे जीवन में छा गया। पता नहीं क्यों, उदयशंकर में कैसी एक विचित्र दुर्बलता दिखायी देने लगी। इस दुर्बलता के साथ मिला हुआ था एक प्रकार का निरर्थक अहंकार-बोध। हमारे नृत्य स्कूल की एक लड़की के साथ उनका सम्पर्क हो गया। इस घटना ने हम दोनों लोगों के बीच धीरे-धीरे एक दूरी बना दी। मुझे पता था इसका फल उनके लिए अन्ततः मंगलजनक नहीं होगा। अन्तिम दिनों में उदयशंकर ने इसके लिए पश्चाताप भी किया था और मुझमें तब बढ़ गया था, प्रेम के सम्बन्ध में अविश्वास।

सहसा एक दिन सपना देखा, एक लम्बी कॉरीडोर है। दोनों छोरों से हम दो लोग आगे बढ़ते आ रहे हैं। उदयशंकर ने मुझे गले से लगा लिया।

ठीक यही बात वास्तव में घटी थी। उदयशंकर बीमार पड़ गए, नर्सिंग होम के आई.सी. यू. में लेटे हुए थे। नाक में नली लगी हुई थी। मैं उन्हें देखने गयी थी। इशारे से मुझे पास बुलाया। मेरे हाथ को अपनी मुट्ठी में लेकर उसे थोड़ा दबाया, सिर्फ़ यही नहीं, मेरे सिर को अपनी छाती से लगा लिया।

फुसफुसाकर बोले–''थैंक यू डार्लिंग, थैंक यू फॉर एवरी थिंग।''

सबके अपने अशोक सेकसरिया

प्रयाग शुक्ल

बहुतों के लिए अब कोलकाता वही नहीं रह गया(या नहीं रह जायेगा) जो अशोक सेकसरिया के रहते हुए उनके लिए था और उनके निवास १६ लॉर्ड सिन्हा रोड में पहुँचने से पहले ही उनके मन (और शरीर) में एक रोमांच-सा पैदा कर दिया करता था। जूते-चप्पल बाहर उतार देने पर ,उस बड़े से कमरे में प्रवेश करते ही,वह अक़सर एक तख़्त पर बिछे बिस्तर पर या फर्श पर ही,कुछ पढ़ते-लिखते हुए मिलते, कई बार तो उन्हें भान भी नहीं होता कि कोई उनके पास आकर खड़ा हो गया है, पर ज्यों ही कुछ चौंककर उसकी ओर देखते तो सब कुछ छोड़-छाड़कर उसी के साथ हो लेते। लेकिन इस बार जब मैं २४ नवम्बर की सुबह उस कमरे में पहुँचा तो दृश्य बदला हुआ था। वह एक हॉस्पिटल बेड पर, जो उनका भतीजा सौरभ उनके लिए लेकर आया था, लेटे हुए थे। आँखें कुछ मुँदी हुई थीं । आहट से खुल गयीं। ओ हो, तुम आ गये जैसा कुछ उन्होंने कहा। मैं पटना के भारतीय कविता समारोह से होते हुए कोलकाता उनसे मिलने पहुँचा था : यह मालूम होने पर कि वे बाथरूम के बाहर फिसलकर गिर पड़े हैं और बायें पैर के ऊपरी भाग में, कमर के पास की उनकी हड्डी, अपनी साथिन हड्डी से टूटकर विलग हो गई है,और वह अपना बायाँ पैर-हिला डुला भी नहीं पा रहे । पटना समारोह में जो शॉल मुझे भेंट में मिला था, वह मैं साथ लेकर गया था और उनकी अधमुँदी सी आँखों का लाभ उठाकर उन पर उसे उड़ा दिया था । एक मोटी-सी चादर उन पर पड़ी थी । किसी अतिरिक्त ओढ़ावन की ज़रूरत उन्हें नहीं थी। हल्की-सी ठण्ड थी,सो,वह शॉल भी खप गया। मैं डाँट और उलाहने की अपेक्षा कर रहा था, ऐसी डाँट कि अरे,यह क्यों ले आये इसका क्या काम? आदि । पर वे बोले मेरे लिए लाये हो ? मैं स्वीकृति में चुप रहा । बोले,मेरी बड़ी बहन के कारण ही मेरी भी यह आदत बन गयी है कि कोई कुछ लाकर देता तो चिढ़ जाता था । तुम जानते हो वापस कर देता था। नर्स बिन्दु बिस्तर के पास आकर खड़ी हो गई । मैं बाँग्ला में ही उससे कुछ बातें करने लगा । बोली सुबह से कुछ खाया नहीं है। मना कर देते हैं। ऐसे, कैसे चलेगा ? मैंने कुछ अभिमान से कहा,खाएँगे कैसे नहीं । साठ साल से उन्हें जानता हूँ, तबसे हमारी दोस्ती है।मन में यह आशंका थी कि ज़रूरी नहीं यह वास्ता देने पर भी वह खा ही लेंगे। पक्के जिद्दी हैं। यह भी मुझसे अधिक भला और कौन जानेगा । मैंने दुहराया 'कुछ तो खा लीजिये।' बिन्दु ने दलिये से भरा एक चम्मच बढ़ाया। उन्होंने खा लिया पर अगले चम्मच के लिए मना कर दिया ।

जो हुआ, उसका आभास,तब दूर-दूर तक नहीं था । मैं सहज भाव से बातें करने लगा, पीड़ा तो उन्हें थी पर पीड़ा को उनसे अधिक छिपाते हुए, किसी और को तो देखा नहीं। अपनी पीड़ा को छिपाकर,दूसरे की मामूली-सी पीड़ा पर खुद को कुर्बान कर देने की इच्छा का नाम ही तो अशोक सेकसरिया था। जब उनके साथ काफी बातें कर चुका, एक बार

फिर बालेश्वर जी आये,मानो अपनी चुप्पी से यह कहते हुए कि अब आप दोनों थोड़ा विराम दें। मैंने चौंककर पहचाना कि अब तो बिल्कुल विराम देना चाहिए। हम मिलते ही इसी प्रकार बातें करने लगते थे। वह कुछ ऊँचा सुनने लगे थे। वैसे मामूली-सी बात पर भी उनका 'विस्मय' देखते ही बनता है। वह अपने विस्मय को दुहराते भी बहुत थे । थोड़ी देर के विराम के बाद, उन्होंने फिर बातें शुरु कर दीं । इस बार मैं सावधान था । न अपने को थकाना चाहता था ,न उनको। यह सब लिखते हुए यह भी तो याद आ रहा है कि जब भी उस कमरे में उनके साथ ठहरता था।... और रात्रि भोजन के बाद, हम लेटे-लेटे ही बातें करने लगते थे... बीच-बीच में सिगरेट सुलगाते हुए तो कई बार सुबह हो जाती थी...चिड़ियों की आवाज़, और फूटती रोशनी से हम पहचानते कि रात बीत गयी और बातें खत्म नहीं हुईं...।

अब वही याद आ रही हैं। वे असंख्य हैं। उन्हें समेटना मुश्किल है। और इस मामले में मैं ही अकेला नहीं हूँ । जो भी उनके निकट आया , वह यह ठीक ही मानकर चल सकता है कि वही तो उनके स्नेह के बहुत निकट रहा है, उनके स्नेह का विशेष प्राप्तकर्ता। यह चमत्कार है...और इस चमत्कार को साधने वाले व्यक्ति का नाम ही अशोक सेकसरिया है।

राजनीति, समाज, साहित्य, कलाएँ । क्रिकेट, हॉकी, फुटबॉल की दुनिया ।पत्रकारिता। मित्र-परिजन। ज्ञान की अनेक शाखाएँ... आजीवन उनके ओढ़ने-बिछाने की चीज़ें रहीं। अपने को प्रचार-प्रसार से दूर रखने वाले अशोक सेकसरिया, अपने प्रिय लोगों के प्रचार-प्रसार में कोई कोर-कसर बाकी नहीं रहने देते थे।जो उनके पास है,उसे देना ही मानो उनका धर्म था, न दे पाने पर, उनके विवश, भावविह्वल चेहरे की यादें भी बहुत-सी हैं। २४ नवम्बर की शाम को भी जब मैं उनके पास बैठा था, तो उनके छोटे भाई दिलीप (जिनकी मृत्य कुछ वर्ष पहले हुई) के छोटे बेटे सौरभ का बेटा वेदान्त, उनका हालचाल पूछने आया ।... १४ की उम्र से कुछ बड़े वेदान्त को देखकर यह याद आयी कि इतना ही बड़ा तो था जब अशोक (जी) से मेरी पहली भेंट हुई थी...। मेरे बड़े भाई कथाकार रामनारायण शुक्ल ने किसी हिन्दी पत्रिका की साहित्यिक वर्ग पहेली शौकिया भरी थी और मेरे छोटे भाई देवनारायण शुक्ल के नाम से भेज दी थी.. उसे पुरस्कार मिल गया था , पुरस्कार की सूचना के साथ जो पता छपा था वह हमारी टुबैको शॉप का था ,बी-८,न्यूमार्केट । अशोक जी यह पता करने आये थे कि भला इस दुकान का वह कौन-सा व्यक्ति है जिसे ऐसी हिन्दी आती है, और जो हिन्दी साहित्य के बारे में ऐसी जानकारी रखता है। यह संयोग ही था कि मैं उस वक्त दुकान में था। कभी-कभी मैं भी घर के किसी नौकर के साथ या अकेले ही पिता के लिए टिफ़िन लेकर घर से जाता था स्कूली छुट्टियों के दिनों में..। वह आये,पूछा देवनारायण शुक्ल कौन हैं? तब मैं बारह वर्ष का था । वह कोई बीस के रहे होंगे पर, लगते १७-१८ के थे । मैंने सोचा यह मेरे छोटे भाई के दोस्त तो हो नहीं सकते ... उन्होंने सब हाल-चाल जाना। यह जानकर कि मैं भी कुछ लिखता पढ़ता हूँ, मेरे बड़े भाई रामनारायण शुक्ल भी और उन्होंने ही यह वर्ग पहेली भरी थी... वह हमारी दुकान में आने लगे। टुबैको शॉप के सामने ही हमारे संयुक्त परिवार की अँग्रेज़ी पुस्तक दुकान थी 'कालीचरण एण्ड कम्पनी'... जो पारिवारिक बँटवारे के बाद 'हमारी' नहीं रह गयी थी... यह सब भी उन्होंने जाना। आगे की कथा संक्षेप में यह है कि उन्हीं के कारण हम एक बड़ी साहित्यिक दुनिया से परिचित हुए... 'कल्पना' , 'कहानी', 'वसुधा', 'युगचेतना' आदि पत्रिकाओं से। अज्ञेय का उपन्यास 'शेखरः एक जीवनी' हमने पढ़ा। 'बड़ा बाज़ार पुस्तकालय', 'सेठ सूरजमजालान पुस्तकालय', 'नेशनल लायब्रेरी' आदि में जाने लगा, अनन्तर उन्हीं के साथ 'ब्रिटिश काउंसिल लायब्रेरी' भी । १८ वर्ष का था तब मेरी एक कहानी 'कहानी' पत्रिका में फोटो सहित 'सड़क का दोस्त' प्रकाशित हुई और 'कल्पना' में 'दो लड़के' शीर्षक कहानी जिसकी पृष्ठभूमि से वह परिचित थे, अत्यन्त प्रसन्न हुए। अपनी कविताएँ भी उन्हें सुनाता था। वह स्वयं कुछ लिखते हैं इसका पता उन्होंने हमें लगने नहीं दिया। 'सेण्ट

ज़ेवियर कॉलेज' की पढ़ाई छोड़कर वह वैसा जीवन क्यों बिता रहे हैं, जैसा बिता रहे थे... टूटी- सी चप्पलों में, धूल की परतों वाले पैरों में, बेतरतीब-से पहनावे में, सिगरेट पीते हुए, और 'दक्षिण भारतीय श्रीनिवास रेस्तराँ' (जो लायड्स बैंक के पीछे था, और हमारा अड्डा बन चुका था) में कॉफी-चाय पीते हुए, डोसा-इडली खाते हुए । यह प्रश्न हमारे मन में कभी-कभी जागता था, पर उनका वह जीवन भी कम रोमांचित नहीं करता था, सो हमने उसे बहुत कुरेदा नहीं। आगे चलकर यह सुनने को मिला कि वह ऐसा जीवन किसी प्रेम प्रसंग के कारण बिता रहे थे.. पर, अगर ऐसा था भी तो वह 'पता-ठिकाना' वे हम सबसे आजीवन छिपाये रहे।

बहरहाल, यह उन्हीं दिनों की बात है, जब मेरे पिता का व्यवसाय डूबना शुरू हो गया था। १९५८ में वह दुकान-मकान सब कुछ बेचकर गाँव चले गये। मेरे बड़े भाई रामनारायण शुक्ल कलकत्ता विश्वविद्यालय में कानून की पढ़ाई कर रहे थे, वह वहाँ के हॉस्टल में रहने चले गये। मैं अपने एक मित्र के पास रहने लगा जो कॉलेज में मेरे सहपाठी थे। बड़ी बहन चन्द्रकान्ता अवस्थी कोलकाता में ही थीं, उनका सहारा था, अशोक (जी) तो थे ही, कुछ ही समय बाद वह भी 'हिन्दुस्तान' (दिल्ली) में काम करने के लिए दिल्ली चले गये। शुरू हुआ हमारा पत्र-व्यवहार।

एक बार फिर २४ नवम्बर की शाम में लौटूँ, वेदान्त से कहने लगा, ठीक तुम्हारी ही उम्र का था, जब तुम्हारे दादा जी से मेरी भेंट हुई थी। अशोक जी मुस्कराये। चुपचाप हमारी बातें सुनते रहे। वेदान्त अब दसवीं का विद्यार्थी है, सेण्ट ज़ेवियर में पढ़ता है, जान कर मैं उससे अँग्रेज़ी में बातें करने लगा... आजकल यही तो होता है, बड़े और प्राइवेट पब्लिक स्कूलों के बच्चों से हम अँग्रेज़ी में बातें करने लगते हैं, ठीक ही यह मानकर कि 'हिन्दी तो उन्हें अच्छी तरह आती नहीं होगी।'

मैंने वेदान्त से यह पूछा कि कुछ हिन्दी भी पढ़ते हो या नहीं,... मुझे कुछ चकित करते हुए वह हिन्दी में ही बोला, पढ़ता हूँ। मैंने इण्टरस्कूल वाद- विवाद प्रतियोगिता में पुरस्कार जीते हैं। हिन्दी मेले में भी.. अशोक जी ने भी इस सबके प्रोत्साहन- समर्थन में कुछ बातें कहीं। चलते हुए वेदान्त बोला, ''मुझे कुछ पूछना था। हिस्ट्री में। नौ बजे आपके पास आ जाऊँ?'' अशोक जी एक करुण-सी आवाज़ में बोले, जिसमें विवशता और भावविह्वलता समान मात्रा में झलक रही थी... ''आ जाना, तबियत ठीक लगी तो ज़रूर बता सकूँगा'' जैसा कुछ उन्होंने कहा।

वेदान्त हमें प्रणाम कर चला गया। मैं सोचने लगा, अचरज क्या कि उसे हिन्दी आती है, आखिरकार वह सीताराम सेकसरिया का प्रपौत्र है, जिनका जीवन महात्मा गाँधी, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, सुभाष चन्द्र बोस, काका कालेलकर, मैथिलीशरण गुप्त, महादेवी वर्मा, रायकृष्णदास, भागीरथ कावनोड़िया जैसे व्यक्तियों, रचनाकारों से जुड़ा रहा है और जिनके सुयोग्य बड़े बेटे अशोक सेकसरिया ने हिन्दी में ऐसा गद्य लिखा है, अपनी कहानियों, लेखों, टिप्पणियों, पत्रों में, जिसकी मिसाल मिलना मुश्किल है और जिन्होंने अपने पिता की आजादी की लड़ाई के दिनों की डायरियों का 'एक कार्यकर्ता की डायरी' (ज्ञानपीठ से प्रकाशित) शीर्षक से दो खण्डों में ऐसा सम्पादन किया है कि उससे सम्पादन कला सीखी जा सकती है।

याद आयी कि इन डायरियों के सम्पादन के लिए उन्होंने जयपुर शहर में डेढ़-दो बरस एकान्तवास किया था।

इतनी हाड़-तोड़ मेहनत अब कौन करता है जो उन्होंने 'हिन्दुस्तान', 'दिनमान', 'जन', 'रविवार', 'चौरंगी वार्ता', 'सामयिक वार्ता' आदि पत्र-पत्रिकाओं में विभिन्न विषयों पर लिखे गये अपने लेखों-टिप्पणियों में की। रायकृष्णदास, बालकृष्ण गुप्त (लोहिया के सहयोगी), निर्मल वर्मा आदि पर लिखे हुए उनके अद्‌भुत संस्मरणों की भी याद आती है।

कई पुस्तकें बन जायें, इतने हैं उनके लेख-टिप्पणियाँ। अपनी लिखी कोई चीज़ कभी सँभालकर नहीं रखी । उनकी एक मात्र पुस्तक 'लेखकी' (वाग्देवी प्रकाशन) के लिए कहानियाँ एकत्र की अरविन्द मोहन ने, कुछ कुँवर नारायण जी से मिलीं, तीन श्रीराम वर्मा से... 'प्रिय पाठक' जैसी कहानी उसमें जाने से फिर भी रह गयी है।

बहरहाल, उन्हें बिना बताये हुए 'लेखकी' का प्रकाशन हुआ। बताते तो वे होने न देते। पहल अरविन्द मोहन की थी। भूमिका मैंने लिखी। दीपचन्द जी (वाग्देवी प्रकाशन) ने सुरुचि के साथ यह संग्रह प्रकाशित किया। लोकार्पण दिल्ली के पुस्तक मेले में हुआ। प्रभाष जोशी, कुँवर नारायण जी के हाथों ख़बर प्रकाशित हुई। अशोक जी को पता चला। कुछ ही दिनो बाद किसी प्रसंग में मुझे और मेरी पत्नी ज्योति को कोलकाता जाना था। हम भारतीय भाषा परिषद के अतिथिगृह में ठहरे थे। रास्ते भर मैं ज्योति से चर्चा करता हुआ आया था कि ''अशोक जी मुझ पर बहुत नाराज़ होंगे। पर जो हो, देखा जायेगा। उन्हें मना लूँगा।'' वह अलका सरावगी, शर्मिला बोहरा के साथ अतिथिगृह में आये, मैंने पुस्तक की चर्चा नहीं की.. न उन्होंने कुछ कहा.. मामला शान्त-सा है जानकर मैंने 'लेखकी' की प्रति निकाली उनकी ओर सरका दी, उन्होंने उलटी-पलटी, बाकी लोगों ने भली-भाँति देखी-परखी... तारीफ़ की, वह चुपचाप सुनते रहे... चलते हुए प्रति साथ रख ली तो मैं खुश हुआ। अपने किये हुए को 'कुछ न मानने' जैसा उनका भाव, हमेशा याद आयेगा।

मैं कुछ भी लिखता, कहीं भी छपता, किसी अनाम-अज्ञात-सी जगह में भी तो उन्हें न जाने कैसे उसकी ख़बर हो जाती । प्रतिक्रिया में पत्र मिलता या फ़ोन, या उनसे मिलने पर वह उसकी चर्चा करते... प्रशंसा मिलती और किसी एक शब्द या वाक्य की असावधानी पर उनका सुझाव भी। 'आलोचनात्मक' टिप्पणी भी । जब भी जो भी पत्रिका मैंने सम्पादित की, उसकी सामग्री और साज-सज्जा तक में, उनका सहयोग मिलता, और उसकी किसी कमी पर, सावधानी बरतने की भरपूर सीख भी मिलती। ऐसा मेरे साथ ही हुआ था सो बात नहीं, जो भी उनके निकट आया, जिसे भी उन्होंने चाहा, सबके प्रति उनका यही व्यवहार रहा... उनके जीवन में, कई ऐसे व्यक्ति आये, मेरे जाने, जिनके प्रति उनमें गहरा प्रेम और सम्मान भाव पैदा हुआ, इनमें से कुछ की याद कर लेता हूँ, ओमप्रकाश दीपक, कृष्णनाथ, रामकुमार, कृष्णा सोबती, शंख घोष, निर्मल वर्मा, किशन पटनायक, सुनील, गिरधर राठी... महेन्द्र भल्ला, जितेन्द्र कुमार, प्रबोध कुमार, कमलेश, अशोक वाजपेयी, पृथीपाल वासुदेव आदि की एक मित्र-मण्डली तो दिल्ली प्रवास में बनी ही.. रमेशचन्द्र शाह, ज्योत्स्ना मिलन और उनकी दोनों पुत्रियों, शम्पा और राजुला से उनकी आत्मीयता का तो कोई आर पार नहीं था। सैकड़ों सामाजिक-राजनीतिक कार्यकर्ता, पत्रकार, कलाकार, लेखक, सम्पादक, शिक्षाकर्मी, समाज-सेवियों, और समान्य-जनों की इतनी लम्बी सूची है, उनसे जुड़ने की... कि गिनती करना सम्भव ही नहीं है ... और यह भी तो था ही कि जिससे जुड़े, उसके समूचे परिवार से, उसके बच्चों से, और उसकी मित्र-मण्डली तक से वह जुड़ जाते थे, सहज ही, अनायास ।

भारतीय भाषा परिषद के पुस्तकालय प्रभारी बालेश्वर राय १९८८ में उनके साथ रहने आये, अनन्तर उनकी पत्नी सुशीला जी, और उनके दोनों पुत्र रवीन्द्र और अवनीन्द्र भी आ गये .. इन २६ वर्षों में अशोक जी के जीवन का 'हिसाब-किताब', जमा-खर्च उन्हीं के पास सबसे ज़्यादा है। कौन उनसे मिला, आया- गया, ठहरा, उन्होंने क्या किया, कहा, इस सबका जमा खर्च, इस परिवार ने उन पर जो अपना प्रेम, और समर्पण लुटाया है उसकी तो याद भी विह्वल कर देती है...

उनकी एक-एक सुख-सुविधा का जैसा ध्यान इन लोगों ने रखा, वह सचमुच अभिनन्दनीय है...

रवीन्द्र और अवनीन्द्र के वह दादाजी बने, और एक इशारे मात्र से उनकी बातें वे समझ जाते थे.. पिछले दशकों में, संजय भारती-जमुना, अलका सरावगी, शर्मिला बोहरा जालान, जवाहर गोयल आदि उनके निकट रहे हैं। सो अशोक जी से फ़ोन पर संपर्क न हो पाने की स्थिति में मैं भी इन्हें ही फ़ोन करता था... और कोलकाता में न होने पर वह प्रायः कांचरापाड़ा में संजय-जमुना के घर पर ही 'मिलते' थे ...

१९६० में, २० वर्ष की आयु में अशोक जी से मिलने दिल्ली आया था। तब वह 'दैनिक हिन्दुस्तान' में थे। तय हुआ कि मैं कोलकाता लौटते हुए जब अपने गाँव, तिवारीपुर, हुसेनगंज, फतेहपुर में रुकूँगा तो वह भी कुछ दिनों के लिए वहाँ आएँगे... वे आये। मेरे माता-पिता अन्य परिजन तो उन्हें चाहते ही थे.. उन्हीं की तरह मेरे बचपन के मित्र (अब किसान) त्रिलोकी रमण द्विवेदी से उनकी अन्तरंग भेंट हुई ... और एक ही बार मिलने के बावजूद, उन दोनों का भी ऐसा सम्बन्ध बना कि वे मुझसे आजीवन त्रिलोकी रमण के बारे में पूछते रहे और यही हाल त्रिलोकी रमण का है... जो भी उनसे मिला, भले ही एक बार, फिर कभी भूला नहीं ...

१९६३ में जब उन्हें ख़बर मिली कि 'कल्पना' में एक जगह खाली है, तो उन्होंने मुझे पत्र लिखा कि तुम वहाँ चले जाओ। बदरीविशाल जी से मिल लो। उन्हें मालूम था कि सम्भव है मेरे पास कोलकाता से हैदराबाद तक जाने के साधन न हों .. सो अपने भांजे सत्यनारायण सुरेका को फ़ोन किया कि वह मुझे सौ रुपये दे दें ... मैं हैदराबाद पहुँचा। 'कल्पना' ने मेरा जीवन बदला ...

यह मेरा किस्सा है। ऐसे ही किस्से अन्यों के पास भी होंगे। जब वे सामने आएँगे तो अशोक जी अपने को 'छिपाकर' न रख पाएँगे ...

मेरा भाग्य कि वह मुझे मिले। मैं उन्हें 'गाँधी तत्त्व' वाला व्यक्ति ही मानता हूँ और यह भी जानता हूँ कि सर्वाधिक सुख उन्हें गाँधी-चर्चा में ही मिलता था।

यह याद करके वे बहुत प्रसन्न होते थे कि मेरे और ज्योति के विवाह के एक साक्षी सीताराम सेकसरिया जी बने थे और मैंने उनके चरण छुए थे।... विवाह 'रजिस्टर्ड' विधि से हुआ था। मैरेज ऑफ़ीसर शिक्षायतन स्कूल के हॉस्टल में आये थे। तब ज्योति की बड़ी बहन रूबी दी (रवीन्द्र कौर अहलूवालिया) वहाँ हॉस्टल की वार्डन थीं, और शिक्षायतन स्कूल की वाइस प्रिंसिपल। इस स्कूल की स्थापना सीताराम जी और भागीरथ कानोड़िया ने ही की थी। और रूबी दी तो शुरू से ही उनके शिक्षा-आयोजनों में सहभागी रही थीं ... उन्होंने 'मारवाड़ी कन्या विद्यालय' में भी पढ़ाया था। इसी विद्यालय से तो सेकसरिया जी और उनके मित्रों ने कोलकाता में कन्या-शिक्षा की (भी) अलख जगायी थी...

इसे भी एक अच्छा संयोग मानता हूँ कि भेंट तो उनसे हर बरस होती ही रही थी...पर, इधर चार महीनों में दो बार हुई.... मैं अगस्त के प्रथम सप्ताह में रामकुमार जी के रेखांकनों की प्रदर्शनी (आकृति आर्ट गैलरी, कोलकाता) के अवसर पर कोलकाता गया था। प्रदर्शनी मैंने ही क्यूरेट की थी। रामकुमार जी की इच्छानुसार गगन गिल भी कोलकाता आयी थीं। अशोक जी अब बाहर ज़रा कम निकलते थे। चलने में उन्हें कुछ कठिनाई भी होती थी। पर, रामकुमार जी की प्रदर्शनी थी, सो, वह आये। काफ़ी देर रहे। गगन और मैं दूसरे दिन उनसे मिलने गये। अपने अनुमान में उन्होंने गगन को 'फ्लेम बायंट' (इस शब्द का इस्तेमाल स्वयं अशोक जी ने किया था) मान रखा था, पर, गगन से मुलाकात के बाद उन्हीं के शब्दों में उनका 'भ्रम' टूटा... दोनों में ऐसी जमी मानो वर्षों से एक-दूसरे के आत्मीय रहे हों ... निर्मल से जुड़ी बहुतेरी यादें उन्होंने साझा की....

एक बात और। इस बार अशोक जी के चेहरे की दाढ़ी सफाचट थी। किसी ने कहा, शायद, जुगनू शारदेय ने, जो उनकी हड्डी के फ्रैक्चर की ख़बर पाकर मेरी ही तरह, उनके पास आये थे, ''अशोक जी तो बड़े हैण्डसम लग रहे हैं. ''.. अशोक जी भिड़कते हुए मुस्कराये...

हाँ, निश्चय ही वह हैण्डसम भी थे। .. अशोक जी 'अशोक' जी थे। पर, भला कोई भी व्यक्ति जो अपनी कद-काठी में ही नहीं, हर तरह से 'बड़ा' हो, वह कभी एक-रूप वाला तो होता नहीं है। उन्हें कई रूपों में देखा है। 'कोर' भले एक हो, सो, उन्हें निरक्षरों को पढ़ाते हुए देखा है। घर में वर्षों परिचारिका और भोजन बनाने वाली दुर्गादासी के अस्वस्थय होने पर उसकी 'सेवा' की चिन्ता करते हुए देखा है। बच्चों के साथ खेलते हुए देखा है। किसी की किसी गलती पर डाँटते हुए भी देखा है। चिड़चिड़ाते हुए देखा है। अपनी किसी गलती पर पछताते हुए भी देखा है। सुस्वादु भोजन पर प्रसन्न होते देखा है। किसी शब्द का वास्तविक अर्थ जानने के लिए बेचैनी से शब्द-कोश और सन्दर्भ-ग्रन्थ पलटते हुए देखा है... मित्रों को नेशनल लायब्रेरी से उनकी 'खोयी' हुई चीज़ों की प्रतिलिपियाँ बना कर भेजते हुए देखा है। स्वयं विवाह नहीं किया, पर, कई मित्रों-परिचितों के प्रेम विवाह में आने वाली बाधाओं को दूर करते देखा है. .. मित्रों को लेने छोड़ने के लिए स्टेशन- एयरपोर्ट जाते देखा है। उस ज़माने में जब उन्हीं के साथ ठहरता था, बहुत मना करने पर भी वह हावड़ा स्टेशन मुझे छोड़ने आते ही थे.. उन्हें किसी के किसी काम के लिए घण्टा-आध घण्टा किसी कतार में खड़े हुए भी देखा है। चित्र-संगीत-फ़िल्मी-नाटक को सराहते हुए देखा है। और उस वीतरागी और सौन्दर्य प्रेमी को,उस विलक्षण को, उस सहृदय को... किसी महँगे इत्र-वस्त्र-की बारीकियों में जाते हुए भी देखा है...

ज्ञान की असंख्य शाखाएँ हमारे काम आती हैं... यह उन्हीं से जाना है..., 'दुखवा कासे कहूँ मोर सजनी' नाम की उनकी कहानी बताती है कि खेल की दुनिया की, उसकी राजनीति की, और हॉकी जैसे खेल की बारीकियों की कैसी समझ उन्हें थी...

इस बार की भेंट में भी फिर उन्होंने हिन्दी भाषी समाज में 'शब्दों की कमी' होते जाने पर चिन्ता व्यक्त की। अनुवाद के वक्त किसी मौजूँ शब्द के खोजने और मिल जाने पर होने वाली खुशी की बात की। उनके साथ होने वाली चर्चा, विशेष रूप से कविता पर चर्चा कितनी रसमयी होती थी। जयशंकर प्रसाद की कविताओं का संगीत उन्हें बेहद अच्छा लगता था। वह जब कुछ पीड़ा में थे तो उन्हें बिस्तर के पास खड़े-खड़े ही 'तुमुल कोलाहल कलह में मैं हृदय की बात रे मन' पूरी सुना दी। वह मुझे कंठस्थ है। उन्हें अच्छा लगा। मुझे एक सन्तोष हुआ।

पिता उनके जीवन की धुरी थे। तब भी जब पिता से उन्होंने अपनी दूरी बढ़ायी और तब भी जब पिता की मृत्यु के बाद वह उनके अत्यन्त 'निकट' आये, उनके जीवन-मूल्यों में उतरे। पिता की मृत्यु से पहले के अशोक सेकसरिया और उनकी मृत्यु के बाद के अशोक सेकसरिया मानो एक ही व्यक्ति नहीं रह गये थे। उनकी 'घर' वापसी हुई। कोलकाता छोड़ना उन्हें अच्छा नहीं लगता था। वह कभी विदेश नहीं गये। हाँ, कई विदेशी उनके प्रिय पात्र बने, इमरै बन्धा इन्हीं में से एक हैं। देश-दुनिया की इतनी चीज़ों की जानकारी उन्हें थी कि आप कुछ भी बतायें या तो उससे वे परिचित होते थे या अत्यन्त उत्सुक। पिता और उनसे दूरी और निकटता की कथा इतनी मर्मभरी है कि उसकी बात अभी न कर पाऊँगा। उसके लिए तो कुछ सन्दर्भ चाहिए, कुछ और सूत्र और तथ्य, जो मेरे पास हैं तो कुछ, पर पूरे नहीं। फिर कभी।

जब एम्बुलेंस आ गयी, और उन्हें सर्जरी के लिए ले जाया जा रहा था तो उनके बिस्तर के पीछे दीवार पर सीताराम सेकसरिया का वही पोर्ट्रेट टँगा था सुन्दर, ऑयल कलर में कैनवस पर बनाया गया, जिसकी तारीफ़ मैं उनसे भी कर

चुका था कई बार। फिर की। सौरभ ने सुना। सबने। अशोक जी ने भी। मेरी ओर देखा। इशारा किया कि फिर मिलेंगे। हम सब नीचे उतरे। उन्हें एम्बुलेंस में लिटाया गया । सौरभ और बालेश्वर जी साथ गये। अन्य परिवार जन एक दूसरी गाड़ी में बैठे। सब कुछ ठीक-ठाक जानकर हम निश्चिन्त हुए। खड़े-खड़े अलका सरावगी और मैं कुछ बातें करते रहे। अस्पताल नहीं गये। यही सोचकर कि अभी वहाँ भीड़ बढ़ाकर क्या होगा। अलका जी बोलीं, विजिटिंग आवर्स में शाम को मैं जाऊँगी ही। मुझसे पूछा, कहाँ जाएँगे? मैंने कहा भवानीपुर छोड़ दीजिए। जदू बाबू बाज़ार से कुछ लेना है। उनकी गाड़ी में बैठा। कोई खटका तो था नहीं कि क्या होने वाला है, सो बातें सहज गति से चलती रहीं।

शाम को एयरपोर्ट से बालेश्वर जी और गौरव को फ़ोन किया। मालूम हुआ, सब कुछ ठीक-ठाक है। ऑपरेशन २७ को होगा। मैं दिल्ली की ओर चला। दो दिन तक भी सब ठीक-ठाक है के समाचार मिलते रहे। पर, २६ नवम्बर की रात सब कुछ बदल गया।... अशोक जी चले गये... दो हृदय-आघातों के बाद...

वे अशोक जी जो प्रूफ़ की एक गलती से परेशान हो जाते थे... और चिन्तित थे इस बार भी कि हमारी पत्र-पत्रिकाएँ प्रूफ़ की गलती को इतना 'सहज' क्यों मानने लगी हैं कि किसी को उन पर कोई पछतावा तक नहीं होता।

'कलिकथाः वाया बाईपास' अलका सरावगी और 'आलो आँधारि' बेबी हाल्दार जैसी कृतियों के प्रोत्साहक अशोक जी ने न जाने कितने लोगों को प्रेरित-प्रभावित किया और हमेशा यही चाहते रहे कि लिखने पढ़ने की दुनिया सबकी बड़ी हो...

विनम्र थे, विनम्र भाव से चले गये.. कभी कुछ चाहा नहीं, अपने लिए... पर, सुना कोलकाता के केवड़ातल्ला श्मशान घाट पर उनकी अन्त्येष्टि में ३०० लोग जुटे... सबकी आँखों में जल था... उनके लिए। अब भी उनके परिचितों-मित्रों के फ़ोन, एक-दूसरे को शोक-सान्त्वना से जोड़ रहे हैं और यह सिलसिला बना हुआ है...

कला की अवधारणा

नवज्योति सिंह

रज़ा फाउण्डेशन नयी दिल्ली तथा मध्यप्रदेश जनजातीय संग्रहालय भोपाल द्वारा 'समास-संवाद' के अन्तर्गत भोपाल में कलाविद-दार्शनिक आचार्य नवज्योति सिंह के व्याख्यान आयोजित किये गये थे। समास ने मूर्धन्य विचारकों के विचार प्रस्तुत करने तथा उनसे संवाद करने के आग्रह स्वरूप यह तीन दिवसीय व्याख्यान आयोजित किए। आचार्य नवज्योति सिंह इण्टरनेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ़ इनफॉरमेशन टेक्नालॉजी, हैदराबाद के सेण्टर ऑफ़ एक्ज़ेक्ट ह्यूमेनिटी के स्थपति व अध्यक्ष हैं। भारत की पहली पंक्ति के दार्शनिक नवज्योति ने यूनान व भारतीय परम्परा तथा आधुनिक दृष्टियों पर मौलिक सुदीर्घ विचार किया है। उनका भारत की ज्ञान परम्पराओं पर विशद अध्ययन है और वे उन विरले भारतीय चिन्तकों में हैं जो पश्चिम के विज्ञान का आभार मानते हैं। नवज्योति के चिन्तन में एक सम्यक दृष्टि रही है, उसमें पश्चिम विरुद्ध पूर्व जैसा भाव नहीं है। उन्होंने कलाओं का दार्शनिक आधार खोजने का महत्त्वपूर्ण काम किया है और इस क्रम में कई कलाकारों को पीएच.डी. में शामिल किया। नवज्योति का सारा लेखन अँग्रेज़ी में है, समास के आग्रह पर उन्होंने हिन्दी में व्याख्यान देना स्वीकार किया। भारतीय दृष्टि से भारतीय कलाओं एवं विश्व कलाओं को देखने के समास के उपक्रम में आचार्य नवज्योति सिंह के व्याख्यान प्रस्तुत हैं।

कला की उत्पत्ति

प्रसिद्ध दार्शनिक हीगल का मानना था कि जब तीन सौ बरस पहले यूरोप में रेनेसाँ शुरू हुआ तब कलाओं ने एक करवट बदली, उनमें गहरा बदलाव आया। पहले कलाएँ जीवन से घनिष्टता के साथ जुड़ी रहती थीं, वे जीवन शैली को प्रभावित करती थीं। कलाओं से जीवन का सम्बन्ध सघन होता था। हम जनजातियों की कलाएँ अब भी देखते हैं जिनका जीवन निर्वाह से अनिवार्यतः जुड़ाव है। कलाओं की उस स्थिति में रेनेसाँ से बदलाव आया। हीगल ने ऐसी ही स्थिति के लिए कहा- 'कला का अन्त हो गया है।' हीगल ने ऐसा इसलिए कहा क्योंकि जो कलाएँ जीवन के निर्वाह में लगती रहीं और जीवन को उत्कृष्ट बनाती रहीं, वे अब नहीं रहेंगी। कलाओं का अस्तित्व अब विचारों में खोजना पड़ेगा, जीवन में नहीं। यह बड़ी बात है और यह सब जगह दिखती है। जैसे एक जनजातीय संग्रहालय, जो अब वस्तुओं का संग्रह है, जीवन का नहीं। इसे थोड़ा और अधिक जानने के लिए ख़ासतौर पर युवाओं को हीगल की १८१९-२० में आयी पुस्तक 'डेथ ऑफ़ आर्ट' पढ़नी चाहिए, जिसमें कला की समाप्ति के बारे में विस्तार से विचार किया गया है।

हीगल के बाद बहुत से विचारकों ने सोचा कि कला को दर्शन पर, विचारों पर टिकना चाहिए न कि जीवनशैली पर । नयी जीवनशैली में जिसे आधुनिकता कहा गया, कला विचारों पर टिकी होगी, उसका दार्शनिक आधार होगा। यूरोप में इस आधार की खोज चलती रही। हमारे यहाँ सब कुछ परम्परा के अधीन रहा, बाकी चकाचौंध में चल रहा था। हमारे यहाँ जो आधुनिकता आयी, उसे हम समझ नहीं पा रहे थे। अनेक भारतीय पश्चिम भी गये, यह जानने कि वहाँ क्या हो रहा है। कला का परम्परा में जो उच्च स्थान था, वह अब नहीं रहा। अब कुछ और होना है, क्या होना है ? हीगल ने कहा कि कला का आधार विचारों पर खड़ा करना है 'इंस्टीट्यूट ऑफ़ मेण्टेनिंग इज़ अरली नेसेसिटी एण्ड रीयलिटी इज़ आकुपाइंग इन हायर प्लेस।' एक प्रश्न उठता है कि कोई भौतिक वस्तु और कला में अलग क्या

है, किसे आप भौतिक वस्तु कहेंगे किसे कला कहेंगे। वस्तु और कलाकृति के अलग होने का प्रश्न सचमुच जटिल है। कोई पत्थर है जिससे कोई मूर्ति बनती है, जो अब एक कलाकृति है, उसमें और पत्थर में क्या अन्तर है ? पश्चिम में करीब दो सौ साल इस प्रश्न पर विचार चलता रहा, विश्लेषण होता रहा। बीसवीं सदी में भी कई विचारकों ने इसे हल करने की कोशिश की कि आखिर वस्तु और कलाकृति में अन्तर क्या है? कुछ लोग जो कलाविद हैं या कला को समझने वाले हैं, जिनकी स्वीकृति से कोई वस्तु कलाकृति मानी जाती है और अस्वीकृति से भौतिक वस्तु। ये कलाविद या कलाकार ही कला की दुनिया बनाते हैं तथा दीर्घाएँ, प्रदर्शनी व बाज़ार इनको संगठित करते हैं, इनका प्रबन्धन करते हैं। इसी से 'थ्योरी ऑफ़ आर्ट' बनी जिसे दाँते जैसे विचारक ने प्रतिपादित किया और शायद यह कला स्कूलों में अब भी पढ़ायी जाती हो। अब बहुतों का मानना है कि कला का दार्शनिक औचित्य जीवन से नहीं कर सकते क्योंकि कलाएँ जीवन निर्वाह में सरलता नहीं लाती इसलिए कलाएँ संग्रहालय, दीर्घा, मॉन्यूमेण्ट्स आदि पर आश्रित हैं और इनसे उनका औचित्य निरूपण कैसे करेंगे ? किसी बड़ी आधुनिक जीवनशैली से इनका सम्बन्ध हो सकना चाहिए, पश्चिम में ऐसा मानते हैं कि एक नयी आधुनिक जीवन शैली है जिससे उसका सम्बन्ध है। इटैलियन दार्शनिक वेटीमो मॉल को केथीड्रल मानता है, न्यू चर्च मानता है।

दूसरी ओर बहुत से कलाकारों का मानना है कि दर्शन पर कलाओं की सिद्धि सम्भव है और ऐसा जीवनशैली के माध्यम से हो सकता है क्योंकि ऐसा पहले भी होता आया था। अब जो अवस्था है, उसे- 'डेथ ऑफ़ थ्यौरी ऑफ़ आर्ट' कह सकते हैं। कहा जा सकता है कि कलाएँ प्रतिभावान व्यक्ति अपनी प्रतिभा से सम्भव कर पाता है, उससे अधिक या कम नहीं। उसके पीछे किसी शास्त्रीय आधार का होना ज़रूरी नहीं। अब आधुनिक जीवन शैली से ही कला का आधार देख सकना चाहिए। इन दोनों पक्षों से हटकर कला व दर्शन का सम्बन्ध, समग्रता और कला के बीच का सम्बन्ध स्पष्ट करने के लिए मैंने चार कथाएँ चुनी हैं। पहली दो कथाएँ ऐसी हैं जिनकी पिछले दो सौ वर्षों में पश्चिम में पुनर्संरचना की गयी है। जो पौराणिक-सी कथाएँ होती हैं उनमें बहुत गहरा अर्थ छुपा रहता है। सालों से कहते-कहते वे कथाएँ बहुत गहरी हो जाती हैं, उनमें तात्त्विक अर्थ छुपा रहता है। चित्रकला का आरम्भ कैसे हुआ, पहली कथा इस बारे में है। इसे प्रिलिमी ने लिखा है जो नक्षत्रविज्ञानी एवं इतिहासकार थे, इतिवृत्त लिखते थे। उनकी किताब से यूनान व रोम के शासकों के बारे में पता चलता है। प्रिलिमी दस्तावेज़ीकरण में बड़े दक्ष थे। उन्होंने यह कहानी लिखी- 'ब्यूटाडिश नाम की एक युवती थी। उसका प्रेमी अगले दिन युद्ध के लिए जाने वाला था। वह युद्ध से लौटेगा या नहीं, वह नहीं जानती थी। इस उत्सुकतावश उसने उसी रात एक लैम्प को सामने रखकर मोमबत्ती के प्रकाश में दीवार पर पड़ती अपने प्रेमी की छाया को रेखांकित कर लिया।' रेनेसाँ के दौरान १७०० से १९०० तक ऐसी ही पेण्टिंग्स बनीं, जो बीसवीं-इक्कीसवीं सदी में भी बनती रहीं, जहाँ यह माना गया कि चित्रकला एक छाया को पकड़ने का (रिकॉर्ड करने का) साधन है। रेनेसाँ में रोशनी का बड़ा उपयोग व महत्त्व रहा है। ये कहानी बड़ी मशहूर हुई। चित्रकला में वस्तु को नहीं, वस्तु की छाया को, वस्तु के इम्प्रेशन्स को पकड़ने की कोशिश है। बीसवीं सदी का एक चित्र है, यू.एस.एस.आर. के राष्ट्रपति स्टालिन को विषय बनाकर ब्यूटाडिश उनकी छाया को चित्रित कर रही है। छाया को पकड़ना ही चित्रकला का उद्गम है, उत्पत्ति है। छायाओं का परिष्कार करके शायद अन्य कलाओं की उत्पत्ति भी हो सकती है।

यूनान के मशहूर दार्शनिक अफ़लातून (प्लेटो) ने सिद्धान्त दिया कि जो सच है वह एलीगिरी (विचारों का प्रतीकात्मक प्रस्तुतिकरण) है। हम सब लोग एक गुफा में हैं और उसके बाहर सूरज है। कुछ भाव हैं जिनको विचार कहते हैं। उनकी ही छाया गुफा पर आती है और उसको हम सृष्टि कहते हैं। छाया वस्तु नहीं है। प्लेटो ने सृष्टि को छाया कहा है, सारी सृष्टि एक छाया है विचारों की छाया। जो हमारे विचारों में आता है उनकी भी छाया है। भौतिक वस्तु भी

उनकी छाया है। इसको समझने के लिए एक उदाहरण है- एक गोलक और एक समतल की कल्पना करें। गोलक व समतल एक बिन्दू पर स्पर्श करेंगे, ज्यामितीय दृष्टि से । गोलक का विचार है, समतल का विचार है। दोनों का विचार एक बिन्दू पर स्पर्श कर रहा है। अगर आप गेंद ज़मीन पर रखें तो वह ज़मीन को स्पर्श करेगी, वह कभी एक बिन्दू पर स्पर्श नहीं करेगी। गेंद वह है जो पूर्णतः गोलक जैसी हो जाए, वह सिर्फ छाया है पूर्णतः गोलक की। ज़मीन समतल की छाया है। असलियत गोलक व समतल हैं। छायाएँ अनुकरण करती हैं। जो सचमुच गेंद हैं वे गोलक का अनुकरण करती हैं। वास्तविक ज़मीन यथार्थ का अनुकरण करती है। समतल, गोलक असली यर्थाथ हैं। सूर्य इस वास्तविकता से है। सुन्दरता का, अच्छेपन का, माइक का, तकिए का, ज़मीन का विचार है, उनकी छायाएँ हैं।

ब्यूटाडिश की कहानी को प्लेटो की कल्पना से जोड़कर समझना है। इसमें अलग यह है कि ब्यूटाडिश के लिए भौतिक वस्तु विषय है, जिसकी वह छाया ले रही है, उसका प्रेमी शरीरवान व्यक्ति है, सैद्धान्तिक विचार या छाया नहीं। इसे मॉर्बिड (रुग्ण) कहते हैं, जैसे जानरहित शरीर, मृत शरीर। इसके अन्दर मृत वस्तु आ जाती है । यहाँ कला एक मृत वस्तु की छाया ले रही है, जब वह आऊटलाइन ड्रॉ करेगी, भरेगी उसको। इससे एक घर्षण पैदा होता है। दार्शनिक अरस्तु मॉर्बिड विषयों को मानते थे कि उनकी अपनी सत्ता है, उसे हाइलोमोफ़िज्म कहते हैं। कुछ निर्जीव वस्तुएँ, उनके विन्यास। प्लेटो के विन्यास एकदम स्वतन्त्र थे उनसे प्रेरित होकर प्लेटॉनिक आर्ट हो सकती थी। कहानी में अस्थायी रूप से निर्जीव वस्तु आ गयी, इसलिए छाया बन पाएगी, मतलब चित्रकला छाया की ही सन्तति है। ऐसा माना जा सकता है कि दुनियाभर की पेण्टिंग्स जो जब भी कभी बनीं, किसी छाया की ही सन्तान हैं।

एक दूसरी कहानी नार्सिसस की है। इसका सम्बन्ध कला से है। यह आधुनिक पुनर्संरचना-सी है, यह यूनान की परम्परा से नहीं मिलती। यह बतलाती है कि चित्रकला की उत्पत्ति कैसे हुयी। एक देवता बहुत ही खूबसूरत था, इतना कि उससे खूबसूरत कोई नहीं। उसकी खूबसूरती के पीछे एक राज छुपा हुआ था कि वह तभी तक कायम रहेगी जब तक वह खुद को न देख पाए, अपनी खूबसूरती का रसिक न बन पाए। उसको देखकर सभी रसिक हो जाते थे। एक अप्सरा 'ईको' उसकी खूबसूरती पर मुग्ध हो गयी। आप जो बोलते हैं, वह लौटता है, उसी लौटते हुए बिम्ब को ईको कहते हैं। नार्सिसस को पता नहीं था कि कोई उससे प्रभावित हो पाएगा, खूबसूरती का प्रभाव ही उसे पता नहीं था। उससे प्रेम करने लगी ईको को वह देखता पर ध्यान नहीं देता, वह यह सब समझा ही नहीं। इस दुःख में ईको बिखर-सी गयी। सभी देवता ईको के ऋणी थे, उसकी स्थिति देखकर सब चिन्तित हुए। रिफ़्लेक्शन (प्रतिबिम्बन) की देवी हैं नेमेसिस, कहीं-कहीं कला के उद्गम रूप में भी उनका उल्लेख मिलता है। उन्हें इस बात पर बहुत गुस्सा आया कि बेचारी ईको इतनी खूबसूरत है फिर भी नार्सिसस ने उसका अपमान किया। नेमेसिस ने गुस्से में तय किया कि अहंकारी नार्सिसस को सबक सिखाना पड़ेगा। वह नार्सिसस को झील पर ले गयी। झील के पानी में नार्सिसस ने पहली बार अपना चेहरा देखा, उसे अपनी खूबसूरती दिख गयी और वह स्वयं पर मुग्ध हो गया। श्रापवश, मुग्ध होते ही नार्सिसस की खूबसूरती ध्वंस हो गयी। इस कहानी पर रेनेसाँ से लेकर अब तक कई पेण्टिंग्स बनीं। हिन्दुस्तान में भी यह कहानी है कि झील में जहाँ चेहरा देखा होगा वहाँ नर्गिस का फूल होगा, नर्गिस नार्सिसस से ही आया। आत्मतड़प का प्रतिबिम्बन कला है, इस कहानी से यह अर्थ खुलता है। इसकी आधुनिक पुनर्संरचना है कि तड़प का प्रतिबिम्बन ही कला में होता है। छाया पारम्परिक चित्रकला के लिए उत्तरदायी है और यह तड़प आधुनिक चित्रकला के लिए। इससे चित्रकला को सही तरह समझ सकते हैं।

तीसरी कहानी 'नग्नजीत' की है, यह तिब्बती भाषा में मिलती है। चित्रलक्षण पुस्तक के पहले अध्याय में यह कहानी है, अब इस पुस्तक का हिन्दी, अँग्रेज़ी, संस्कृत, जर्मन अनुवाद मिलता है। यह चित्र की उत्पत्ति की कहानी है जो

भारतीय कथा परम्परा में मिलती है। पृथ्वी पर एक राजा 'भयजीत' हुआ, उसने सभी प्रकार के भयों पर जीत हासिल कर ली थी। उसके राज्य की एक बड़ी विशेषता यह थी कि वहाँ कोई आकस्मिक मृत्यु नहीं होती थी, सभी अपनी आयु पूरी कर मरते थे। यूरोपियन अवधारणा में यह एक आदर्श राज्य की स्थिति है। ऐसा राज्य जहाँ सभी अपनी उचित आयु, न अधिक न कम, पूरी कर ही मरते थे। ऐसे आदर्श राज्य में खुशहाली थी। भयजीत की मन्त्रणा से राज्य बेहतर चल रहा था। एक बार बहुत गुस्से में एक व्यक्ति भयजीत के पास पहुँचा और उसने कहा कि तुम्हारे शासन में कोई खोट है क्योंकि मेरा होनहार युवा पुत्र जिसे अभी बहुत कुछ करना था, अचानक मृत्यु का शिकार हो गया। अचानक मृत्यु अर्थात् राज्यशासन में कुछ नीतिदोष है, एक पिता इसे राजा की जिम्मेवारी मानते हुए शिकायत लेकर भयजीत के पास पहुँचा है। भयजीत ने मन्त्रियों को बुलाकर मन्त्रणा की कि आख़िर क्या खोट हो सकता है मेरे राज्य में। कोई दोष समझ न आने पर भयजीत सीधा यमराज के पास पहुँचा और उनसे कहा कि कोई गलती आपसे हुई है। मुझे मेरे राज्य में कोई खोट समझ नहीं आयी और न ही कोई बता पाया, गलती आपसे ही हुई है, उस युवक को वापस कर दीजिए। मैं क्या सुधार करूँ, मेरे खोट बताइए। यमराज क्या करते, उन्होंने कहा मैं तो नहीं जानता, यह तो नियति है, मैं तो सिर्फ़ क्रियान्वित करता हूँ, मैं नौकर की तरह हूँ, महाकाल के पास जाओ उनसे पूँछो। इसका समय हो गया तो मैं ले आया पृथ्वी से, इसे तुम्हीं समझो। भयजीत ने कहा कि तुम्हीं खोजो, मुझे नहीं पता इसके बारे में, मेरी खोट बताओ या वह युवक वापस करो, तब तक मैं तुम्हारे द्वार पर खड़ा रहूँगा। इस बात पर भयजीत और यमराज में युद्ध हो गया। एक तरफ़ पृथ्वी का राजा भयजीत और दूसरी तरफ़ यमलोक के सभी नग्न सेनानी। वह परलोक है, वहाँ शरीर नहीं होता इसीलिए उसे नग्नलोक भी कहते हैं, वहाँ भूत-प्रेत वगैरह होते हैं। नग्नों की सेना को भयजीत पराजित करता चला गया। यमराज को हारता देख ब्रह्मा-विष्णु-महेश विचलित हो गए और दूसरी तरफ़ यह भी जटिल चुनौती थी कि यदि उस युवक को वापस कर दिया गया तो बड़ी त्रुटि आ जाएगी, पूरी सृष्टि में गड़बड़ हो जाएगा। जब ब्रह्मा वहाँ पहुँचे तब युद्ध विराम हुआ। भयजीत ने ब्रह्मा से कहा कि मैं तो उचित कर रहा हूँ, मेरी गलती बता दें या उस युवक को वापस करें। युद्ध मेरा मकसद नहीं है, यदि गलती हो तो मुझे ले जाएँ अन्यथा उस युवक को वापस दिलाएँ। यमराज ने ब्रह्मा से कहा कि आप ही समझाइए, मृत को वापस नहीं कर सकते, यह नियति है और दुनिया ऐसे ही चलती है। ब्रह्मा ने समाधान निकाला, उन्होंने भयजीत से कहा कि वह वापस पृथ्वी पर दिया जा सकता है पर दूसरे शरीर में, पूर्व शरीर में नहीं। उसके लिए दूसरे शरीर की सृष्टि करना होगी, वह मैं सिखाता हूँ। भयजीत को एक रंगद्रव्य से, कैनवस पर एक शरीर बनाना सिखा दिया। एक खूबसूरत शरीर जिसे विश्वकर्मा ने निर्मित किया उसमें जान डाल दी। इस तरह से पहले चित्र की सृष्टि हुयी। इस कहानी की कल्पना बड़ी अलग-सी व विचित्र है। इस शरीर में जो कि रंगों का, कैनवस का, दीवारों-भौतिक वस्तुओं का शरीर है, जान डाल दी और उसके पिता को सौंप दिया। इस कहानी में जो कि चित्रकला की उत्पत्ति पर है, कुछ गहराइयाँ हैं जिनसे कला के स्वभाव व तत्त्व पर समझ बन सकती है। ब्रह्मा ने नग्नों पर जीत हासिल करने के कारण भयजीत को 'नग्नजीत' नाम दिया जिसका अर्थ हुआ किसी आत्मा को नया शरीर दे सकने वाला। हमें इस कथा से कई तात्त्विक चीज़ें मिलती हैं, परलोक व मृत्यु की कल्पना मिलती है। यहाँ शरीर का अर्थ एक यूटोपिया की कल्पना है। एक शरीर है जो क्रियाएँ सम्भव करता है, एक क्रियाहीन शरीर है और एक तीसरा शरीर भी है जो स्वतन्त्र क्रिया नहीं कर सकता। कलाएँ पुनर्शरीर हैं। पुनर्शरीर स्वतन्त्र क्रियाएँ नहीं कर सकता। कलाकृति भी स्वतन्त्र क्रिया नहीं करती। फ़िल्म व नाटक में इतना प्रयोग होता है पर उसमें स्वतन्त्र है या नहीं इस पर विचार होता है। परलोक में जो नग्न हैं, क्रियाविहीन हैं वे क्रियावानों से-भयविहीन से हार ही जाएँगे। परलोक की चेतना शरीर रहित नग्न है, उनको समझ पाना कठिन है। इन नग्नों पर जिसने जीत हासिल की, वही कलाकार हो सकता है, जिसको भय न हो वही नग्नजीत हो सकता है।

इहलोक तो है, हम स्वेच्छा से यहाँ आए हैं और स्वतन्त्र हैं। परलोक है क्या ? इससे कला के कई तत्त्व खुलते हैं। यह कहा जा सकता है कि किसी की मृत्यु पर शरीर क्रियावान नहीं रहता, बाकी और लोगों के मन में जो मृत व्यक्ति को जानते थे, उसका व्यक्तित्व बना रहता है। पितृ आदि शरीरवान के दो जन्म होते हैं, एक माँ की कोख से और दूसरा मानसिक। मानसिक अर्थात् मन में, मन की योनि में हममें छवियाँ बनती हैं। बच्चा पैदा होने के कुछ बाद द्विज हो जाता है। हमारे यहाँ ऐसी कल्पना आ गयी है कि ऐसे आधुनिक समाज में शरीरवान व्यक्ति भी होंगे जो कभी द्विज नहीं होंगे। माँ की कोख से हर व्यक्ति कर्मेन्द्रियों से युक्त होकर आता है। दूसरे के मन में जो छायाएँ रहती हैं उनसे व्यक्तित्व बनता है। शरीर निष्क्रिय होने पर भी यह बना रहता है। इस तरह कोई मरता नहीं क्योंकि दूसरों के मन में उसकी छवि बनी रहती है। करोड़ों माँ व बच्चे शरीर से निष्क्रिय हो जाने पर भी अपनी छवियों में बचे रहते हैं। इसी तरह मातृत्व भी रहता है, माँ का यह कहना कि ऐसा न करो- वैसा न करो, यह सभी छवियों में बच जाता है।

हमारे ऊपर शरीरवान वस्तुएँ छायाएँ छोड़ती हैं, जैसे एक वस्तु ग्लास हमारे ऊपर छाया छोड़ता है। छायाएँ ही नग्न हैं, शरीर और क्रिया नहीं। हम इन नग्नों से भरे पड़े हैं। जिसे हम स्मृति कहते हैं, वही नग्न है। स्मृतियाँ परलोक हैं, उससे अधिक कुछ नहीं। स्मृति में दुनियाभर की छायाएँ मौजूद रहती हैं, शरीरवान भी और निष्क्रिय भी। यह जो दूसरा जन्म है छायाओं का, छवियों का वह कभी मरता नहीं। छायाएँ तारों की तरह छुपती हैं तथा सामने आती हैं। वे कलाकार होते हैं जो इन्हें निकाल लेते हैं जैसे मंगल पाण्डे को, जो धुँधले पड़ जाते हैं, अनुपस्थित हो जाते हैं, परलोक में ऐसे नग्न लोग रहते हैं।

सलमान रश्दी का एक उद्धरण है- द केरेक्टर हू आर यट टू बी बॉर्न दे लिव ऑन द अदर साइड ऑफ़ सिल्वर स्क्रीन।' (उन चरित्रों का अस्तित्व जो अभी रजतपट पर नहीं जन्मे हैं, रजतपट के नेपथ्य में होता है।)

परलोक स्मृतियाँ है। यदि हम इन स्मृतियों के स्रोत पर विचार करें तो ज्ञान प्रमुखतया दिखायी देगा, अर्थात् आप जो देखते हैं वह स्मृतियों में आ जाता है। जो कुछ भी है वह शरीर को त्यागकर नग्नरूप में स्मृतियों में जाता है। हम जो क्रियाकलाप करते हैं वे भी स्मृति बन जाते हैं। स्मृतियाँ सिर्फ़ व्यक्तिगत ही नहीं रहतीं, वे समूचे समाज-संस्कृति, ब्रह्माण्ड की होती हैं। स्मृतियों का संसार बहुत व्यापक होता है। हम बहुतों को जानते हैं लेकिन यह जानना व्यक्तित्व का जानना होता है, व्यक्तिगत का नहीं। जैसे हम अमिताभ बच्चन को जानते हैं तो उस अमिताभ को नहीं जो साँस लेता है या जिसे पसीना आता है यानि उसके वैयक्तिकपन को हम नहीं जानते। उसे हम पारलौकिक रूप से जानते हैं। हमारी पहचान पारलौकिक है। हम जो भी क्रियाकलाप करते हैं वे सब परलोक सुधारने के लिए करते हैं। बोलचाल में ऐसा कहा भी जाता है कि कोई परलोक सिधार गया मतलब परलोक में सुधार कर गया, अपने परलोक में संशोधन कर गया। जिसने कुछ नहीं किया, कोई बड़ा काम नहीं किया ऐसा व्यक्ति परलोक सुधारने का काम करता है। किसी से आप पूँछे, मसलन किसी बुजुर्ग से कि आपने जीवन में क्या किया तो आपको पता चलेगा कि उन्होंने परलोक सुधारने का काम किया है। हमारी तमाम क्रियाएँ भी परलोक सुधारने के लिए होती हैं। परलोक में ही हमारा कैरियर होता है। हम अच्छा काम करना चाहते हैं कि हम न रहें तो परलोक में तो रहें ही। कलाओं को इस दृष्टि से भी देखने की ज़रूरत है।

यमलोक में एक व्यक्तित्व चित्रगुप्त हैं, छाया उनकी पत्नी हैं। चित्रगुप्त मनुष्य के जीवन का बहीखाता देखते हैं, सभी छोटे-बड़े कामों का मूल्यांकन कर निर्णय लेते हैं कि आपका परलोक में क्या स्थान होगा। इस काम में छाया उनकी मदद करती हैं। हमारी स्मृतियाँ (व्यक्तिगत स्मृति नहीं) और ज्ञानेन्द्रियों के अतिरिक्त अनुभव में आ जाने वाले

जितने तत्त्व हैं, वे सब पारलौकिक हैं। इसके अन्दर आपकी माँ हैं। जब हम टेलीफ़ोन पर किसी से बात करते हैं तब हम लोग पारलौकिक व्यक्ति से बात करते हैं, जिस व्यक्ति को पसीना आ रहा है या जो साँस ले रहा है, उसने आगे और क्रियाएँ कर ली हैं। हम, हमारे अन्दर जिसकी छाया है, उससे बात करते हैं। टेलीफ़ोन डायरेक्टरी परलोक में होती है, वास्तव में तो कुछ और ही व्यक्ति कर रहा होता है। कला के तत्त्वों को समझने के लिए इसको पकड़ना ज़रूरी है। अनुकृति एक कल्प है। कल्प में ज्ञान अनुभव है। अनुभव से ही विकल्प निकलते हैं जो तरह-तरह से आते हैं। तरह-तरह के विकल्प, कल्पनाओं में बदलते हैं, इन्हीं से संकल्प बनते हैं जो क्रियाओं में बदल जाते हैं। क्रियाओं में बदले संकल्प ही अनुभूति हैं, उसी को कला या अनुकृति कहते हैं। यह एक क्रम है जो चलता रहता है। एक पदार्थ है, उसका अनुभव होता है। फिर वह अनुभव कल्पना में बदलता है, कल्पना से संकल्प बनता है। संकल्प से पदार्थ में नया शरीर अर्थात् अनुकृति सम्भव होती है जो कि कला है। यदि कहा जाए कि ऐसी वस्तु ढूँढ के लाओ जो अनुकृति नहीं है तो मुश्किल होगी। ऐसी कौन सी वस्तु हो सकती है जिसमें मनुष्य की छाप न हो, जो मनुष्य की कल्पना से लिपटी न हो, जिसे मनुष्य के संकल्प ने छुआ न हो ? ऐसा कोई बिम्ब हो ही नहीं सकता। यह हो सकता है कि हम उसे जानते न हों, समझते न हों। जैसा कि यहाँ भीमबैठका के बारे में है कि डॉ. वाकणकर ने इसे खोजा। दरअसल स्मृतियों में वह था, उसका प्रकाशन नहीं था। आधुनिक सन्दर्भों में उसकी खोज को हम लोग मानने लगते हैं। स्मृतियों का अनुभव में बिम्बन ही कल्पना है। इच्छाएँ भी बिम्बन हैं स्मृतियों का। कल्पना में हम कुछ निर्णय बनाते हैं जिससे कि एक संकल्प बनता है, यह संकल्प मानसिक प्रयत्न होता है। कर्मेन्द्रियों से कृति के क्रियान्तरण पर अनुकृति बन जाती है।

चौथी कहानी नाट्यशास्त्र से है जिसके रचनाकार भरत हैं। नाट्यशास्त्र के पहले व आख़िरी अध्याय में यह कहानी मिलती है। प्रथम अध्याय में नाट्य की उत्पत्ति का नाटक ही है। यह रोचक है- नाटक का नाटक। यह सतयुग की कथा है। सतयुग में सभी शरीरवान व्यक्ति अपनी-अपनी कृतियों में लगे रहते थे, जो भी उन्हें करना है वह अपनी तपस्या से करते रहते थे। सतयुग के अन्त में एक त्रुटि आ गयी। पहले ऐसा था कि आप जो भी क्रियाकलाप कर रहे हैं या प्रयत्न कर रहे हैं उसके कारण सुख या दुःख का भाव होता था। कभी सुख होता था और कभी दुःख। त्रुटि यह आयी कि एक ऐसी प्रवृत्ति विकसित होने लगी जिसमें सुख की तरफ़ झुकाव हुआ और दुख से भागने की कोशिश हुई। इस प्रवृत्ति से लोगों के जितने भाव थे उनमें भ्रम आ गया। लोग कल्पनाओं में क्रियाकलाप कर रहे थे, ऐसी प्रवृत्ति आने से सब डावाँडोल हो गया। धर्म की पूरी व्यवस्था ही डावाँडोल हो गयी। इस बात पर भरत ने तपस्या की कि ऐसा क्यों हुआ। ऋषि, मुनियों ने ब्रह्मा से कहा ऐसा शास्त्र या विधि बनाओ कि मनुष्य में यदि सुख या दुःख के प्रति पक्षपात रहे, उसके बावजूद धर्म के प्रति उसका झुकाव बना रहे। ऐसा कुछ तन्त्र बनाओ। इसका नाम क्रीड़ातन्त्र पड़ा। ब्रह्मा से देवताओं-ऋषियों ने क्रीड़ा की रचना करने के लिए कहा कि इस सृष्टि में पक्षपात हो गया है, अपनी अलग से एक सृष्टि बनाएँ या हमें अनुसृष्टि बनाने की अनुमति दे दीजिए। ऐसी सृष्टि या अनुसृष्टि, दुनिया या मंच जिस पर हम कुछ भी करें। उसमें सुख या दुख से भागना नहीं होगा । परिणामस्वरूप एक नाट्य, एक क्रीड़ा की कल्पना पर ज़ोर डाला गया। इसके लिए दो-तीन शर्तें भी तय की गयीं। पहली यह कि वह सभी मनुष्यों के लिए उचित हो, सभी वर्णों के लिए हो अर्थात् सर्ववार्णिक हो। दूसरा यह कि जिसमें साधारणीकरण न हो, मतलब वह साधारण हो। ऐसा नहीं होना चाहिए कि उसे कुछ मनुष्य कर पायें, कुछ नहीं कर पायें। नाटक देखते समय सभी बराबर रहें, राजा या रंक चाहे जो भी हो। जैसे आप फ़िल्म देखते हैं तो कोई मुख्यमन्त्री देख रहा होता है और कोई कुछ चुराकर आया हुआ मनुष्य भी हो सकता है, वहाँ सब बराबर हैं, साथ-साथ उठते-बैठते हैं और यदि वह फ़िल्म अच्छी नहीं

लगी तो बाहर आ जाते हैं। एक साधारणीकरण होना चाहिए। वह नाट्य ऐसा हो कि उसमें अनुकृति कर पाएँ, अपनी कल्पना से कृति कर पाएँ।

इसकी रचना के लिए चारों वेदों से कुछ लिया, कहीं से गान कहीं से कुछ। इस तरह नाट्यशास्त्र की रचना हुयी। वह उस समय एक अस्थायी रचना थी क्योंकि बाद में फिर उसके अन्दर तीन-चार संशोधन हुए। ब्रह्मा ने उसे रचकर भरत मुनि को सौंप दिया। तत्पश्चात् देव, दानव और पितृ जो कि तात्त्विक रूप से एक-से हैं और समझदार हैं उन तक प्रयोग हेतु वह नाट्य पहुँचाया गया। ब्रह्मा ने इन्द्र व वरुण आदि से इसके प्रयोग के लिए कहा। इसकी रचना तक तो सब ठीक था लेकिन बात जैसे ही प्रयोग पर आयी तो देवता प्रयोग नहीं कर पाये क्योंकि उनके पास शरीर नहीं था। देवताओं ने कहा कि शरीर नहीं होने पर हम यह क्रीड़ा कर ही नहीं पाएँगे, इसके लिए क्रियावान शरीर चाहिए, हमें शरीर दे दीजिए।

व्यक्ति के प्रेरक अंग नहीं होते, वे सिर्फ़ अभिनेता में होते हैं। अभिनेता अपना व्यक्तित्व दबाकर सरोगेट (स्थानापन्न) शरीर से विभिन्न भूमिकाओं का निर्वाह करते हैं। नाट्यशास्त्र के अन्तिम अध्याय में लिखा है कि यह सब नाटक है, सारी सृष्टि नाटक है।

जब देवताओं ने कह दिया कि इसे हम बगैर शरीर के नहीं कर सकते, तब एक उपाय करना पड़ा। सौ पुत्र, विशेष शरीर बनाए गए जिनमें प्रतिरूपी आत्माएँ प्रविष्ट की गयीं। ऐसा शरीर जो कभी राजा बनेगा, कभी रंक, कभी युवती और कभी बूढ़ी औरत। ऐसा शरीर जो नाटक कर सकेगा। इस क्रीड़ाशास्त्र अर्थात् नाट्यशास्त्र को पंचमवेद कहा गया, पंचबाण भी कहा गया। यह सर्ववार्णिक है किन्तु वह जो कर रहा है वह बाहर है, सामाजिक नहीं है। कलाकार पंचबाण में आता है। नाट्यशास्त्र में कई त्रुटियाँ रह गयीं जैसे कई चरित्रों का कुछ स्थितियों में निर्वाह सम्भव नहीं था। कौशिकीवृत्ति अर्थात् बालों को सँवारना सम्भव नहीं था। और भी सूक्ष्मक्रियाएँ थीं, यह शरीर ऐसा नहीं था जो सब कुछ कर पाए। वास्तव में तो शरीर के अन्दर बाइस (पक्षपात) होता है, जब हम आइने में खुद को देखते हैं तब वह पता चलता है, वहाँ दाएँ का बायाँ हो जाता है। पक्षपात होने से इस क्रीड़ा में साधारणीकरण सम्भव नहीं था। कौशिकीवृत्ति के लिए गणिकाओं की सृष्टि करनी पड़ी।

इन सौ पुत्रों या शरीरों ने पहला नाटक 'त्रिपुरधाम' किया। यह आकाशगंगा के मंच पर हुआ। सारे देवी-देवता इसे देख रहे थे। सब खुश हो गए। थोड़ी देर बाद दानवों को लगा कि यह तो देवताओं का पक्ष ले रहा है। दानव नाराज हो गए। उन्हें लगा कि ब्रह्मा ने सबकी सृष्टि की है, जितने देवता उनके पुत्र हैं, हम भी हैं। फिर ऐसा क्यों कि नाटक में उनके पक्ष में अच्छा-अच्छा बताया जाए। यह तो पक्षपात है। प्रतिक्रियास्वरूप दानवों ने विघ्न डालें। उनका विघ्न डालने का बड़ा ही अच्छा तरीका रहा कि एक्टर की स्मृति स्नेप (अनियोजित) कर दो। अभिनयकर्ता अपनी लाइन ही भूल जाता कि उसे क्या कहना है। फिर सबने कहा कि यह तो ख़राब नाटक है, यह क्रीड़ा तो बेकार है। सब पीछे पड़ गए और जो आक्षेप कलाकार पर आता है वह उन पर आने लगा कि यह क्या किया। ऐसी स्थिति में एक नयी चीज़ की सृष्टि हुयी, वह अभ्यास है। बिना अभ्यास के कला नहीं होती। प्रयोगशास्त्र की शुरुआत हुई, अभ्यास कला के अनिवार्य हिस्से की तरह सामने आया। दरअसल हमारे डीएनए के जींस में तो सब कुछ है नहीं, उसे अभ्यास से ही पाना है। किसी भी कला में जो विघ्न आ सकते हैं, उन्हें छुपाना है, जिसके लिए अभ्यास ज़रूरी है।

दानवों ने नाटक बन्द करा दिया और वे ब्रह्मा के पास पहुँचे। उन्होंने कहा कि यह नाटक देवताओं का पक्ष ले रहा है, हमने ऐसा क्या किया कि आप नाराज हैं। ब्रह्मा ने कहा कि मैंने कोई पक्षपात नहीं किया बल्कि मुझे लग रहा है कि

आप लोगों का साधारणीकरण टूटा कैसे ? असली प्रश्न तो यह है। नाटक तो नाटक है, नाटक की त्रुटि पक्षपात नहीं है, आपका साधारणीकरण कैसे टूटा, इस पर मुझे विचार करना है। इस पर विचार से ही यह हुआ कि अभ्यास होना चाहिए।

विघ्न हटाने के लिए कई क्रियाकलाप ज़रूरी हैं। जैसे चित्र बना रहे हैं और कोई विघ्न आता है, कोई बुलावा ही आ सकता है, उन्हें हटाने के लिए कुछ करना पड़ता है। विघ्न निवारण की व्यवस्था होना चाहिए शास्त्र में। इस तरह अनुकृति के पूरा होने में ये सब चीज़ें लगती हैं। अनुकृति का मतलब यहाँ ऐसी क्रीड़ा से है जो सर्ववार्णिक है, साधारणीकरण है जिसमें। उस क्रीड़ा में ही अनुकृति सम्भव है।

चौथी कहानी तीसरी कहानी से मिलती है, बल्कि जुड़ ही जाती है क्योंकि तीसरी कहानी में परलोक की कल्पना है। परलोक की कल्पना यूनान में भी थी। नरक होता है। यूरोप में भी परलोक की कल्पना है । उसमें होता यह है कि जैसे कोई नग्न भौतिक जगत में उतर आया है। रेनेसाँ के साहित्य में, कविता में एक कल्पना थी कि अगर आप नरक में चले जाओ और वापस आ जाओ तो आप उत्कर्ष गति में हो जाते हैं और कभी-कभी नरक के लोग भी आ जाते हैं, ड्रेकूला की तरह।

लोक-परलोक के बीच का व्यापार कला को समझने के लिए बहुत ही प्रामाणिक है। किसी व्यक्ति की मृत्यु होती है तब दूसरे व्यक्ति में उसका व्यक्तित्व बन जाता है, उसके जीवन की छवि बन जाती है। उसका व्यक्तित्व मरता नहीं, स्थिर हो जाता है। आश्चर्य की बात है कि यह बात सिर्फ़ हिन्दुस्तानियों और चीनियों को ही अच्छी लगती है, दुनिया में सबको ठीक नहीं लगती। हमें लगता है कि ठीक है व्यक्ति मर गया, उसकी छवि रह गयी पर यह बात सारी संस्कृतियों को ठीक नहीं लगती। आधुनिक संस्कृतियों को भी ठीक नहीं लगती। इससे कलाओं पर बड़ा असर पड़ता है कि कलाएँ क्या हैं ? कलाओं का मनुष्य में तात्त्विक रूप से क्या स्थान है? क्या कार्य है उनका? ऐसा व्यापार कि कोई व्यक्तित्व मतलब परलोक का व्यक्ति वापस आता है तो वह दूसरे शरीर में आएगा और एक से कार्य नहीं करेगा। पैदा होने से लेकर अन्त तक एक ही व्यक्ति पल-पल बदलता रहता है, समय बदलता रहता है। आदमी तो एक क्या है, वह जो एक है उसमें वह दो अलग चीज़ें हैं। यह शरीर है, एक परलोक में भी है, एक इहलोक में भी है। इनके व्यापार से सारी कृति-अनुकृति चलती है। प्रयोग के लिए विचार करें, अगर कोई एक शरीर परलोक में घुस गया, वहाँ दहशत हो जाएगी। शरीर तो उनको चाहिए, शरीर ही नहीं है। जितना देवलोक है वह तो प्रेरणा है, किसको प्रेरित करें, ये ढूँढते रहते हैं। जो व्यक्ति है, वह प्रेरित करता है, जैसे बिल गेट्स है, वह कुछ लोगों को प्रेरित करता है। तो ऐसा व्यक्तित्व बनाया उसने कि प्रेरित कर पाए। प्रेरित करना एक बात है, दूसरा यह कि वह शरीर वापस लौट आए वहाँ से कुछ खोज लेकर, कुछ तरकीब लेकर । ऐसी आधुनिक कथाएँ मिल जाएँगी। ऐसी कल्पनाएँ चीन, भारत, अफ्रीका में नहीं मिलेंगी। इससे बड़ा संकर ब्रह्माण्ड हो सकता है, अगर यह हो पाए तो। कला का काम मोर्बिडिटी या प्रथाओं की संकीर्णता से बचना है। कला वास्तव में मोर्बिडिटी की शत्रु है। कला, मोर्बिडिटी से उठने को कहते हैं, उससे अभ्युदय को कहते हैं।

कला का स्वरूप

कला की उत्पत्ति को लेकर मैंने जो चार कथाएँ रखीं - ब्यूटाडिश की कथा, नार्सिसस की कथा, नग्नजीत की कथा एवं नाट्यशास्त्र की नाटक की उत्पत्ति को लेकर कथा, इन कथाओं के अन्दर कुछ तत्त्व नज़र आते हैं जिनसे कला के स्वभाव व स्वरूप की समझ बन सकती है। विशेषकर तीसरी नग्नजीत की कथा से । नग्नों का शरीरीकरण, जिसकी

मृत्यु हो गयी थी उसे नया शरीर देना, वैसा ही है जैसे कैनवस, रंग आदि कला सामग्री से चित्र बनता है। कथा में जिसे नग्न कहा गया है, वह क्या है? नग्नीकरण की प्रक्रिया व शरीरीकरण की प्रक्रिया पर विचार करते हैं तो हम पाते हैं कि दोनों के बीच कल्पना है। जब हम किसी वस्तु का प्रत्यक्ष करते हैं तो अनेक वस्तुएँ आती हैं, ज्ञानेन्द्रियों से अनेक वस्तुओं की प्रतीती होती है। जब किसी वस्तु का प्रत्यक्ष होता है तब हमारे मष्तिष्क में वस्तु जहाँ है वहीं बनी रहती है, इसी प्रकार की वस्तु हमारे अनुभव में आ जाती है। जैसा है वैसा दिखता है हम लोगों को लेकिन उसके अंग उपांग बिम्बन में नहीं होते। वस्तु बिम्ब से भिन्न हैं अनुभव। प्रत्यक्ष भौतिक वस्तु और बिम्बित वस्तु दोनों अलग हैं। उनकी निर्मिति और अवयव अलग हैं। इस सम्बन्ध में दो तरह के विचार मिलते हैं, एक के अनुसार अनुभव में बिम्बित हो रही वस्तु असली प्रत्यक्ष वस्तु से कम है।

दूसरे विचार के अनुसार बिम्बित वस्तु असली वस्तु से कम नहीं है, उसमें सारी संरचना आ जाती है, सारी सच्चाईयाँ आ जाती हैं, उसका क्षरण नहीं होता, लेकिन अनुभव भौतिक से भिन्न है । अनुभव एक किस्म का अस्तित्व है लेकिन भौतिक से भिन्न । हम भौतिक वस्तु न देखें, अनुभव न हो तो भी वस्तु बनी रहती है। चूँकि हमारे अनुभव में वस्तु की प्रतीती वस्तु से भिन्न है, जब यह प्रतीती समृति में आ जाती है तो उस प्रतीती की जो विविधता है वही स्मृति में आ जाती है, इसलिए कम होकर आती है। एक दूरी बन जाती है। इसी दूरी से बहुतों का मानना है कि वस्तु की सच्चाई कम होती है, इसलिए बहुत से विचारक स्मृति को प्रमाण नहीं मानते । उसके बाद जब स्मृति से वापस अनुभव में आती है तो उस अनुभव में कल्पना का तत्त्व आ जाता है। काल्पनिक तत्त्व एक और नयी दूरी बना देता है। प्रत्यक्ष वस्तु से अनुभव में आने पर दूरी बनती है, अनुभव में स्मृति के आने पर दूरी बनती है, स्मृति से कल्पना में दूरी बनती है। इस कल्पना के संकल्प से जो कृति बनी उसमें सच क्या है यह प्रश्न कला के विचारकों के समक्ष रहा है। कल्पना को नया शरीर देने पर कलाकृति बनती है, कलाकृति से जो अभिव्यक्त है उसमें सच्चाईयाँ क्या हैं? वस्तु की जड़ता से अलग हटने की प्रक्रिया ही नग्नीकरण की प्रक्रिया है। वस्तु के शरीर को छोड़कर अनुभव में प्रतीती बनती है। उस प्रतीती को छोड़कर स्मृति बनती है। स्मृति को छोड़कर कल्पना बनती है और कल्पना छोड़कर कोई कलाकृति रूपायित होती है।

नग्नीकरण कपड़े उतारने जैसी प्रक्रिया है, वस्तु की जड़ता को हटाने की प्रक्रिया है। स्मृति में जड़ता न हो, कम से कम हो, इसीलिए कल्पना सम्भव हो सकती है। नहीं तो वही वस्तु दोबारा आ जाएगी । इस प्रक्रिया में उस वस्तु से हटकर नयी काल्पनिक वस्तु आ जाती है। इसको मैंने 'एम्पटी ऑफ़ ऑब्जेक्ट' कहा है अर्थात् वस्तु को खाली कर देना । खाली करके कुछ लोग उसे भाव भी कह सकते हैं। स्मृति के अन्दर दो रास्तों से सामग्री आती है। नग्न दो रास्तों से बनते हैं। एक रास्ता है अनुभव होना, अनुभव से स्मृति बन जाती है। दूसरा रास्ता है क्रिया होना, क्रियाएँ होने से भी स्मृति बन जाती है। इन स्मृतियों में वस्तुओं के एक किस्म के तन्तु होते हैं, उनको लेकर कल्पना में बुनाई कर सकते हैं। स्मृति ऐसे तन्तुओं का सागर है। उसको लेकर हम नयी तरह की वस्तुओं की रचना करते हैं, जैसे नग्नजीत की कहानी में बना युवक, स्मृति में जो भी उसके व्यक्तित्व के तत्त्व रहे हैं, वह उनके संग्रह से बना है। उस युवक ने जो क्रियाएँ की, उसके पिता व अन्यों की स्मृति में उसका जो नग्नरूप बना, उसी से वह बन सका । वह एक ही व्यक्ति रहा है, उसकी क्रियाओं से बने नग्न रूपों का एक स्कन्ध-सा बन जाता है, जिसे हम व्यक्तित्व कहते हैं और वही स्मृति में दर्ज रहता है। स्मृति में कई सारी अभौतिक वस्तुएँ बन जाती हैं। जैसे कई तरह के चरित्र और हम लोग जो भूमिका निभाते हैं जीवन में, वे सब जैसे पिता-पुत्र आदि अलग-अलग अवस्थाओं में। इसी तरह सम्बन्ध भी भौतिक वस्तु नहीं है जैसे माँ और बच्चे के बीच का सम्बन्ध, जिसमें माँ जो करती है बच्चा उसका ऋणी हो जाता है।

ऐसी क्रियाएँ जिनसे ऋण चढ़ता है। ये ऋण भी एक तरह से नग्न रूप हैं। उनका संग्रह सम्बन्ध बन जाता है। ऐसे ही अनेक चीज़ें बन जाती हैं। जैसे हमारी भाषा और जगहें। जगहों में मौजूद भौतिक वस्तुएँ उनके हिस्से हैं। उदाहरण के लिए किसी जगह में जैसे मौजूद वस्तुएँ उसका हिस्सा होती हैं, वैसे ही वह जगह किसी शहर का हिस्सा होती है और वह शहर, देश का हिस्सा होता है। देश, पृथ्वी का हिस्सा और पृथ्वी ब्रह्माण्ड का। इनके बीच के अव्यय-अव्ययी भाव भी अलग हैं। वस्तुएँ जो कि स्मृति से बनती हैं, इनमें अव्यय-अव्ययीभाव सम्बन्ध होता है। संस्कार और संस्कृतियाँ भी ऐसी ही हैं, स्मृति में जो नग्न हैं और हमारे अनुभव में आते रहते हैं, उन्हीं के प्रारूपण हैं। अभी जो कुछ भी हो रहा है, वह अनुभव में आ जाएगा। इस सबकी स्मृति में एक प्रक्रिया है जिससे अभौतिक वस्तुएँ बन जाती हैं। नग्नीकरण से कई वस्तुओं का विधान होता है। ये वस्तुएँ ऐसी हैं कि इनके अन्दर स्पष्टता है (हर हिस्से में एक घन है, बारीकी से देखने पर और भी घन मिलेगा)। हर व्यक्ति स्पष्ट है, समूह में कोई स्पष्टता नहीं है इसलिए हम विश्लेषण इत्यादि कर लेते हैं। वस्तुओं में जड़ता नहीं होती । कल्पना में जब ये जाती हैं, तरह-तरह की कल्पना बन जातीं हैं। नाट्यशास्त्र में दो तरह की कल्पनाएँ मिलती हैं, एक दृश्य और एक श्रृव्य। इन दोनों के मिश्रण को आन्तरिक संवाद कहते हैं। अन्दर बात करना एक किस्म की कल्पना है। जब अन्दर बातें चलती रहती हैं, कोई दुखद या अहितकारी घटना हो तो श्रृव्य कल्पना होती रहती है, दृश्य भी होती रहती है। आपका कहीं तय जगह पर जाना एक दृश्य कल्पना है कि आप शरीर को ढोकर ले जाते हैं। नग्न वस्तुएँ ही कल्पना के रूप में आती हैं फिर उससे ही शरीर पर चेष्टा रूपी व्यापार होता है, जिसे शरीरीकरण कहते हैं। तन्तु जो कि क्रियांशों व अनुभवांशों से बनते हैं, उन्हीं से जाने क्या-क्या , किस-किस तरह की वस्तुएँ बन जाती हैं। उनकी प्रक्रियाएँ बनती हैं। जैसे एक आदमी की क्रियाओं को इकट्ठा करके उसका व्यक्तित्व बन जाता है वैसे ही उसके अन्दर की विशिष्टताओं को अलग कर व्यक्तित्व बना सकते हैं, काल्पनिक व्यक्तित्व, ऐतिहासिक नहीं। शरीरीकरण की प्रक्रिया अर्थात कल्पना को किसी शरीर में बाँधना, वैसे ही है जैसे स्मृति की प्रक्रियाएँ हैं।

अनुभव का नग्नीकरण ही स्मृति है। नग्नों की स्वेच्छिक अनुभूति कल्पना है। कल्पना का शरीरीकरण ही कला है। इसमें थोड़ी सी अतिव्याप्ति है कि कला के अतिरिक्त और भी क्रियाकलाप हैं जो इसमें बँट जाते हैं। कला का अर्थ है कल्पना को एक शरीर प्रदान करना । हम शारीरिक भेद देखकर कलाओं के भेद निकाल सकते हैं। इसे समझने से पहले यह स्पष्ट रहना चाहिए कि हर व्यक्ति में, हर शरीर में एक अनुभव किसी तरह गठा हुआ है, ऐसे कि मान लो हम उठकर जाते हैं तो हमारा अनुभव भी उठकर साथ-साथ जाता है, ऐसा नहीं कि वह छूट जाए। यह जो गठन है अनुभव का, यह बड़ा ही विचित्र है। इसकी कुछ विशेषतताएँ हैं, उनमें एक यह कि जो मुझे अनुभव हो रहा है वह किसी और को अनुभव नहीं हो सकता । मैं अनुमान लगा सकता हूँ, किसी और व्यक्ति का क्या अनुभव चल रहा है। पर जिस तरह मैं अपना अनुभव देख सकता हूँ साक्षी भाव से, उस तरह मैं दूसरे व्यक्ति का अनुभव नहीं देख सकता, चाहे जो कुछ भी कर लूँ। वह अनुभव एक परिमिति से बँधा हुआ है, ऐसी सीमा में बँधा हुआ है कि उसे कोई दूसरा व्यक्ति नहीं देख सकता। देखने का अर्थ है साक्षित्व, मैं देख पाऊँ कि मैं अनुभव कर रहा हूँ, यह साक्षित्व दायरे में बँधा हुआ है। एक अच्छा वाक्यांश है जिसे पश्चिम के दार्शनिक लाईब्नीज़ ने प्रयोग किया - विण्डोलेस मोनार्क, एक ऐसा तत्त्व जिसमें कोई खिड़की नहीं है, कोई भी चीज़ अन्दर नहीं जाती, न कुछ बाहर आता है। लीक नहीं करता वह हमारा अनुभव, हमारे पास ही है और वह एक परिमिति में बन्द है। अनुभव का कथ्य हम बिल्कुल दूसरों से बाँटते हैं। भाषा के माध्यम से तथा और भी कलाकृतियों से हम व्यक्त कर देते हैं, जिसे दूसरा आदमी भी समझ सकता है, पर अपना साक्षीत्व एक परिधि में बँधा हुआ है। यह बड़ी कठोर-सी परिधि है, इस सिद्धान्त का अतिक्रमण करने से मनुष्यत्व नष्ट हो जायेगा। इस कठोर परिधि के अन्दर ही प्रत्यक्षत्व है, कल्पनाएँ हैं, नए संकल्प हैं। इसी

अनुभव से तरह-तरह के विकल्प बनते हैं। अब यदि अनुभव का मैं ही साक्षी रहूँ, कोई और नहीं, यह एक विचित्र परिस्थिति बन गयी । मतलब मैं ही दृष्टा और दृश्य निर्मित करने वाली चीज़ें भी मेरे ही अन्दर, मेरे ही अनुभव में । इस परिस्थिति को कैसे तोड़ा जाए। तोड़ने का अर्थ है कि मेरे अन्दर जो अनुसृष्टि है, अनुभव में चल रही है, उस अनसृष्टि को किसी और को कैसे दिखाया जाए । कला इसी स्थिति में पैदा होती है। इस स्थिति में कला का उत्पन्न होना शरीरीकरण की प्रक्रिया है। यह मष्तिष्क और अनुभव का एक कठोर अन्तः क्षेत्र है, इसके अन्दर एक मजबूत व अद्वितीय किस्म का साक्षी भाव पा सकते हैं। यह बिल्कुल पृथक है। इसके अन्दर सारी दुनिया व क्रियाकलाप स्मृतियों के सहारे आते रहते हैं हमारे अनुभव में। यह बहुत ही कठोर परिधि में बँधा है, इसे कोई नहीं देख सकता । अगर मुझमें इच्छा है कि बाकी लोग इस स्थिति को देख पाएँ, उसी को कला कहते हैं। अर्थात् नग्नों का शरीरीकरण कला है। उन नग्नों से कल्पना इत्यादि की प्रतीती बाकी लोगों में हो सके।

यह स्थिति क्या हो सकती है जिसे हम शरीरीकरण कहते हैं। एक तरीका इसका हो सकता है जो मनुष्यों व पशुओं के पास है, कृत्रिम अन्तः क्षेत्र बनाना, कृत्रिम परिधियाँ बनाना। जैसे कोई चित्र कहीं है, यह चित्र वहीं हैं, कहीं और नहीं। यह एक परिधि के अन्दर बँधा हुआ है, उस परिधि के बाहर नहीं है। इस चित्र का जो बँधा होना है, जैसे हम कहते हैं कि फ्रेम में पेण्टिंग्स बँधी रहती हैं, हालाँकि आजकल फ्रेम के बाहर भी पेण्टिंग्स आती हैं, वह बँधा होना अवधारणात्मक है। उस परिधि के बाहर वह पेण्टिंग नहीं है। कोई चित्र या कलाकृति हर जगह फैली हुयी है क्योंकि वस्तुओं पर उसका शरीर टिका है, उस आकृति का। वह शरीर तो देश और काल में फैला हुआ है क्योंकि हर भौतिक वस्तु देश काल में फैली हुयी है। उसकी कोई सीमा नहीं होती, वह हर जगह खुली रहती है। पर यह जो पेण्टिंग है यह किसी शरीर में बँधी हुयी है, वह शरीर से बाहर कुछ और है। ऐसी कौन-सी भौतिक अवस्थाएँ हो सकती हैं जिसमें यह एक परिधि उपलब्ध हो पाए, उस परिधि के अन्दर या उस सीमा के अन्दर तरह-तरह की कल्पनाएँ बैठ जाएँ। जैसे हमारे अनुभव में एक सीमा है साक्षित्व की, उस सीमा के अन्दर ही अनुसृष्टि चलती रहती है। ऐसे ही कोई भौतिक वस्तु, जो सीमा में बँधी हो, जो कि हो नहीं सकता क्योंकि भौतिक वस्तुओं की कोई सीमा नहीं होती, सीमा में बँधा होना एक महत्त्वपूर्ण अवस्था है। अगर कोई सीमा में बँधी हो जैसे हमने कोई कल्पना भौतिक वस्तु पर चढ़ा दी। कोई कलाकृति है, उसके ऊपर भौतिक वस्तु है, उस सीमा के अन्दर कोई कल्पना को अंकित कर दिया, तब कोई दूसरा व्यक्ति भी उस कल्पना को देख पाता है। हमारी कल्पना किसी और व्यक्ति को दिखाना हो तो एक ऐसी ही परिधि में बँधी हुयी भौतिक वस्तु की आवश्यकता है। यह परिधि बड़ी विचित्र चीज़ है, यह वैसी ही बँधी हुयी है जैसा हम लोगों का अनुभव बँधा हुआ है। ऐसी कौन सी शारीरिक अवस्थाएँ हैं जिसमें परिधि बाँधी जा सके और उसमें कल्पना को बैठाया जा सके जिससे वे अनेक अनुभव कल्पना के हो पाएँ अर्थात मैं अपनी कल्पना को निजी कल्पना के बजाए सार्वजनिक कल्पना बना सकूँ। जो कल्पना में सक्षम व्यक्ति हैं, साक्षीभाव है जिनमें, वे उसको देख पाएँगे। इसके प्रकारों का विश्लेषण करने से परिधि का विचार ज्यादा स्पष्ट होगा।

जिसे मैं परिधि कह रहा हूँ वह साधारणीकरण की एक अवस्था है। सब लोग एक-सा अनुभव करें, ऐसी स्थिति को साधारणीकरण कहते हैं। जैसे फ़िल्म देख रहे हैं तो सब लोग एक वही देख रहे हैं। आपकी जो भी मानसिकता हो, जो भी जिम्मेदारियाँ हों, वह सब छोड़कर आप साधारण व्यक्ति हो जाते हैं। यह परिस्थिति साधारणीकरण की अवस्था है कि यहाँ पर कुछ चित्र हैं, सब लोग यही चित्र देख पाएँ और कुछ नहीं।

यह साधारणीकरण का एक अन्तःक्षेत्र है जो उस वस्तु को देख पाए। वस्तु, मिट्टी, सीमेण्ट या भौतिक रंगों से बनी है। इस भौतिक वस्तु के अन्दर एक कल्पना अंकित है और वह इस तरह अंकित है कि वह हर व्यक्ति के लिए है।

सारी कलाएँ अलग-अलग तरह से भौतिक वस्तु बनी रहती हैं। कोई कला ऐसी नहीं है जो कि भौतिक वस्तु न हो। ऐसी कला सम्भव नहीं क्योंकि कला का अर्थ है कल्पनाओं को सार्वजनिक बनाना ताकि सब जन देख पायें। परिधियाँ और उनसे स्फुरित चीज़ें हर कला में दिखेंगी। परिधि में यह शक्ति है कि सार्वजनिक रूप से कुछ स्फुरण हो, विस्फोट हो। भौतिक वस्तुओं के व्यवहार को समझने के लिए देशकाल की कल्पनाएँ हैं पर कलाकृति का जो व्यवहार है अर्थात कला के अर्थ क्या हैं, उनमें जो कल्पनाएँ अंकित हैं वे क्या हैं, यह समझने के लिए काल और दिक् की अलग समझ होना चाहिए। यह कहा जा सकता है कि देश या दिक् एक ऐसी चीज़ होती है कि यदि दो स्थान लें तो उनके बीच कोई स्थान होता है, किन्हीं भी दो स्थानों के बीच स्थान। वह बहुत घनात्मक होती है इतनी कि उसमें कोई गड्ढा नहीं होता, आप उसमें स्थान से बाहर गिर नहीं सकते। दिशाएँ भरी रहती हैं और सारी भौतिक वस्तुएँ उन पर चलती रहती हैं क्योंकि हर दो स्थानों के बीच में एक स्थान मिलता जाएगा। कल्पना में जो आकाश है उसमें किन्हीं दो स्थानों के बीच कोई स्थान हो, ऐसा ज़रूरी नहीं। कल्पना में भी आकाश है, ऐसा इसलिए कह सकते हैं क्योंकि उसमें भी दिशाएँ होती हैं ऊपर, नीचे, आगे, पीछे। ऐसी दिशाएँ सिर्फ़ आकाश में होती हैं। यह एक किस्म की विशेषता है कि कल्पना के किन्हीं दो स्थानों के बीच, कोई स्थान हो, ऐसा ज़रूरी नहीं। इसको हम विविक्त विस्तार कहते हैं। कल्पना में जो भौतिक जगत है वह निरन्तर आकाश है, मतलब दो जगहों के बीच जगह होने की निरन्तरता। कोई भी गड्ढा नहीं। कल्पना का जो भी आकाश है वह विविक्त है। उसके जो भी अंश होंगे, वह अंश के अंश होंगे ऐसा ज़रूरी नहीं। उनमें पृथकत्व है। भौतिक जगत में जो आकाश है उसमें ऐसा नहीं रहता।

कला, परिधि में बँधा हुआ कल्पना का एक पिण्ड है, इसे समझने के लिए देश और काल की एक समझ होना चाहिए ताकि कलाओं के प्रकार भी समझे जा सकें। भौतिक वस्तु में जो काल्पनिक तत्त्व अंकित है, वह विविक्त है मगर भौतिक वस्तु में वह विविक्त नहीं है। हमारे शरीर में जो व्यवहार चलता है अणुओं का, कणों का यह निरन्तर आकाश में चल रहा है। हमारे अनुभव एक के बाद एक होते हैं। मतलब पहले मैंने सोचा, बाद में दुख हुआ। फिर लोग इस तरह व्याख्या करते हैं हमारे अनुभव की, पहले और बाद की स्थिति बनाकर। एक क्षण के बाद दूसरा क्षण हो रहा है, दोनों के बीच में क्षण नहीं है। एक किस्म का यह विभक्त काल है। ऐसे ही हमारी कल्पना में विभक्त देश है। यह काल और देश में विभक्त काल और विभक्त देश कैसे फँस गया ? वह किस खाँचे में आकर बैठ गया। इसको कलाकृति या अनुकृति कैसे कह दिया। यह तो भौतिक वस्तु है, सभी कलाकृति भौतिक वस्तु हैं। इसमें किस किस्म का देश-काल विभक्त हो गया? इस व्यवस्था के प्रकार देखकर हम कला के प्रकार निकाल सकते हैं। कला के प्रकार का अर्थ चित्रकला, मूर्तिकला, स्थापत्यकला, संगीत, नृत्य, नाटक से है। यह सब अलग हैं। कलाओं के प्रकार हज़ारों हैं। यह कुछ मोटे प्रकार हैं जिनमें व्यक्ति लगे रहते हैं। इनमें अभिव्यक्ति ज़्यादा दिखती है। अलग-अलग काल में अलग-अलग समाजों में अलग-अलग कलाओं का विधान चलता है। हम देश और काल को लेकर कलाओं को समझ सकते हैं। काल, क्रम में है अर्थात् दो क्षणों के बीच में क्षण का न होना, दो वस्तुओं के बीच में वस्तु का न होना। यह योगात्मक है, यह आगे-आगे चलता है लेकिन भौतिक नियमों में आगे पीछे चलना बराबर रहता है, ख़ास असर नहीं पड़ता। दो विभाग किए जा सकते हैं। एक, किसी भौतिक वस्तु में ऐसी विभक्ति-ऐसे स्फुरण जिसमें कि सारे अंश एक ही क्षण में उपलब्ध हों और दूसरा ऐसी परिधि कि जिसमें सारे अंश एक समय में उपलब्ध न हों, वे समय में बिखरे हों। इस तरह से मोटे तौर पर दो तरह की कलाएँ हो गयीं। एक कला जिसको मैं समकालिक कहता हूँ, एक ही समय में, जैसे चित्रकला है, सारे अंश एक ही समय में उपलब्ध हैं। पर संगीत में सारे अंश एक ही समय में उपलब्ध नहीं हैं, वह कालिक है पर बाद में वह स्थायीभाव बन जाए, यह बाद की बात है, उसके जो अंश हैं वे बिखरे हुए हैं बाकी काल में। ऐसी विभक्त परिधियाँ दो तरह की हो गयीं, एक जिसके अंश काल में फैले हुए है और दूसरी जिसके अंश

आकाश मैं फैले हुए हैं, विविक्त आकाश में। उन अंशों के पीछे अर्थ इत्यादि या जो कल्पना दिख रही है उसमें काल-काल है। ऐसा नहीं है कि कोई भी कलाकृति ऐसी हो जिसमें देश हो, काल न हो और काल हो, देश न हो। जैसे संगीत में अंश तो काल में फैले हुए हैं पर वे दैशिक इसलिए हैं क्योंकि उससे स्थायीभाव बनता है। स्थायीभाव, जैसे एक ही क्षण में उस भाव के सारे अंश उपलब्ध हो जाते हैं। हरेक कलाकृति में एक बाहर व एक अन्दर है। बाहर से अगर वह देशक है तो अन्दर से कालिक होगी और यदि बाहर से कालिक हो तो अन्दर से देशक होगी। चित्रकला, मूर्तिकला, भवनकला, खिलौनों की कला से हम इसे समझ सकते हैं। खिलौना आपको पूरी तरह उपलब्ध है, उसे लेकर आप काल में क्रीड़ा कर सकते हैं। जैसे गुड्डे-गुड़िया खेलना या छोटी-सी मोटर चलाना, वह आपको एक काल में उपलब्ध है। अगर हम तरह-तरह की कला के बारे में सोचेंगे तो देश, काल के काफी प्रारूपण बनते हैं। वे ही प्रारूपण ठीक हैं, कलाओं के प्रकार उनसे निकल आयेंगे। जैसे सभी अंशों के एक साथ उपलब्ध होने से कई प्रकार एक तरफ़ हो जाते हैं, दूसरी ओर कालिक व दैशिक कलाएँ बन जाती हैं। कालिक कलाओं के अन्दर एक और परिधि आती है उसको भी विवक्त कह सकते हैं। कालिक कलाएँ घटनाओं पर आधारित हैं, उनमें घटनाएँ होती हैं जैसे संगीत, फ़िल्म या खेल कूद, नाटक व नृत्य में भी घटनाएँ होती हैं। इनमें घटनाओं का ही एक किस्म का प्रारूपण होता है। दैशिक कलाएँ प्रतिरूप से अर्थात् अर्थों के सक्न्ध से बनती हैं। दैशिक कलाओं के जो तत्त्व हैं, वे अर्थों की ग्रन्थियाँ होती हैं। और वह देश में बँधी हुई रहती हैं। काल में जो अर्थों की ग्रन्थियाँ होती हैं उनको घटना कहते है। यह घटनाएँ और प्रतिरूप, विवक्त हैं। चित्रकला में बहुत सारे प्रतिरूप हैं, कल्पना के तत्त्व हैं और प्रतिरूपों के पीछे घटनाएँ इंगित हो जाती हैं। किसी चित्र के भीतर बड़ी घटनाएँ भी दिख सकती हैं। चित्र के अन्दर काल रहता है और पीछे चलती हुई वस्तुएँ होती हैं, चलते हुए अर्थ- बिखरे हुए अर्थ रहते हैं काल में। हर अर्थ के पीछे एक स्थायी अर्थ रहता है। एक-एक कला को पढ़कर उसमें देशकाल का क्या प्रारूपण है, यह समझा जा सकता है। जैसे चित्रकला एक ऐसी परिधि है जिसमें जो कल्पना स्फुरित हुयी है उसका आकाश अन्दर की तरफ़ है। और जो मूर्ति बनी है उसका आकाश बाहर की तरफ़ है, मतलब किस चीज़ से मूर्ति बनी है, किसकी मूर्ति है, यह अप्रासांगिक है। जब हम मूर्ति बनाते हैं, तो वह जो बाहर है, उसको पाने की कोशिश करते हैं। उसके पत्थर को नहीं उसके परिवेश को आकार देते हैं। मूर्ति का देश बाहर निकल रहा होता है और चित्र का देश अन्दर बँधा होता है। इसलिए मूर्ति जिस परिवेश में होती है उससे संवेदित होती है जबकि चित्र को इधर-उधर लगा सकते हैं। एक चित्र के चारों तरफ़ नहीं जा सकते, उसमें अपना काल खर्चना पड़ता है। जो दृष्टा है, दृश्य देख रहा है वह अपना काल लगाता है। मूर्ति में भी वह अपना काल लगाता है, देखने में, पर स्थापत्य में दिखने वाले का काल नहीं लगता, उसमें किसी और का काल लगता है, जिसमें वह बना है, जिन-जिन लोगों ने बनाया है, जिस कारण से बनाया है, ऐसे कई काल उसमें चिपके रहते हैं। घर ऐसी ही जगह होता है जिसमें अपने साक्षीकाल को छोड़कर किसी और के काल में रहते हैं। अब भरोसा रहता है कि यहाँ पर मैं सुरक्षित हूँ, मेरा शरीर सुरक्षित है। दूसरे का काल चिपका रहता है दीवारों पर। एक मज़ेदार विज्ञापन आता है संयोग से इस अर्थ को चरितार्थ करता हुआ, 'घर-घर कुछ कहता है।' इसका अर्थ है कि दूसरे काल लगे हैं उसमें। मूर्ति में और चित्र में ऐसा नहीं होता। इस विश्लेषण से कला के कई तत्त्व निकल सकते हैं। जैसे संगीत के अन्दर जो कि काल कालिक है, उसमें सिर्फ़ घटनाएँ प्रभावित करती हैं। संगीत अपने अन्दर से ही प्रभावित करता है फिर उसका स्थायीभाव बनता है जिससे रसास्वादन होता है। नृत्य अन्दर से बिल्कुल खाली है, इसमें सिर्फ़ अभिव्यक्ति ही है। कोई नृत्य कर रहा है, उसका व्यक्तित्व कैसा है, यह अप्रासांगिक बात है। क्या सोचता है, क्या करता है, सब अप्रासांगिक है। जब आप किसी नृत्य को देखते हैं तो शरीर नहीं दिखता। शरीर के अन्दर पूरा चरित्र दिखता है। शरीर पारदर्शी हो जाता है, दृष्टि को रोक देता है। नृत्य एक ऐसी कला है जिसमें छाप नहीं अभिव्यक्ति है,

नृत्य करने वाले के अन्दर उसी की आकांक्षा है। नर्तक आकांक्षा पर नृत्य करता है और उसके अन्दर ही अन्दर की सृष्टि, चरित्र, लास्य इत्यादि दिखता है; उसके अन्दर, शरीर नहीं दिखता। ऐसे ही फ़िल्म, नाटक या स्थापत्य है जो कई कालों को जोड़कर बनता है। फ़िल्म में कई काल होते हैं, इसका काल, उसका काल, उसमें कालों को कोलाज होता है। स्थापत्य में साँस लेने वाला घन होता है, यह स्थापत्य की मूल परिधि है। साँस लेता है, अन्दर जाना, बाहर आना होता है। कई काल जुड़कर वह बनता है। फ़िल्मों और नाटकों में कलाओं का जो व्यवहार चलता है उसमें कई सारे तत्त्व निकलकर आते हैं। सामाजिक तौर पर इन सब के अपने व्याकरण हैं। देशकाल से इनके व्याकरण बनाये जा सकते हैं। इन व्याकरणों से जो वाक्य आदि बनते हैं वह बना सकते हैं। जैसे कि नृत्य का व्याकरण है, उससे जो अभिनय की अभिव्यक्ति बन रही है, वह बन जाती है। जितनी भी कालिक कलाएँ हैं उनमें शरीर को हम देखते हैं। शरीरीकरण भी दो रूप से होता है। एक जो खुद के शरीर से हो जैसे बोलना, बात करना। कर्मेन्द्रियों से हम कल्पनाओं का शरीरीकरण करते हैं, अभिव्यक्त करते हैं, संरचनात्मक रूप से अपना शरीर लगाकर । दूसरा है अपने शरीर के अतिरिक्त जो पदार्थ हैं, भौतिक वस्तुएँ हैं, उनको शरीरीकृत करें। वह विशेष कला होती है और यह सामाजिक कला है।

चित्रकला क्या होती है? एक रेखा खींची, रेखा में कोई ऊँचाई नहीं, लम्बाई ही लम्बाई है। कल्पना का जो आकाश है वह रेखा के पीछे, एक क्षेत्र छुपा हुआ है और रेखा के आगे एक क्षेत्र छुपा है, रेखा के अन्दर क्षेत्र है। एक रेखा के अन्दर अनन्त क्षेत्र हैं और बाहर की ओर भी अनन्त क्षेत्र हैं क्योंकि दोनों तरफ़ से सिर्फ़ एक रेखा ही दिखती है। आप इस क्षेत्र को खोल सकते हैं। कल्पना में इसे खोल सकते हैं। खोलने में, रेखा में जो छुपा हुआ है, उसे आप व्यक्त कर सकते हैं। कल्पना में यह काम हो सकता है। चित्र में कुछ रंगों की परतें होती हैं। परतों के अन्दर परतों को खोल सकते हैं। कल्पनाएँ परतों को विचारशील तरीके से खोलती हैं। भौतिक परिधि में जो कल्पना इंगित है, वह भौतिक परतों को खोलकर बनी है। कल्पना न द्विआयामी है, न त्रिआयामी, वह बीच में है। कल्पना का आकाश सटीक है। यह वैचारिक आकाश है। जैसे कुछ पत्थर भिन्न परतें हैं, ये हमारी स्मृति में घर्षण करते हैं। स्मृति में जो नग्न हैं वे चिपक जाते हैं, वह कल्पना दिख जाती है हमें। चित्र में जो कल्पना है वह दिख जाती है। परतें अपने आप में पूर्ण वस्तु नहीं हैं। कोई भी कल्पना को मूलतः कोई एक परत नहीं बनाती, कई परतें जुड़कर, बलाबल से एक दूसरे को खोलकर, उसे बनाते हैं, जिसमें पारम्परिक रूप, रूप योजना आदि होते हैं। पदार्थ व परतें गणनीय होते हैं। इनसे कल्पना का आकाश खुलता है। उससे जो दृश्य कलाकार देख रहा है वही कोई अन्य भी देख सकता है। इस सबकी एक प्रक्रिया है। परतें दृश्यमान होती हैं। चित्रकार परतें बनाता है, उसकी मदद के लिए दूसरी और इस तरह अन्य परतें बनाता है। कुछ और दिखता है परतों में तो पुरानी कल्पना छोड़ कुछ और कर देता है, थोड़ा कल्पना को मोड़ देता है। यह चित्र बनाने की प्रक्रिया है, उसको देखने की प्रक्रिया अलग है। चित्रकार में कई कल्पनाओं की घटनाएँ होती हैं। जब वह एक परत डाल रहा है, उससे कोई कल्पना करता है। कल्पना में आए को दिखाने के लिए कुछ परतें लगाता है। चित्रकार में इस तरह एक प्रक्रिया चलती है। यह प्रक्रिया तब तक चलती है जब तक सारी परतें अनुपस्थित न हो जाएँ। परतें खत्म हो जाती हैं, इसके बाद सिर्फ़ कल्पना रह जाती है। जब तक चित्र में परतें दिखती हैं तब तक वह पूरा नहीं हुआ। हालाँकि आजकल लोग अपने चित्र अधूरे छोड़ देते हैं। देख पाने और न देख पाने के बीच एक तारतम्य है। चित्रकार एक परत लगाता है जो दूसरों को दिख रही है पर वह एक कल्पना करता है, वह दूसरो के लिए अदृश्य है। फिर वह और परतें लगाता है, दूसरों को वे दिखती हैं पर कल्पना सिर्फ़ उसी को दिख रही है। वह यह काम करता रहता है जब तक कि दूसरों को कल्पना न दिख जाए और यह परतें न दिखें। जब तक परतें दिख रही हैं तब तक उस चित्र-कृति में औचित्य नहीं है। जब परतें दिखना बन्द हो जाए तब उसमें औचित्य आता है,

वह पूर्ण हो जाती है। जो दिख नहीं रहा सिर्फ़ कलाकार देख सकता है, कल्पना को, फिर वह धीरे-धीरे दूसरों को दिखा देता है। ऐसा नहीं कि एक दम से चित्रकार ने कल्पना कर ली हो, इस प्रक्रिया से वह सम्भव होती है। इस तरह से हर एक कला का व्याकरण बनाया जा सकता है, जैसे यह चित्रकला है और हर चित्र ऐसे ही बनता है। चित्र में कई कथ्य होंगे। जो अर्थ आ रहें है वो एक तरह से बँधे होते हैं। जो इच्छा में है, वह नहीं होती चित्रकला, वह एक अनुशासन में बँधी होती है। सारी कलाएँ अपने-अपने अनुशासन में बँधी होती हैं। इन अनुशासनों के अन्दर तरह -तरह के अर्थों को अंकित करना और बाँधना सम्भव होता है। जितने भी देश और काल के प्रारूपण बनतें है इनमें एक अनुशासन रहता है। यह अनुशासन भौतिक परिधि के अनुरूप होता है। उस भौतिक परिधि के अनुरूप कल्पना इंगित हो जाती है। फिर जिस कल्पना को सिर्फ़ चित्रकार देख सकता था उसके अनेक दृष्टा हो जाते हैं। नग्नजीत और नाट्यशास्त्र की कहानी को यहाँ तक लाया जा सकता है और कलाओं के प्रकार दिखाये जा सकते हैं। इनमें कलाओं के तत्त्व व स्वरूप भी निकलकर आता है क्योंकि शरीरीकरण व नग्नीकरण की प्रक्रिया है। चित्रकला शरीरीकरण की प्रक्रिया है और यह एक कृत्रिम जीवन है, मनुष्य, पशु सभी पैदा होते हैं इसमें, वह एक गति है। यह कला की योनियाँ हैं, यह खोजी गई हैं, यह पहले नहीं थीं। कला की योनियाँ, उनके अनुशासन और उनकी कल्पनाएँ यह सब खोजे गये हैं। कल्पना को सार्वजनिक करना मनुष्य व्यवहार के लिए आवश्यक है। बिना कला के मनुष्य का व्यवहार सम्भव नहीं है। कलाओं की कई सीमाएँ हैं, उनसे कला का बँधना ज़रूरी है, उन्हीं से कलाओं के व्यवहार बने हैं। कभी किसी समय में जो कला बनी या आगे बनेगी उससे यह स्वरूप तय होगा।

कला का औचित्य

कलाओं को समझने के लिए औचित्य एक बहुत ही विशिष्ट अवधारणा है। कलाकृति बनाते समय और रसास्वादन करते समय उचित-अनुचित का जो विवेक होता है, वही औचित्य है। उसका स्थान कल्पना में रहता है। कृतिकार कृति का सृजन करते हुए जो कल्पना करता है उसमें उचित-अनुचित का विवेक जुड़ा रहता है और जब कलाकृति को दर्शक-श्रोता समझता है, उस समझने में जो कल्पना होती है, उसमें भी यह विवेक होता है। इस विवेक से ही कलाओं में गति रहती है।

ब्यूटाडिश की कहानी में किसी परिधि में छाया को अंकित करने की प्रक्रिया से हमने चित्रकला को समझने की कोशिश की है। वह कहानी थोड़ी अधूरी-सी है। कुछ लोगों ने कहा कि छाया तो एक तकनीक हुयी, यह कोई बड़ी बात नहीं। उस कहानी में छाया को भरने की शक्ति है, युवती में प्रेमी के प्रति वह चीज़ थी जो छाया को भर सकती थी। उस कहानी में काफ़ी और गहराई है और वह कई पाश्चात्य कलाकृतियों के पीछे छुपी हुयी है जहाँ हम प्रतिनिधित्ववाद देखते हैं। यह सृष्टि है, इसे चिह्नित करने के लिए अर्थात् सृष्टि की छाया को पकड़ने के लिए जितनी भी कलाकृतियाँ हैं, वे एक किस्म का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं हैं। वे प्रत्यक्ष उपस्थिति नहीं हैं। जैसे सृष्टि की उपस्थिति हमारे सामने प्रत्यक्ष है, वैसे नहीं है। वह सृष्टि को तोड़-मरोड़कर उपस्थित करना है, जिसे प्रतिनिधित्व कहते हैं। सच क्या है? जो वस्तुस्थिति है वह सृष्टि में है, वह वस्तुस्थिति प्रतिनिधित्व में नहीं होती। ब्यूटाडिश की कहानी, कला को एक तरह से बाँधती है, इस तरह कि कला में क्या चीज़ उचित है और क्या अनुचित है। इस पर कोई सम्भावना नहीं बन पाती, यह चीज़ दर्शकों आदि पर छोड़ दी जाती है, किसी और विश्लेषण की पद्धति में छोड़ दी जाती है। कला का जो स्वरूप बनता है उस कहानी में उसमें उचित और अनुचित का स्वरूप, उस स्वरूप में नहीं है, उससे भिन्न है। कला के अतिरिक्त और विश्लेषण की ओर यहाँ जाना पड़ता है। अपने आप में वह कला की पूरी कहानी नहीं है, उसमें पूरा स्वरूप सामने नहीं आता। कला एकवाक्यता में सम्भव नहीं होती।

दूसरी नार्सिसस की कहानी है। वह आधुनिक कथा है, यूनान की कथा की आधुनिक व्याख्या। वह बहुत प्रचलित है और जो कलाविद हैं वे उसमें अपना जीवन देखते हैं। कलाकार में एक विशिष्ट प्रतिभा है जो हर किसी में नहीं है। यह एक तरह का आत्मविवेकी कर्म है। कलाकार थोड़ा समाज से हटकर होता है और अपने आप में व्यस्त रहता है। यह व्यस्तता एक अन्दर की तड़प है जिससे कला उभरती है। उस तड़प पर विशेष ध्यान देने पर कला का सृजन होता है, ऐसा बहुत लोग मानते हैं। कला स्कूलों में इस तड़प के बारे में सिखाया जाता है कि विद्यार्थी इसके बारे में कुछ समझ लें। उनकी शिक्षा पद्धति में भी यह है कि कला सिखाने का मतलब क्या है, किस चीज़ को कहें कि कला सीखना है। कला सीखने के पहले विद्यार्थी अपनी इस तड़प को पहचानें क्योंकि इसी से शक्ति निकलती है जिससे फिर कलाकृति बनती है। इस दूसरी कहानी में भी क्या उचित है क्या अनुचित है, इस विवेक के बारे में कुछ स्पष्ट नहीं होता। कला बनाने की प्रक्रिया में अपनी पीड़ा का योगदान होता है, मनुष्य के स्वभाव में एक किस्म का दरवाज़ा है जिसमें पड़ने से बहुत सारी चीज़ें निकल आती हैं; कला भी निकल आती है। यह एक किस्म का सौभाग्य होना है। कुछ लोगों में सौभाग्य है कुछ में नहीं है। यह लोक व्यापी नहीं हो पाती। उच्च कोटि की कला को समझने के लिए यह कहा जा सकता है कि उसको साकार करने वाले कलाकारों में वह पीड़ा है कि उसे आत्मसात कर लेते हैं। इसी विशेषता के कारण वे कलाकृति को जन्म दे पाते हैं और कला का श्रोता-दृष्टा आदि उसका लाभ उठा पाते हैं। यूनान में एक आक्षेप लगा था। अरस्तु में यह मिलता है। उसके अनुसार कोई भी क्रियाकलाप जो मनुष्य करता है, उसके कुछ नियम बन जाएँ। जैसे ओलम्पिक में सौ मीटर की दौड़ लगाते हैं तो उसका नियम है कि आप अपनी रेंज में रहें, दूसरे को टँगड़ी न मारें, सभी एक साथ शुरुआत करें। जिसमें जितनी प्रतिभा है, वह उसके अनुरूप निकल आएगा। कौन बढ़िया है, श्रोता-दर्शक भी जानेंगे और प्रतिभा भी निकल आएगी। अरस्तु के मतानुसार मनुष्य के क्रियाकलापों में ऐसे नियम बन जाना चाहिए। हालाँकि अरस्तु ने यह सब संविधान के परिप्रेक्ष्य में ही कहा था कि हम ऐसे नियम बना लें तो वह श्रेष्ठता अपने आप उजागर हो जाएगी, किसी के पक्षपात या चालाकी की कोई गुंजाइश नहीं रहेगी। अब कलाकार ऐसे नियमों से कार्य करें कि अपने आप की श्रेष्ठता निकल आए और दर्शक उसकी वाहवाही करें। लेकिन ऐसे क्या नियम हैं जिनसे कलाकार की प्रतिभा निकल आए? पश्चिम में कुछ लोगों ने विचार किया कि वे नियम क्या हैं जिनसे समाज में कला या कलाकृतियों के चलन का पता चल सके। पिछले सौ सालों में नियमन के बारे में पश्चिम में ऐसी कल्पना बन पायी है कि एक कला आलोचक होता है जिसमें ऐसी क्षमता होती है कि वह प्रतिभा को पहचान सके। वह ऐसा विशेषज्ञ होता है जिस पर ये नियम टिके होते हैं। ऐसा क्यों है कि कला के फैलाव का तन्त्र है, दुनिया में हज़ारों कलाकार हैं और यह हमें कला दीर्घाओं में दिखता है जहाँ कलाकृतियाँ उभरकर आती हैं। उनके लिए विशेष स्थान हैं। कलाकृतियाँ लोकव्यापी नहीं हैं। उन विशेष स्थानों में कला का, कलाकृतियों का प्रदर्शन व मंचन होता है। ऐसे स्थानों में कला का अपना उचित-अनुचित का विवेक उपस्थित रहता है। यह सब विशेषज्ञता के आधार पर तथा बाज़ार के अपने नियमों के आधार पर ही होता है। आजकल बाज़ार का प्रभाव तो है ही। कला को इस तरह के नियमों से सम्बद्ध करने का काम पश्चिम में हुआ है और इस तरह के सिद्धान्त भी बने, ऐसे प्रयास कई साल चलते रहे। लेकिन कुछ लोग कहते हैं कि ऐसे नियमन नहीं हैं जिनको सारे कलाकार मानें व आगे चलें, वे कलाओं में एक तरह का भाग्य मानते हैं क्योंकि इसका लोकव्यापीकरण नहीं होता।

पहली मान्यता में दृष्टा व श्रोता की आवाज़ गुप्त तरीके से विशेषज्ञों तक पहुँच जाती है और वे उचित-अनुचित का निर्णय ले पाते हैं। यह कलाकारों के लिए स्वीकृत नहीं थी। उनका मानना था कि जो कलाकार नहीं हैं, वे ऐसे सिद्धान्त बनाते रहते हैं। उसके पीछे उस ज़माने की ज़रूरत थी, आज भी आधुनिक समय की ज़रूरत की तरह यह है। इसमें किस किस्म का नियमन है, इस बारे में पिछले सत्तर-अस्सी साल में कोई स्पष्ट बात नहीं बन पायी है।

इससे हटकर यह कहा जा सकता है कि हर व्यक्ति सृष्टि का दृष्टा व श्रोता है। हर व्यक्ति के संयम में उचित-अनुचित का एक विवेक है और वह उसके व्यक्तित्व की पहचान है। यह मनुष्य की पहचान है। कोई किसी को बता नहीं सकता कि क्या उचित है क्या अनुचित है। लोग बताते हैं और लोग मान भी लेते हैं लेकिन सब अपने अन्दर यह बात खोलकर रखते हैं कि क्या उचित है, क्या अनुचित। समाज के कई सारे दबाव रहते हैं, उसमें लोग औरों का कहा मान तो लेते हैं, बावजूद इसके वे अपने में उचित-अनुचित का विवेक बनाए रखते हैं। अगर सिर्फ़ विशेषज्ञता पर उचित-अनुचित को न छोड़ें; हालाँकि इसको गलत नहीं मान सकते, अभ्यास से इस तरह का कौशल आता है, हर जगह अधिकारिक लोग रहते हैं, उनको भी समझना चाहिए कि वे कैसे बनते हैं; उचित-अनुचित का भाव मनुष्य के स्वभाव में ही रहता है। हम किस तरह से स्वतन्त्र हैं, कोई भी मनुष्य कैसे स्वतन्त्र है, किस रूप में किस स्वभाव से स्वतन्त्र है, इस पर विचार करने से लगता है कि मनुष्य में उचित-अनुचित के विभाग की स्वतन्त्रता है, इससे अधिक की कोई स्वतन्त्रता नहीं है। कोई कहे कि मेरा शरीर अलग है, मैं अलग हूँ, वह अलग है; कोई कहे मेरी आत्मा अलग है, उसकी अलग, इस तरह की स्वतन्त्रता है। इन स्वतन्त्रताओं से सारे व्यवहार नहीं निकल पाते, जैसे स्वतन्त्रता से जो व्यवहार होते हैं, वह नहीं हो पाते। स्वातन्त्र्य उचित-अनुचित का विचार है, इसकी ताकत या शक्ति है जिसका स्वतन्त्र है हर व्यक्ति। अगर ऐसा माना जाए तो कलाओं में किस प्रकार से औचित्य बैठता है? यह प्रश्न उठता है कि कला के विस्तार तन्त्र से औचित्य बने क्योंकि वहाँ पर भी उचित-अनुचित का विभाग है लेकिन वह कुछ ही मनुष्य कर सकते हैं। जैसे यूनान में एक सिटी स्टेट की कल्पना रही है कि कुछ व्यक्ति हैं जिनमें एक जिजीविषा है, श्रेष्ठता है। वे साथ में रहें। हर व्यक्ति में श्रेष्ठता हो, कोई-न-कोई, ऐसी कल्पना सुनने में भले ही अच्छी हो पर यथार्थ में नहीं हो पाती। जैसे ओलम्पिक में कुछ लोग तालियाँ बजाने वाले होते हैं, कुछ लोग भाग लेने वाले होते हैं, ये दो अलग किस्म के लोग हैं। शहर की पुरानी कल्पना यही थी कि जो श्रेष्ठ लोग हैं वे एक-दूसरे को बल देने के लिए साथ में रहें और जो बाकी श्रोता-दृष्टा आदि हैं, वे अपनी भाषा, देवता, भजन, संगीत आदि सब छोड़कर श्रेष्ठ व्यक्तियों की सेवा करें। यह कल्पना यूनान में कई वर्षों तक चली। इस सिटी स्टेट की कल्पना का बाद में विरोध भी बहुत हुआ। इसमें नागरिक भी रहते थे, उनकी सेवा के लिए दास रहा करते थे, बाकी मनुष्यगण शहर से बाहर रहा करते थे। यह सिर्फ़ कल्पना नहीं है, यूनान में यह एक राजतन्त्र था। आज के समय में इस किस्म का राजतन्त्र अधिक प्रचलित हो गया है, यहाँ तक कि भारत में भी आज का राजतन्त्र ऐसे ही शहर बनाने का राजतन्त्र है और कलाएँ भी उसी तरफ़ झुकी हुयी हैं।

दूसरी ओर ऐसा बहुत लोग मानते हैं कि हर व्यक्ति कलाकार होता है, उसे अपनी कलाकारी को पहचानना है। यह बात इसलिए कह पाते हैं क्योंकि उचित-अनुचित का विवेक हर व्यक्ति में स्वतन्त्र रूप से है। ब्यूटाडिश की कहानी और नार्सिसस की कहानी में उचित-अनुचित का सवाल अच्छी तरह सुलझ जाए, किसी सन्तुष्टि से सुलझ जाए, ऐसी सम्भावना कम दिखती है। नग्नजीत की कथा और नाट्यशास्त्र की कथा में उचित-अनुचित कर वर्गीकरण कैसे आता है, इस पर विचार करते हैं।

प्रत्यक्ष में जो प्रतीती है, उस प्रतीती में जो वस्तु है, उसके भार से सत्यता बनती है, औचित्य बनता है। हम लोगों की परम्परा में कहते हैं जैसे रस्सी को साँप समझ लिया। एक रस्सी थी, वह साँप जैसी दिख गयी, यह अनुचित था देखना। इसमें औचित्य-अनौचित्य का निर्धारण वस्तु से हो रहा है, जैसे यहाँ रस्सी से हो रहा है। बाद में आपने वस्तु को छूकर देख लिया और गलत प्रतीती को दूर कर लिया। प्रतीती की जो भी प्रक्रिया हो, वस्तु ही उसकी सच्चाई है। यह प्रत्यक्ष में होता है। कल्पना में तो ऐसी वस्तु है ही नहीं, वह दूर हट गयी और नग्न इत्यादि आ गए। अब नग्नों को

लेकर आपने कल्पना की, उससे कैसे निर्धारण हो कि क्या उचित है, क्या अनुचित है। यह मूल प्रश्न है।

कल्पना की प्रक्रिया के अन्दर विवेक होता है, उचित-अनुचित का विचार होता है। जब हम कल्पना करते हैं तो कल्पना में, चाहे फ़ैण्टेसी भी करें तो उसमें भी कुछ विवेक लगा हुआ है। कुछ कल्पनाओं का शरीरीकरण होता है और कुछ का नहीं हो पाता। कुछ कल्पनाएँ संकल्प की तरफ़ झुक जाती हैं, कुछ नहीं झुक पाती क्योंकि वे सम्भावना नहीं बन पातीं, पर हर कल्पना में कुछ विवेक लगा हुआ है। इसको परम्परा में धर्म-अधर्म कह सकते हैं, यह कल्पना का अंग है। इसे समझने के लिए मान लीजिए चित्र बनाने की विधि दी गयी है, जिसमें कुछ कल्पना की जाती है। जब हम चित्र बना रहे हैं तो कई बार हाथ और ब्रश अपने आप चलता है और बीच में कल्पना से उसे मोड़ देते हैं क्योंकि हाथ अभ्यास से अपने आप ही चल जाता है। नृत्य में भी ऐसा होता है, कुछ चीज़ें अपने आप होती हैं, कुछ उसके अन्दर कल्पनाओं से मोड़ देते हैं।फिर कल्पना से दूसरी तरह हाथ चल जाता है। शरीर क्रिया अभ्यास से भी हो जाती है, शरीर क्रिया को हम कल्पना से बदल देते हैं, उसे नया मोड़ देते हैं। हम लोग एक प्रयोग करते हैं, चित्र बनाते समय की रिकॉर्डिंग करते हैं और देखते हैं कि कितनी बार चित्र बनाते समय कल्पना बदली है। कोई चित्र बना रहा है, वीडियो से यह पता चलता है कि कितनी बार कल्पना के बड़े मोड़ आए। पहले ऐसा सोच रहा था, फिर कुछ और हुआ, फिर कुछ और तब चित्र पूरा हुआ। यह हर एक मोड़, कल्पना का उचित-अनुचित का विचार है, इसी को विवेक कहेंगे। हाथ-पैर अभ्यास से दौड़ते हैं और कल्पना उन्हें मोड़ती है। शरीरीकरण करते हैं तो शरीर का अपना रुझान रहता है, इस रुझान को कल्पना से बदल देते हैं। यह बदलाव जब होता है तो उचित-अनुचित की घटना का विभाग होता है। यह एक निर्णय होता है और यह सिर्फ़ विशेषज्ञ नहीं कर रहा, हर कलाकार यह निर्णय करता है। हर एक कलाकार के अन्दर मनुष्यत्व है। मनुष्यत्व होने से नग्नों का अनुभव औचित्य पर टिका हुआ है। सबको एक-सा उचित लगे या अनुचित लगे, ऐसा कोई ज़रूरी नहीं है। एक व्यक्ति को कुछ लग सकता है, दूसरे को कुछ लग सकता है। उनके अन्दर एक सहजता है, एक संगति है जो कि हर एक कलाकार में होती है और न सिर्फ़ कलाकार में बल्कि हर एक श्रोता-दृष्टा में होती है। जब कोई कलाकृति देख रहे हैं तो उसको देखकर उसमें जो मोड़ आते हैं, उनका विश्लेषण कर सकते हैं कि कैसे दृष्टा की कल्पना में वह चित्र बन रहा है। हम लोग आईट्रेकर होते हैं, जैसे चित्र दिखाते हैं तो आँख कहाँ-कहाँ गयी, इसका पूरा रिकॉर्ड बना सकते हैं। कलाकार की तरह दृष्टा के अन्दर भी ऐसी घटनाएँ हो रही हैं, कलाकृति का रसास्वादन करते वक्त घटनाएँ होती हैं। इन्हें हम विवेकपूर्ण घटनाएँ कहेंगे जिनमें धर्म-अधर्म का, उचित-अनुचित का विभाग दिखता है, यह दोनों के ही अन्दर रहती हैं। घटनाओं का होना और भी बारीकी से होता है। जब चित्र बनते हैं तब चित्रकार कलाकृति बनाने के बाद बता सकता है कि बनाते समय क्या-क्या हुआ। कल्पना कहाँ-कहाँ किस रूप से बदली। इस जगह पर एक लाल परत लगा दी, यह औचित्य था। ऐसे ही छोटी-छोटी चीज़ों में औचित्य रहता है। जिसे हम सौन्दर्य कहते हैं या रस इत्यादि कहते हैं, कला इन दोनों पैरों पर चलती है। दोनों में उचित-अनुचित का भेद आ जाता है। एक उदाहरण ले सकते हैं। हम सभी फ़िल्म देखते हैं। कलाओं के दर्शकों में, फ़िल्मी कलाओं के दर्शक बहुत ज़्यादा हैं, बाकी कलाओं के बहुत कम हैं। औचित्य विचार इतना विस्तृत है, कल्पना में इसको फ़िल्म में देख सकते हैं। 'तारे ज़मीं पर' अधिकांश लोगों ने देखी होगी। उसमें अन्त से कुछ पहले एक दृश्य है। बच्चे खेल रहे हैं, बच्चे-शिक्षक-प्राचार्य सब खुश हैं, उनके माँ-बाप थोड़ा अचम्भे में हैं कि यह क्या हो रहा है पर दर्शक रो रहे हैं। ऐसा क्यों हो रहा है, दर्शक किस बात पर रो रहा है ? उसका साधारण उत्तर यह है कि एक तरह की संवेदना है, फ़िल्म में जो हो रहा है उससे अपने को जोड़कर, उसे आत्मसात करके, पात्रों जैसा समझकर, जो पात्रों में चल रहा है उसके फलस्वरूप रोना आ जाता है। ऐसी कई फ़िल्में हैं जिनमें संवेदना की जगह नहीं है। इस फ़िल्म के अन्तिम दृश्य में सब लोग खुश हैं, वहाँ आप किस चीज़ से संवेदना रखेंगे । औचित्य

विचार में अगर इस अवधारणा को समझें हम तो यहाँ दर्शक अपने आप पर रो रहा है। वह फ़िल्म पर नहीं रो रहा है। फ़िल्म के चलते हुए जो भी उचित-अनुचित की भावनाएँ बनीं, धारणाएँ बनीं, उनमें भेद किया गया, क्या उचित-क्या अनुचित। लोगों ने उस बच्चे को ऐसा निर्णयकारी बना लिया कि भई अब क्या कर सकते हैं, कुछ लोग होते ही हैं ऐसे। दुख की बात है कि वह ऐसा है, उसको सब भोगना पड़ेगा। अब माँ-बाप भी क्या करें, भेज दिया उसको बोर्डिंग स्कूल। यह निर्णय सबने बना लिया था, किसी ने उसका बचाव नहीं किया। आलोचक बाद में अपने उच्छृंखल तर्कों से कुछ भी कह सकते हैं पर चाहे वहाँ किसी भी पार्टी का दर्शक बैठा हो, सीपीएम या बीजेपी का हो या किसी भी तरह का हो, सबने फ़ैसला किया बच्चे पर। निर्देशक चाहते थे कि दर्शक ऐसा फ़ैसला करें। इस अपने ही निर्णय पर दर्शकों को रोना आ रहा है कि मैंने ऐसे कैसे गलत निर्णय कर लिया। जब आप फ़िल्म देखते हैं तब कभी-कभी रोना आता है, जो कभी नहीं रोते वह भी रो लेते हैं, खुशी के आँसु भी होते हैं। यह रोना एक भावात्मक रोना होता है, उत्प्रेरक अथवा भरा हुआ रोना नहीं होता। सूक्ष्म रूप से रोना अलग होता है। साधारणीकरण होने पर सामान्य व्यक्ति सामान्य रूप से रोता है, विशेष व्यक्ति गहन रूप से रोता है। दर्शकों में रोने की घटनाएँ होती हैं, वे दिख जाती हैं, लोग आँख मलते दिख जाते हैं, बाकी की घटनाएँ जो होती हैं वे अभिव्यक्त नहीं हो पाती। रोने का कारण अपना निर्णय है कि मैंने ऐसा निर्णय किया, उसके प्रायश्चित में होता है। रोना एक भावात्मक प्रायश्चित की तरह है, वह भावात्मक सौन्दर्य से होता है और अपने निर्णय पर टिका होता है। करुण भाव में भी रोना आता है, ऐसे और भी भाव हैं, हास्य-व्यंग्य आदि जो नाटकों में होते हैं, यह थोड़ी सूक्ष्म बात है। इस फ़िल्म में अन्त में कुछ ऐसा है ही नहीं जिसके प्रति सहानुभूति में या उसके अनुकरण में आप रोयें पर इस बच्चे को चूँकि मैंने गलत समझ लिया, मेरी समझ ठीक नहीं थी, उस पर रोना होता है।

फ़िल्म में रोशनी (लाइट्स) और रंगों (कलर्स) के कुछ बिन्दु हैं और कुछ नहीं। रोशनी का क्षेत्र बदलता रहता है, ध्वनि भी सूक्ष्म व्यवस्था में निहित है। दृश्य दर्शाया जाता है, उसमें तो कुछ है नहीं। एक पंक्ति है, शून्य-पाँच बोल्ट की, सारी आवाज़ें हैं उसमें। उसको एक तरह से घुमा-फिराकर दिखाते हैं। देखने में उसमें कोई हेतु नहीं है, रोना-धोना कहाँ से आ गया उसके अन्दर। फ़िल्म में पृथक तरह से पीड़ा आती है, उसके अन्दर साधारणीकरण तुरन्त हो जाता है। बाकी कलाओं में आसानी से नहीं हो पाता क्योंकि उनमें बचपन से रुझान नहीं रहता। फ़िल्म में तुरन्त हो जाता है, लोग बैठते हैं और सब भूल जाते हैं। क्लास में नहीं होता, वहाँ इधर-उधर देखते हैं। ऐसी क्या प्रक्रिया हो रही है फ़िल्म में, उससे यह रोना-धोना, सब क्रियाकलाप कैसे आ जाता है? यह सारा कुछ स्मृति से आता है, वहाँ पर कुछ नहीं है, आपके पास कोई स्रोत नहीं है। वह जो ज़ीरो वोल्ट, प्वाइंट फाइव के स्टिंग हैं वह सिर्फ़ एक अवसर निर्मित करता है कि आपकी स्मृति या नग्नों का जो लोक है, परलोक है, इसके साथ जुड़कर फ़िल्म का पूरा तन्त्र खड़ा कर देता है कि इसमें यह चरित्र हैं उसमें वह चरित्र हैं कि इसने यह क्यों कह दिया आदि। कोई चल रहा है, कहीं गिर न जाए वह, देखकर डर जाते हैं दर्शक। तरह-तरह के विचार आते हैं, सब चल रहा है फ़िल्म में। नग्नों का या स्मृतियों का घर्षण करके बनती है फ़िल्म और फ़िल्मकार स्मृतियों को समझकर फ़िल्म की कला बनाता है। फ़िल्म की कला नाटक से थोड़ी भिन्न होती है पर इतनी भिन्न नहीं। नाटक के अन्दर मंच अन्तः क्षेत्र होता है, उसकी परिधि मंच होती है। उसी के अन्दर नृत्य हो रहा होता है, सब कुछ जो करना होता है वह हो रहा है और शरीर व कुछ वस्तुएँ मंच पर उसकी परिधि है, उसका अन्तःक्षेत्र बनाती हैं। फ़िल्म का अन्तःक्षेत्र अलग है, जिसे कह सकते हैं, प्रवाह। मतलब एक विशेष-सी चीज़ है, चौबीस स्थिर फ्रेम , प्रति सेकेण्ड आपको दिखाएँ तो स्थिरता गायब हो जाती है, वह निरन्तर जैसा लगता है। यह गुण प्रवाह जैसा लगता है। यह प्रवाह प्रस्तुतिकरण से आता है। आप प्रवाह देख सकते हैं, सब कुछ निरन्तर आता है। चौबीस स्थिर फ्रेम के एक सैकेण्ड में प्रवाह से निरन्तरता बनती है, यह दृश्यात्मक

अन्तःक्षेत्र है। नाटक और फ़िल्म का अन्तःक्षेत्र बिल्कुल अलग होता है। फ़िल्म का प्रवाह स्मृति से घर्षण करता है और इसके अन्दर बिल्कुल वैसी ही प्रणाली चलती है जैसी कि पेण्टिंग में चलती है। स्मृति में घर्षण से अनुभव होता है तो स्वाभाविक रूप से उचित-अनुचित का भेद वहाँ हो जाता है। शरीर की चेष्टा और कल्पना का बाँधना यहाँ हो रहा है। चित्र हैं, ध्वनि की आवृत्तियाँ हैं, ये भौतिक चीज़ें हैं और जो कल्पना बन रही है वह स्मृति से बन रही है। इनके बीच में बाँधने की प्रक्रिया चल रही है, कभी इधर-कभी उधर, यह बहुत तेज हो रही है। अगर आप दर्शक का एफएमआई करें तो लगता है कि इसको थक जाना चाहिए। बहुत तीव्र क्रियाकलाप चलता है। दर्शक एकदम मुग्ध हो जाता है, साधारणीकरण में मग्न होकर फ़िल्म देखता है। एक-एक दृश्य-संवेदना से, कल्पना से वह फ़िल्म बना रहा है, वहाँ पर। यह अत्यन्त तीव्र क्रियाशीलता है, जब व्यक्ति पिक्चर देखता है। जब आप चलते हैं या कार चलाते हैं, इतनी तीव्रता नहीं होती। सामान्यतः इतनी तीव्रता नहीं होती। यहाँ इसलिए कि उसके पास कुछ है ही नहीं। कुछ चित्र-बिन्दू हैं, कुछ रोशनी है, कुछ ध्वनि आवृत्तियाँ हैं, उन्हीं को लेकर दर्शक की कल्पना की निर्मिति होना है। पारम्परिक विधाओं व्याकरण, संगीत आदि में भी यह बाँधने की प्रक्रिया है, कल्पना है; उसका काफ़ी विश्लेषण मिलता है। इस आधार पर हर एक कला की अलग प्रणाली बन जाती है, कला का व्याकरण बन जाता है। दर्शक में जो बाँधने की प्रक्रिया चल रही है वह कभी कुछ-कुछ अभिव्यक्त भी होती है। एक ऐसी भी फ़िल्म देखी है जिसमें एक दर्शक पर भी कैमरा लगा था। वह दर्शक फ़िल्म देख रहा है और उसमें कुछ बदलाव आ रहा है। यह एक ईरानी फ़िल्म है, इसमें दर्शक के बदलाव से फ़िल्म की कहानी बन रही है। जो कुछ भी हो रहा है उसमें बहुत क्रियाशीलता चल रही है। कम्प्यूटर जितने भी पिक्चर्स डालता है वह बहुत कम क्रियाशीलता है, ध्वनि आवृत्तियों की स्मृति बहुत छोटी है पर दर्शक के दिमाग में जो चल रहा है उसमें बहुत ज़्यादा क्रियाशीलता है। एफएमआई देखें तो यह क्रियाशीलता समझ में आएगी, उसकी तुलना में पिक्चर में कुछ नहीं है। दर्शक में यह जो चल रहा जबरदस्त घर्षण है, इसके अन्दर बाँधने की प्रक्रिया में हर क्षण में औचित्य और अनौचित्य का विवेक रहता है। जब हम घर्षण करते हैं, नग्नों या स्मृति के तत्त्वों से तो हर क्षण पर औचित्य विचार रहता है। कई-कई क्षणों पर हम लोग औचित्य विचार लागू नहीं करते, वह बनी बनायी स्मृतियों पर लागू कर छोड़ देते हैं।

जब कोई व्यक्ति आपको कहे कि इस बात में दुविधा है, आप निर्णायक बन जाइए, इसको हल कीजिए या बताओ अब क्या करना है। खुल जाता है आदमी, एकदम से कसरत हो जाती है। निर्णायक का ही एक ऐसा पद है जिससे आदमी शक्तिशाली अनुभव करता है और कोई स्थिति नहीं है। निर्णायक का रुतबा राजा से बड़ा लगता है। इससे बड़ी कोई चीज़ नहीं, किसी के ऊपर निर्णय करना। विचार कीजिए कि निर्णायक की भूमिका में दृष्टा बैठा हुआ है। आप जब फ़िल्म देख रहे हैं, आप निर्णायक की सीट पर हैं। कौन-सी चीज़ कहाँ हैं, कहाँ नहीं, आप निर्णय कर रहे हैं। वह फ़िल्म नहीं दे रही है आपको, आपको करना पड़ रही है। चीज़ें पुराने नग्न हैं जैसे टेबल के, पानी के। पूरा घन नग्नों का लगा हुआ है, पूरी दीवार है, आप सिद्ध कर रहे हैं। यह इधर है, वह उधर है, यह खड़ा है, वह बैठा है, वह क्यों बैठा है उसे खड़ा होना चाहिए, उसको तमीज़ नहीं है, वह आदमी ठीक नहीं है। यह सब अन्दर चलता रहता हैं, ऐसे-ऐसे निर्णय हम करते रहते हैं। यह सब धनात्मक है, निर्णय भरे पड़े हैं। कौन-सा नग्न है, यह टेबिल है कि नहीं है, क्या उचित-अनुचित है, यह कौन निर्धारित कर रहा है ? ये दृश्यावलियाँ निर्धारित नहीं करते, श्रोता-दृष्टा अर्थात् सामाजिक यह सब निर्धारित करते हैं। इतनी छोटी-सी बात कि ये टेबिल है कि नहीं, जो वस्तु का नग्न है उससे निकल रहा है। ये कुर्सी ऐसी क्यों बनी, ऐसी क्यों नहीं बनी, यह सब विचार भी आ जाते हैं। यहाँ बहुत अच्छी कुर्सी है, दिल खुश हो गया देखकर। यह सारे निर्णय करते रहते हैं क्योंकि आप एक निर्णायक की कुर्सी पर बैठे हैं। फ़िल्म देखते हैं तो आप निर्णायक होते हैं, सारी दुनिया ओझल हो जाती है। साधारणीकरण में यह होता है कि यह

फ़िल्म है और मैं निर्णायक हूँ, फिर अपना मनोविज्ञान भूल जाते हैं। जो चल रहा है उसे देखते हैं। किसी दूसरे को परखना, यह सबसे बड़ी श्रेष्ठता होती है, जब अपने को परखना होता है, तब बड़ी दिक्कत होती है। यह हम दूसरों से पूँछते हैं। साधारणीकरण तभी सम्भव है। नाट्यशास्त्र के पहले अध्याय की कहानी यही बताती है।

सतयुग को कृतियुग कहते हैं। उस समय सब लोग अपनी-अपनी कृतियों में व्यस्त थे और अपनी-अपनी तपस्या में लगे हुए थे। सतयुग में बड़े तपस्वी हुए, जो भी फल उनको मिलने थे, मिल गए। पर सतयुग के अन्त में एक ऐसी प्रवृत्ति आयी कि लोग सुख की तरफ़ भागने और दुख से दूर हटने लगे। ऐसी स्थिति में धर्म-अधर्म का संचालन कैसे हो, यह तो एक त्रुटि हो गयी। इससे तो सारी तपस्याएँ भंग हो जाएँगी, गलत चली जाएँगी। ऐसे में क्या किया जाए। इस समस्या को लेकर भरतमुनि ने तपस्या की और ब्रह्मा की कृपा से समझ आ गया कि वह क्रीड़ा क्या होगी। सतयुग के अन्त में लोग धर्म-अधर्म से दूर जा रहे थे, उसकी पुनर्स्थापना कैसे हो, कुछ ऐसी व्यवस्था कि मनुष्यगण धर्म-अधर्म पर चिन्ता करें और सुख की तरफ़ भागने व दुख से दूर हटने की प्रवृत्ति पर न चलें। जितना सुख है वह भोगना है, जितना दुख है वह भोगना है, यह भागने से तो अनौचित्य आ गया। एक ऐसी व्यवस्था चाहिए कि मनुष्य सब कुछ भूलकर धर्म-अधर्म की चिन्ता करें। क्रीड़ा कला की सृष्टि त्रेता में हुयी। कला की सृष्टि में एक ऐसा मंच बनाना, ऐसा दृश्य-श्रृव्य बनाना जो सिर्फ़ धर्म-अधर्म की चिन्ता करे। उसका श्रेष्ठ उदाहरण है फ़िल्म देखना। जब आप फ़िल्म देख रहे हैं तो क्या धर्म है, क्या अधर्म है, यह नहीं रहता। नाट्यशास्त्र की उत्पत्ति इस संकट से हुयी । इसकी सृष्टि ऐसी हुयी कि सर्ववार्णिक लोग साधारण बन जाएँ। ऐसा नहीं कि दुख की तरफ़ से भागें। ऐसा हो कि दूसरों के दुख में वे चिन्ता में लगें। इससे धर्म-अधर्म क्या है, यह नियन्त्रण हो जाएगा। इस कल्पना से त्रेता बना। इस कहानी ने कला के ऊपर एक बड़ा दायित्त्व दिया कि धर्म-अधर्म का चिन्तन दर्शक करता है। आजकल कुछ भ्रान्तियों के कारण हम उसे रसिक कहते हैं और कला को रसास्वादन कहते हैं। कला रसास्वादन नहीं है। कला औचित्य -अनौचित्य का विवेक है। कोई छोटा कलाकार हो चाहे कोई बड़ा कलाकार, उसके अन्दर यह अधर्म-धर्म का संयम स्वतन्त्र रूप से है और इस संयम के अभ्यास के लिए कला की सृष्टि हुयी।

कलयुग में बहुत कम दान में बहुत कुछ निकलता है, यह सरल संसार है। सतयुग में बहुत लम्बी तपस्याएँ चलती थीं। चारों युगों के बदलाव ऐतिहासिक और तात्त्विक दोनों रूप में देख सकते हैं। आज भी एक ही व्यक्ति में एक समय में चारों युग रहते हैं। हम सब जिस क्षण में हैं अर्थात् वर्तमान में, उससे बाहर नहीं जा सकते। अगर जाते हैं तो उसे मृत्यु कहते हैं। आप हरदम अब में हैं, उसी में कुछ अतीत आ रहा है, कुछ भविष्य बन रहा है। इससे आप बाहर नहीं जा सकते जैसे इस स्पेस से आप कहीं बाहर नहीं जा सकते। यह सम्भव नहीं है, इसको मृत्यु कह देते हैं। हरदम आप वर्तमान हैं, सो रहे हैं या जाग रहे हैं। यह विकल्प नहीं है कि आप अतीत या भविष्य में चले जाएँ। हर एक आदमी अब में है, इससे बँधा हुआ है। इसी में कई तरह के नग्न और अतीत व भविष्य की कल्पनाएँ आती हैं। वह नग्नों का परलोक है, जो वर्तमान है, उससे देवलोक में हम लोग हट जाते हैं। मुझे भविष्य में यह चाहिए तो यह काम करना पड़ता है। अतीत व भविष्य की जो कल्पनाएँ हैं, वे अब से हटने की हैं, इनके अन्दर उचित-अनुचित चलता रहता है। अपने अब से हटना, इसमें क्या चीज़ उचित क्या अनुचित, यह भेद आता है, इसी को विवेक कहते हैं। इस विवेक का अभ्यास हो, इसी के लिए कला की सृष्टि हुयी। जब फ़िल्म देखते हैं तो इसका अभ्यास होता है, क्या चीज़ ठीक है, क्या ठीक नहीं है। इस समय आपका मनोविज्ञान, चिन्ताएँ, जिम्मेदारियाँ कुछ भी नहीं बचतीं। इसलिए कला पर आक्षेप भी हैं, नाट्यशास्त्र में मिलता है कि वह आत्मबुद्धि केन्द्रित हो जाती है, वह आपको गैर-जिम्मेदार बना सकती है। उसमें एक तरह का चस्का है, वह आपको दूर ले जाती है। यह आक्षेप त्रेतायुग में लगा था। जब आप

दूसरों को देखते हैं कि दूसरे लोग क्या कर रहे हैं, वह चरित्र हैं, कुछ भूमिकाएँ निबाह रहे हैं। कोई कहीं बच्चा है, माँ है, पिता है, भाई है, शिक्षक है आदि। यह शिक्षक ऐसा है, वह वैसा है और वह एकदम से आमिर खान आ गया, यह एकदम से बदलाव है। 'तारें ज़मीं पर' अनुकृति की तरह फ़िल्म है। बिल्कुल नाट्यशास्त्र के अनुसार जैसे पाँच स्तर होते हैं वैसे ही इसमें हैं, इसलिए बड़ी उत्कृष्ट फ़िल्म है यह। त्रेतायुग में धर्म और अधर्म की व्यवस्था के लिए जो कि सतयुग में बिखर रही थी, कला आयी। जो भूमिकाएँ हैं, फ़िल्म में, नाटक में या नग्नलोक में, परलोक में इनकी मर्यादाएँ कि कौन क्या कर रहा है और क्या करना चाहिए, यह साथ-साथ चलते हैं। जब फ़िल्म देखते हैं तब यह विचार चलता रहता है, इस विचार से ही फिल्म का मूल्यांकन चलता रहता है। भूमिकाएँ मर्यादाओं से बँधी रहती हैं। कृतियुग का मर्यादाओं में श्रेष्ठ पुरुष त्रेता के श्रीराम को कहा गया है। त्रेता में ऐसा संकल्प था कि मर्यादित जीवन जियो। आप फ़िल्म देखते हैं तो आपके अन्दर मर्यादाओं का विश्लेषण चलता रहता है कि उसको ऐसा नहीं करना चाहिए, वहाँ पर जाना चाहिए, आदि। मर्यादाओं के विश्लेषण का अभ्यास कलाओं की सृष्टि में रहा है। त्रेता में सब मर्यादाओं पर चलने लगे। मर्यादाओं पर चलने पर भी एक संकट आ गया, वह यह कि मर्यादाओं के बीच भी घर्षण हो गया। सीता की अग्निपरीक्षा करना है या नहीं। धोबी ने कहा कि सीता को निकाल दीजिए, वानप्रस्थ दीजिए अयोध्या से। एक तरफ़ पति की मर्यादा है, दूसरी तरफ़ राज्य की मर्यादा। मर्यादा पर चलना कहाँ तक सम्भव हो सकता है। त्रेता के अन्त तक मर्यादाओं की त्रुटियाँ निकल आयीं। मर्यादा पर चलना जानते थे लव-कुश। लव-कुश को त्रेता की त्रुटि पता थी। वे बच्चे थे पर अश्वमेघ के घोड़े को रोकने की ताकत कहाँ से आयी उनमें। वह ताकत त्रेता की त्रुटि समझकर आयी कि मर्यादाओं पर चलकर धर्म-अधर्म की रक्षा नहीं हो पाती क्योंकि मर्यादाओं में घर्षण हो जाता है। इस त्रुटि के रहते हुए युग परिवर्तन हुआ और द्वापर की सृष्टि हुयी। इस युग का तन्त्र इस आधार पर बना कि मर्यादाओं पर न चलकर नीतियों पर चलो, मर्यादा पर भी चलना है पर मर्यादा एक नीति पर बँधी हो। द्वापर को नीतियुग कहा गया है। महाभारत में पूरा नीतियों पर चलने का संकट है। यह इतिहास है मतलब जैसा हुआ वैसा पूरा व्यक्त करना। यह जितनी कल्पना है, उतनी ही ऐतिहासिक है, उतना तथ्य गहरा है उसमें।

रामायण त्रेता का संग्रहालय है और महाभारत द्वापर का। महाभारत में नीतियों पर चलने में यादृच्छिकता होती है। जैसे कुछ अचानक से गिर गया, भूकम्प आ गया, अचानक हो गया आदि। आपने जुआ खेला, नहीं आए वह नम्बर जो आने थे। तब क्या करें। चीज़ें यादृच्छिकता से पलट रही हैं। नीतियों से यादृच्छिकता सँभलती नहीं जैसे गांधारी ने अपनी आँखों पर पट्टी लगा ली जिससे कि दाम्पत्य जीवन में एकवाक्यता बनी रहे, मतलब जैसा पति देख रहा है, वैसा पत्नी देखे। इसमें अपने बच्चों की त्रुटि न देखना भी छुपा हुआ है। नाट्य बहुत ज़्यादा चलता था पहले, अब उसमें त्रुटि आ गयी और वह ऐसी त्रुटि कि कोई भी दण्डभेद नहीं था। महाभारत का कोई भी पात्र ऐसा नहीं, जिसे अपने किए का दण्ड न मिला हो। श्रीकृष्ण को भी दण्ड मिला। कोई भी पात्र ऐसा नहीं जो दण्ड के योग्य न हो। दण्ड, नीति का ही एक प्रारूपण है। आप ढूँढ के दिखाएँ ऐसे पात्र को जिसे दण्ड न मिला हो। किसी ने अच्छा किया पर उसमें भी नीतिविरुद्ध कुछ हो गया। यह एक क्रम है। सतयुग में सब सही था, धीरे-धीरे अराजकता बढ़ती जा रही है। कलयुग में बढ़ते-बढ़ते इतनी होगी कि फिर ध्वंस होगा, प्रलय होगा। धर्म फिर भी बनाकर रखना है, नहीं तो श्रेष्य व श्रेष्ठता नहीं होगी और अभ्युदय नहीं होगा। अभ्युदय के लिए यह सब करना है, युग बदल रहा है तो क्या हुआ, अभ्युदय तो फिर भी होता है। उत्कर्ष गति तो होना है, वह कैसे सम्भव हो। फिर युग पलटा, यह हम लोगों का युग है। इस बारे में पता नहीं कि अभी क्या चल रहा है पर उचित-अनुचित का सवाल है। यह कला के स्वरूप में है, कला के स्वभाव में है। जैसे चित्रकला में एक छोटा-सा स्तर लगना अर्थपूर्ण है। बड़े कैनवस में छोटा-सा कुछ कर दिया आपने, वह छोटी-सी चीज़ औचित्य विचार है। औचित्य बहुत ही सूक्ष्म होता है और सूक्ष्म विश्लेषण से निकलकर

आता है। किसी कलाकार में यदि कोई विशिष्टता है तो वह औचित्य चिन्तन से ही बनती है। औचित्य चिन्तन के अधीन ही कला के सारे प्रयोग चलते हैं। चित्रकला, नृत्य, संगीत, स्थापत्य, बच्चों के खेल सबमें औचित्य है। औचित्य कला का गर्व है और यह समाज बने, उसका कारण है। औचित्य विचार से सामाजिक बनता है, सामाजिक अर्थात् श्रोता, दृष्टा जो साथ-साथ उठता-बैठता है। बिना औचित्य के साधारणीकरण सम्भव नहीं। उचित-अनुचित का भेद करना मनुष्य के स्वभाव में है और मनुष्य यह भेद स्वतन्त्र रूप से करता है। विभेद के चलते हुए ही सारी कृतियाँ हैं और सारा आस्वादन है उनका। यह कला का गर्व है और इस गर्व के कारण दो फल निकलते हैं। एक फल होता है, समाज की सृष्टि। हम जिसके दबाव में रहते हैं, वह समाज है। उसमें मर्यादाएँ हैं, नीतियाँ हैं, तपस्याएँ हैं। बहुत सारे लोग अपने तप में जल रहे हैं, अपनी पीड़ा में त्रस्त हैं और अपनी मर्यादाओं पर चल रहे हैं। दूसरे लोगों को सिखा रहे हैं। बहुत सारे नीतियों पर चल रहे हैं और बता रहे हैं कि नीतियों पर चलना चाहिए। इन सबके बीच औचित्य-अनौचित्य टिका हुआ है। सभी युगों में कलयुग विशिष्ट है क्योंकि इसके अन्दर औचित्य-अनौचित्य विचार टिका हुआ है। कृतियुग में समाज नहीं था, समाज त्रेता में बना। वह इसलिए कि साधारणीकरण समाज बनने की पूर्वस्थिति है। सामाजिक, नाट्यशास्त्र में एक पारिभाषिक शब्द है। समाज का अर्थ है कुछ भूमिकाएँ जैसे मातृत्व या मैत्री की भूमिका। भूमिका अर्थात् नग्नों का एक विशिष्ट स्कन्ध जैसे मातृत्व करोड़ों माँओं की भूमिका से बना है या करोड़ों मित्रों के क्रियाकलाप से मित्रत्व बना होता है। इस मित्रत्व को हम मर्यादाओं, नीतियों, उचित-अनुचित से समझते हैं। उचित-अनुचित हमारी स्वतन्त्रता है। नीतियाँ और मर्यादाएँ स्मृति में हैं। स्मृति मूल लोक है पर स्मृति से जब कल्पनाएँ बनती हैं, तब हमारी जवाबदेही है। कल्पना, स्मृति और धर्म ये तीन विशेष गुण माने गए हैं वैशेषिकों में। मनुष्य के सामान्यतः नौ विशेष गुण हैं, तीन अदृश्य गुण माने गए हैं। धर्म-अधर्म, स्मृति अदृश्य गुण हैं। इनको दृश्य करना ही अर्थात अदृश्य शक्तियों को दूसरों की दृश्य शक्ति में लाना ही कला का धर्म है। समाज की सृष्टि और कला की सृष्टि की एक ही स्थिति है कि आपकी कल्पना का दृष्टित्व दूसरे के साथ कैसे साझा हो। उसके लिए शरीरीकरण करना पड़ता है। फ़िल्म या नाटक देखते समय, अभिनय करने वाले अपना शरीर किसी चरित्र को दे रहे हैं और उसी चरित्र को आपने पकड़ लिया, प्रवाह में डाल दिया। प्रवाह में डालकर फ़िल्म बना दी, फ़िल्म आप देख रहे हैं। चरित्र, कर्मशरीर युक्त अभिनेता और कर्मशरीर रहित अभिनेता के योग से बनता है, नृत्य-नाटक-फ़िल्म इनके योग से बनती है। इनका योग में विच्छेदन होते ही सब खत्म हो जाता है। दो-ढाई-तीन घण्टे बाद वापस वही सामान्य दुनिया, वही मानसिकता, वही जिम्मेवारियाँ। वही काम करना है, साधारणीकरण टूट जाता है। ऐसा भी हो सकता है कि हरदम पूरी सृष्टि साधारणीकरण में चले? ऐसा सम्भव नहीं। साधारणीकरण परिधि में बँधा होता है। परिधि के बाहर भी सृष्टि है और आपको चलना है। अब अगर वह चरित्र और अभिनेता आप भी हो जाएँ। कुछ भूमिकाएँ आपको भी निबाहनी हैं। किसी मर्यादा, किसी नीति में रहना है और औचित्य को लेकर स्वतन्त्र भी रहना है। फ़िल्म वाले चरित्र जिन पर हम निर्णायक हैं अगर वह अभिनेता हो जाएँ, मतलब उचित-अनुचित का व्यवहार करने लग जाएँ। जैसे श्रोता-दर्शक हैं, फ़िल्म खत्म हो गयी तो व्यवहार लोक में आ जाते हैं। आपका साधारणीकरण टूट गया, अब आपको उचित-अनुचित का निर्धारण करना है, तरह-तरह की दुविधाओं में फँसे हुए। आदमी ऐसे ही चलता है कई भूमिकाओं में खेलता रहता है। उनके अन्दर उनकी मर्यादाओं में चिन्तन करता रहता है, नीतियों और उचित-अनुचित पर चिन्तन करता है, हर व्यक्ति। वह यह चिन्तन दूसरों के नग्न को हाज़िर नाज़िर रखकर करता है। परलोक के नाटक में कर्तव्य नहीं है, मतलब जो भी चरित्र हैं, दुनिया के अन्दर आपके परिचित चरित्र हैं। दो सौ के करीब तो घनिष्ठ चरित्र हैं बाकी थोड़े जनचरित्र हैं। हम लोग बहुत-से, लगभग बीस हज़ार लोगों को जानते हैं, व्यक्तित्व के रूप में। इसमें से कई स्वेच्छाचारी भी हैं, शाहरुख खान वगैरह। कुछ लोग मनमोहन सिंह की बेटी को भी

जानते हैं। नग्न के रूप में, इधर-उधर सुना है इसलिए। ओबामा की दो बेटियाँ हैं, उनको भी जानते हैं। इस तरह बीस हज़ार चरित्रों को हम लोग जानते हैं और हमारी दुनिया उनमें, उन्हीं मर्यादाओं में चलती रहती है। अब ओबामा ने ठीक किया या नहीं, आपको इससे क्या मतलब, पर वह भी चलता है। शाहरुख खान ने सरोगेट बच्चा पैदा किया, उसमें पूरा पैसा दिया या नहीं, उसमें आपको चिन्ता क्या है। पर यह सब चलता रहता है। यह सार्वजनिक जीवन है, एक नाटक-सा चलता रहता है, इसी को समाज कहते हैं। समाज और कला का उत्पत्ति बीज एक है। दूसरी बात है भविष्य की कल्पना, उत्कर्ष गति की कल्पना, अपनी साधना की कल्पना। मतलब क्या करूँ मैं। आजकल बच्चे कहते हैं, मैं क्या करूँ । यह जो विधा में फँसा हुआ आदमी है, बिना कलाओं के, इसमें कला शब्द बहुत विस्तृत हो गया है। यहाँ कला से मतलब सिर्फ़ कविता, चित्रकला, मूर्तिकला, नृत्य, संगीत आदि से ही नहीं है। कला का अर्थ है क्रियाओं में, कर्मेन्द्रियों में कोई भी विशिष्टता होना। ठगी भी एक कला है। कला के जो लक्षण मैं बता रहा हूँ, उसमें यह सब आ रही हैं। चालाकी और झूठ बोलना भी कला है। सही जगह सही झूठ बोल दो और पकड़े न जाओ। कलाओं में क्रियाकलापों का जो चातुर्य है वही शरीरीकरण है। मुँह छुपाना-मुँह दिखाना या अपने चरित्र के अंशों को छुपाना या दिखाना भी कला है, यह बहुत बारीक कला है। सब लोग उन कलाओं में लगे हैं। मतलब एक तो समाज का बनना और दूसरा आगे क्या करना, ये दोनों चीज़ें हैं। यह वास्तव में औचित्य विचार पर टिका हुआ है, क्या चीज़ उचित है, क्या अनुचित है। मैं क्या करूँ, मेरी क्वेस्ट (तलाश) क्या है। प्लेटो कहते थे कि शिक्षा का उद्देश्य है कि जो भी बालक-बालिका है वह अपना चरित्र जान जाए, अपने गॉड्स (इष्ट) समझ जाए। बस वह शिक्षित हो गया। आजकल शिक्षा का उद्देश्य अलग है। यूनान में स्कूल का नाम था, जिम्नेज़ियम। आजकल जिम्नेज़ियम के लिए स्कूल हो गए, यहाँ पर कसरत करते हैं, जिम्नास्टिक करते हैं। जिम्नेज़ियम ऐसा स्थान था जहाँ बालक-बालिका अपने चरित्र ढूँढ पाएँ। शिक्षकों का काम था कि बच्चों को इस दिशा में ढकेलें कि वे अपना चरित्र ढूँढ पाएँ, अपने गॉड्स-गॉडेस को समझ पाएँ। भविष्य क्या है? यह कलाओं में कौशल के चिन्तन पर टिका हुआ है, कलाकृतियों पर टिका हुआ है। भविष्य के बारे में हमारा सारा विचार कलाकृतियों पर टिका हुआ है और यह कोई अभिजात्य कलाकृतियों पर नहीं टिका। जितनी भी कलाएँ हैं, उनकी जो कलाकृतियाँ हैं, उनको मद्देनजर रखते हुए- हाज़िर नाज़िर मानकर, जितने चरित्र हैं आसपास, उनको देखते हुए अपना भविष्य बनाता है आदमी। इस भविष्य में औचित्य-अनौचित्य का विचार रहता है।

(अभिलेखन - मिथलेश शरण चौबे)

कला और राजनीति

उदयन वाजपेयी

व्याख्यान आरम्भ करने से पहले यह अवश्य कहना चाहता हूँ कि मैं अगले कुछ समय में क्या बोलने वाला हूँ, इस बारे में मुझे भी काफ़ी उत्सुकता है। मैं जब भी व्याख्यान देता हूँ या सार्वजनिक वक्तव्य देने की स्थिति में आता हूँ, मैं खुद भी सुन रहा होता हूँ कि मैं क्या बोल रहा हूँ। इसलिए आज भी मैं ठीक अभी आपके बीच ही कहीं बैठा हूँ। यह बैठा हुआ जो दूसरा मैं है, मुझे वह उस व्यक्ति से कहीं अधिक दिलचस्प जान पड़ता है, जो बोल रहा होता है। इसलिए अब जो भी होने वाला है, मेरे लिए भी अधिकांशतः अप्रत्याशित है। मेरे सामने ये जो पत्रे बिखरे हैं, उनमें उसी तरह कुछ लिखा है, जैसे संगीत की स्वरलिपि लिखी जाती है। व्याख्यान के खुलने पर कैसा संगीत प्रकाश में आएगा, शुद्ध संयोग और कृपा से होगा।

मंगलाचरण के रूप में मैं महान रूसी कवियित्री मरीना स्वेतायेवा की चिट्ठी के कुछ अंश उद्धृत कर रहा हूँ–

...येसेनिन को मरना पड़ा क्योंकि उसने अपने नहीं, बल्कि दूसरों के आदेश (समाज के लिए युग के आदेश) को अपना आदेश माना... येसेनिन को मरना पड़ा क्योंकि उसने अपने बदले दूसरों को छूट दी, वह भूल गया कि वह स्वयं संवाहक है : सर्वाधिक निर्बाध संवाहक!

...कवि के लिए राजनैतिक आदेश (वह चाहे जैसा भी क्यों न हो) ग़लत व्यक्ति को सम्बोधित सन्देश है...

मरीना स्वेतायेवा

मैं 'कला और राजनीति' के सम्बन्ध की बात करूँगा। इसमें कलाकार और राजनेता के सम्बन्ध की बात मैं करने वाला नहीं हूँ और न ही कला और राजनेता के सम्बन्ध की। यह सच है कि कलाकार और राजनीति के सम्बन्ध के बीच की बात भी काफ़ी रोचक हो सकती है। आप यह जानते ही होंगे कि राजनैतिक दलों के सहारे आधुनिक युग में लोकतान्त्रिक राजनीति संचालित होती है। शायद यह भी जानते होंगे कि यह घटना मनुष्यता के प्रदीर्घ इतिहास में बहुत नयी है। राजनैतिक दलों के सहारे लोकतान्त्रिक अन्तश्चेतना का प्रतिष्ठापन मनुष्यता के लिए नयी बात है। क़रीब तीन सौ वर्ष पहले तक ऐसा नहीं था। राजनैतिक दल, राजनैतिक दृष्टि से परिचालित होते हैं। मैं यह मानता हूँ– और ऐसा करने के पर्याप्त कारण हैं– कि किसी भी राजनैतिक दृष्टि की पक्षधरता लेखक की वाणी या कलाकार की कृति या नर्तक की रचना की प्रामाणिकता को कम करती है। समाज की अपने लेखकों और कलाकारों से यह अपेक्षा होती है कि वह निष्पक्ष रहकर, बिना पक्षधरता के राजनीति या अन्य विषयों पर विचार करें। मैं यह कहना इसलिए आवश्यक समझता हूँ क्योंकि बीसवीं शती में एक लम्बी अवधि ऐसी बीत गयी है, जहाँ पक्षधरता या राजनैतिक प्रतिबद्धता को बहुत बड़ा कलात्मक मूल्य माना जाता था। इसके कारण अनेक महान कलाकारों की कलाओं का लोगों के मन में जो मान घटा है, उसका अपना एक इतिहास बन चुका है। अगर कोई लेखक या कलाकार किसी राजनैतिक दृष्टि का पक्षधर हो जाता है तो उसका यह धर्म बन जाता है कि वह उस विशेष पक्ष के अँधेरे कोनों पर, उसके अँधेरे पक्षों पर परदा डालता रहे। एक लेखक या कलाकार के लिए इससे अधिक घातक कुछ

हो ही नहीं सकता कि वह किसी एक राजनैतिक पक्ष या दृष्टि के अँधेरे हिस्सों पर, उसके अपने व्यावहारिक आयामों पर, उसकी हिंसा पर परदा डाले। इसलिए मुझे उन बुद्धिजीवियों या लेखक-कलाकारों पर गहरी करुणा उपजती है, जो पक्षधरता को एक बड़ा मूल्य मानकर रचना करते हैं। ऐसे लेखक-कलाकारों ने हमारे व्यापक समाज में अगर अपनी प्रामाणिकता पूरी तरह खो नहीं दी है, तो उसे कम निश्चय ही कर दिया है क्योंकि इससे सबसे बड़ी कठिनाई तब उत्पन्न होती है, जब इस रास्ते धीरे-धीरे समाज में कला मात्र की प्रामाणिकता संदिग्ध होना शुरू हो जाती है।

इसके दो सटीक उदाहरण आपको देकर फिर मैं अपनी बात को 'कला और राजनीति' के दार्शनिक पक्षों के सम्बन्ध पर ले आऊँगा। ये दो उदाहरण दो लेखकों के हैं। एक हैं मैक्सिम गोर्की और दूसरे एज़रा पाउण्ड। संयोग से ये दोनों ही अपने समय के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण लेखक रहे हैं।

मैक्सिम गोर्की अत्यन्त प्रतिभाशाली लेखक के रूप में रूस में सन् १९१७ की क्रान्ति के पूर्व उभरे थे। सन् १९०० के आसपास जब उनकी कृतियाँ प्रकाशित होने लगी थीं और जब उनका पहला कहानी संग्रह आया, उसने जैसे रूसी समाज में उथल-पुथल मचा दी और इसके फलस्वरूप उनका बड़े जोश-ओ-ख़रोश से स्वागत हुआ। लेकिन क्रान्ति के बाद पक्षधर होने के कारण वे धीरे-धीरे सत्ता के निकट आते गये और उन्होंने सोवियत संघ के संस्कृति मन्त्री जैसा व्यवहार करना शुरू कर दिया। यह वह समय था, जब उनकी तमाम कृतियों की विश्वसनीयता रूसी समाज में घटना शुरू हो गयी थी। रूसी भाषा के गोर्की के ही एक समकालीन लेखक ज़मियातिन ने एक अद्‌भुत उपन्यास 'वी' (हम) लिखा है। उनका नाम मुझे मेरे गुरु चित्रकार-चिन्तक जगदीश स्वामीनाथन ने बताया था। उनको सोवियत संघ की कम्युनिस्ट दृष्टि का पक्षधर न होने के कारण अन्तहीन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। वे मैक्सिम गोर्की को व्यक्तिगत रूप से जानते थे। उन्होंने गोर्की पर लिखे अपने निबन्ध में लिखा है : 'पेस्कोव और मैक्सिम गोर्की सन् १९३६ तक साथ रहते थे और १९३६ में पेस्कोव मर गये, गोर्की जीवित रहे आये।' पेस्कोव गोर्की का ही नाम था। वह कौन-सा गोर्की था, जो जीवित रहा आया और वो कौन-सा था जो मारा गया? वह गोर्की जो सत्ता के निकट, कम्युनिस्ट राजतन्त्र का पक्षधर था, जीवित रहा आया और वह गोर्की, यानि पेस्कोव, जो एक ग्रामीण युवक था, सृजनशील था, जिसने मैक्सिम गोर्की के लिए यश की सामग्री जुटायी थी, इस बीच मृत्यु को प्राप्त हो गया।

दूसरा उदाहरण हैं : एज़रा पाउण्ड। वे दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान इटली में, वहाँ के फ़ासीवादी शासक बेनिटो मुसोलिनी के साथ हो गये थे। मुसोलिनी ने भी उनका पर्याप्त दुरुपयोग किया। पर पाउण्ड के ऐसा करने के पीछे सच्ची सद्‌भावना थी। जैसे कि निश्चय ही गोर्की की भी रही होगी। यह बिल्कुल भी नहीं समझना चाहिए कि गोर्की के कम्युनिस्ट पार्टी के निकट आने के पीछे कोई निजी स्वार्थ रहा होगा। ऐसा सम्भवतः बिल्कुल नहीं था। उनकी भी सच्ची सदिच्छा थी कि वे लेखकों-कलाकारों की भयावह कम्युनिस्ट तन्त्र में मदद कर सकें। लेकिन दुर्भाग्य से कला और साहित्य की यह प्रकृति नहीं है कि वे सत्ता की छाया में रह सकें। कला और साहित्य की मोम सत्ता की आँच में पिघलकर बराबर हो जाती है और फिर वे वह प्रकाश नहीं दे पातीं जो उनसे निरन्तर उत्पन्न होता है। एज़रा पाउण्ड का क़िस्सा दिलचस्प हैः वे मुसोलिनी के निकट इसलिए गये थे, क्योंकि उनको लगा था कि अर्थशास्त्री सिल्वियो गैसेल की सामाजिक ऋण की अवधारणा को स्वीकार करने के कारण मुसोलिनी के राज्य में आधुनिक काल में शायद पहली बार लेखकों-कलाकारों को सामाजिक प्रश्रय देने की सम्मानजनक योजना बन सकेगी। उनके मन में यह स्पष्ट था कि वे एक ऐसे व्यक्ति की सत्ता के निकट जा रहे हैं जो लेखकों, कलाकारों, फ़िल्मकारों, रंगकर्मियों आदि को समाजाश्रय देने की कोई व्यवस्था कर सकेगी। आप यह जानते ही होंगे कि आधुनिक आर्थिक व्यवस्था में लेखकों-कलाकारों के

लिए सहज समाजाश्रय पाना लगभग असम्भव हो गया है। यह आधुनिक लोकतान्त्रिक व्यवस्था का अनसुलझा प्रश्न है और इसलिए भी कला और राजनीति के सम्बन्ध पर निरन्तर विचार किया जाना चाहिए। यह प्रश्न पारम्परिक भारतीय समाज में बहुत हद तक सुलझा लिया गया था। वहाँ कलाओं को तरह-तरह से प्रश्रय दिया जाता था। उसकी अलग-अलग व्यवस्थाएँ बनी हुई थीं पर आधुनिक लोकतन्त्र में यह गड़बड़ा गया है। एज़रा पाउण्ड को यह लगा था कि सम्भवतः वे मुसोलिनी के निकट जाकर सिल्वियो गैसेल के सुझाये मार्ग से लेखकों-कलाकारों के प्रश्रय की समस्या का स्थायी हल स्थापित कर पाएँगे। यह वे अपने लिए नहीं कर रहे थे।

एज़रा पाउण्ड द्वितीय विश्वयुद्ध के पहले तक एक महान आधुनिक लेखक और चिन्तक की तरह प्रतिष्ठित हो चुके थे। उन्होंने टी.एस. इलियट, जेम्स ज्वाइस और अर्नेस्ट हेमिंग्वे जैसे महान लेखकों को स्थापित करने में केन्द्रीय भूमिका निभायी थी। उनकी लिखी प्रसिद्ध कविताएँ 'केण्टोज़' सारे बड़े कवियों को याद रही आती थी। वे इतने बड़े कवि थे। पर वे मुसोलिनी के निकट गये और उसके बाद उनका जीवन नारकीय हो गया। उनके अपने देश अमेरिका में उन पर फ़ासीवाद को समर्थन देने का मुक़दमा चला, उन पर देशद्रोह का आरोप लग सकता था। पर उन्हें विक्षिप्त करार कर दिया गया और पागलखाने में क़रीब तेरह वर्षों तक रखा गया। इसके पहले तक उन्हें इटली में युद्ध के बाद एक बड़े-से पिंजरे में बन्द किया गया था और तरह-तरह से अपमानित किया गया था। ऐसे एज़रा पाउण्ड, जिन्होंने बीसवीं शती में आधुनिक साहित्यिक परिवेश को पोषित करने में महती भूमिका निभायी थी, जो स्वयं एक महान लेखक थे, उन्हें पिंजरे में बन्द किया गया था। बाद में दुनिया भर के लेखकों के आग्रह पर उन्हें रिहा किया गया। तब वे दक्षिण इटली के एक पुराने क़िले में जाकर रहने लगे। यह उनकी मित्र का क़िला था। वे दिन-दिन भर दीवार की तरफ़ मुँह किये बैठे रहा करते थे। एज़रा पाउण्ड असल में यहूदियों के विरुद्ध नहीं थे, वे लेखकों-कलाकारों के समाजाश्रय की किसी स्थायी व्यवस्था के बन सकने की सम्भावना को खोज़ते हुए मुसोलिनी की राजनीति के निकट चले गये थे। उन्होंने उसका पक्ष लिया था और इसकी क़ीमत उनके साहित्य को आज भी चुकानी पड़ रही है।

इसलिए यह न मानने का कोई कारण नहीं है कि राजनैतिक पक्षधरता या नामजाप लेखक-कलाकार को कुछ दिनों के लिए भले ही प्रतिष्ठित कर दे, पर अनुकूल समय बीत जाने पर इसी कारण से उसकी रचना की प्रामाणिकता कम होने लगती है। लेखक और कलाकार होने की यह विडम्बना है कि वह अपनी पसन्द की राजनीति के साथ भी अपने कलाकार या लेखक होने के कारण खड़ा नहीं रह सकता। उसे हर राजनैतिक दृष्टि से प्रश्नांकन की दूरी बनाना अनिवार्य है। यही उसकी कला या साहित्य का धर्म है। उसका धर्म यानि उसका एथिक्स है जिसे ग्रीक भाषा में 'एथिक' कहा जाता है।

कला और राजनीति के सम्बन्ध पर आने के पहले हमें यह समझ लेना होगा कि कला और राजनीति दोनों का आधार, किसी भी अन्य अनुशासन की तरह, विद्याएँ होती हैं। आप यह सोचें कि कला का आधार तो विद्याएँ हैं पर राजनीति बिना किसी ज्ञान-व्यवस्था के उत्पन्न हो जाती है, आप ग़लत सोचेंगे। जैसे कला का आधार कुछ विद्याएँ होती हैं, ज्ञान की परम्पराएँ होती हैं, जीवन दृष्टियाँ होती हैं, वैसे ही राजनीति का आधार भी किन्हीं विद्याओं में होता है। अगर आज दुनिया में लोकतान्त्रिक राजनीति है तो यह जान लेना चाहिए कि इसे तैयार करने में अनेक राजनैतिक चिन्तकों ने योगदान दिया है। इन्होंने ही तरह-तरह से लोकतान्त्रिक राजनीति के व्यवहार की आधारशिला रखी है। अगर हम आज लोकतान्त्रिक राजनीति की आलोचना कर पाते हैं, उसे प्रश्नांकित कर पाते हैं, यह इसलिए हो पाता है कि हमें इन विद्याओं की जानकारी होती है, उन्हीं के आलोक में हम यह प्रश्न उठाते हैं, 'ये अपवाद कर रहे हैं, ये अपने मार्ग से भटक रहे हैं।'

चूँकि राजनीति और कला दोनों के दार्शनिक आधार हैं, उनका आधार ज्ञान है इसलिए इनकी साथ चर्चा की जा सकती है। वरना यह प्रश्न उठना स्वाभाविक होता कि 'राजनीति और कला' में क्या जोड़ है? राजनीति तो एक व्यावहारिक चीज़ है। बिल्कुल है पर कला भी व्यावहारिक चीज़ है, उसे भी व्यवहार में लाना होता है, आपको नाटक 'करना' पड़ता है, चित्र 'बनाना' पड़ता है, कविता 'लिखना' पड़ती है। सच मानिये इसमें बहुत कौशल लगता है। यह मैं इसलिए नहीं कह रहा कि मैं स्वयं कवि हूँ। मैंने चित्रकारों और रंगकर्मियों और फ़िल्मकारों को काम करते देखा है, वे सभी अत्यन्त कुशल लोग भी हैं। इस कौशल का आधार विद्याएँ हुआ करती हैं। 'हाथ (और पैर आदि शरीर के अन्यान्य अंग-प्रत्यंग) भी सोचते हैं' जर्मन दार्शनिक मार्टिन हाइडेगर ने अपने एक व्याख्यान में कहा था। कौशल भी बिना चिन्तन के सम्भव नहीं। यह ठीक वैसा ही है, जैसा राजनेता के साथ है। मुझे याद है कि फ़िल्मकार ऋत्विक घटक कहते थे कि हर कलाकार या लेखक सबसे पहले मिस्त्री होता है।

कोई मुझसे कह रहा था कि राजनीति में कलाकारों को क्यों नहीं आना चाहिए? इस पर मैं सोचता हूँ कि राजनीति की अपनी साधना होती है। आजकल इसके अनेक अपवाद हो गये हैं, ऐसे कई राजनेता अब राजनीति के अनेक स्तरों पर हैं, जो बिना किसी साधना के या राजनीति के ज्ञान के राजनैतिक दलों में शीर्ष स्थानों पर विराजमान हैं पर मोटे तौर पर राजनीति में अधिकांश लोग परिश्रम के रास्ते ही आते हैं और इस परिश्रम की आलोचना नहीं होनी चाहिए, इसका वैसा ही सम्मान होना चाहिए जैसा अन्य विद्याओं का होता है।

मुझे यह कहने की अनुमति दें कि कला और साहित्य समाज का मानस लोकतान्त्रिक राजनीति के लिए तैयार करते हैं। शायद यह दूर की कौड़ी लग सकती है पर अगर भारतीय ज्ञान परम्पराओं पर दृष्टि डालें, आप पाएँगे कि इस प्रश्न पर यहाँ गहरा विचार हुआ है। दसवीं शताब्दी के कालजयी संगीतशास्त्री आचार्य मतंग ने अपने ग्रन्थ 'बृहद्देशी' में कलाओं को दो कोटियों में विभाजित किया है : एक देशी, दूसरी मार्गी। मैं उसकी बहुत व्याख्या में नहीं जाऊँगा पर इतना कह दूँ कि देशी कलाएँ वे हैं, जो अलग-अलग अंचलों (दैशिक अवकाशों) में अपेक्षाकृत अलग-अलग हुआ करती हैं। यह बात अलग है कि चूँकि भारत के सभी अंचलों में सांस्कृतिक नैरन्तर्य है (जिसे हम बहुवचनात्मकता नाम से ग़लत रूप में चिह्नित करते हैं) इसलिए सभी अंचलों की देशी कलाओं में एक-दूसरे से निरन्तरता है पर वे हर अंचल की अपनी हुआ करती हैं। दूसरी तरह की कलाएँ मार्गी हैं। ये 'इन्वेन्टिव', अन्वेषणात्मक होती हैं। इनमें लेखक या कलाकार कुछ नया करते हैं। इनका स्वरूप कुछ ऐसा होता है, जो कुछ नया किये बगैर बनता ही नहीं जबकि देशी कलाएँ दोहरावपूर्ण होती हैं पर इस दोहराव का एक बड़ा ही सूक्ष्म प्रयोजन है। इनके सहारे समाज में सामूहिकता बोध उत्पन्न होता है। आप देखेंगे कि अलग-अलग अंचलों में, जैसे बुन्देलखण्ड में गाये जाने वाले लोकगीत या चित्र या रंगकर्म न सिर्फ़ एक दूसरे से जुड़े होते हैं, बल्कि उनके चलन के विषय में सभी को जानकारी होती है। इसी तरह केरल में ओणम् के अवसर पर लोग भूमि पर सुन्दर आकार बनाते हैं और उन्हें दो-एक दिन बाद मिटा देते हैं। उसे रंगोली जैसे ही खूबसूरत रंगों से बनाया जाता है और मिटा दिया जाता है, लेकिन केरल के लोगों को यह पता होता है कि क्या बनाया गया था और फिर मिटा दिया गया।

इस पता होने में और दोहराव में उस अंचल के सभी लोग शामिल होते हैं। लोकनृत्य में भी यही कुछ होता है। सभी को यह पता रहता है कि किस बोल पर कैसे गतियाँ की जानी हैं। उनके लिए उसमें दरअसल दोहराव का ही आनन्द मिलता है और सभी इन देशी गीतों-नृत्यों में भागीदारी करते हैं। इस भागीदारी के कारण उनमें सामुदायिक बोध उत्पन्न होता है। वे यह अनुभव करने लगते हैं कि वे समाज नामक एक अपेक्षाकृत व्यापक सत्ता के भागीदार हैं। दूसरे शब्दों में, देशी कलाओं का प्रयोजन आनन्द देने के साथ-साथ सामुदायिक बोध को जन्म देने का भी होता है। हर

समाज को इसके लिए अन्यान्य युक्तियाँ आविष्कृत करनी पड़ती हैं। देशी कलाओं के दोहराव के पीछे यही कारण दिखता है।

दूसरी तरफ मार्गी कलाओं का धर्म प्रश्नांकन करना होता है, वे कलामात्र के स्वरूप पर अपने भीतर से प्रश्न उठाती हैं। जैक्सन पोलॉक अमरीका के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण चित्रकार माने जाते हैं। उन्होंने क्या किया था? अपने कुछ चित्रों में उन्होंने एक बड़ा कैनवस लिया और उस पर हाथ और ब्रश से रंगों के छींटे मारे। इन छींटों से ही पूरी चित्रकृति बनायी। उनकी ऐसी अनेक चित्रकृतियाँ जग-प्रसिद्ध हैं पर वे ऐसे कलाकार नहीं थे जिनको आकृतियाँ बनाना न आता हो। वे उसमें निष्णात थे। आँख मूँदकर भी घोड़े का या पेड़ का या आदमी का या कैसी भी आकृति का चित्र बना सकते थे, लेकिन उन्होंने यह सब छोड़कर चित्र रचना का एक बिल्कुल ही नया मार्ग खोजा, जिसे देखकर दर्शकों के मन में प्रश्न सहज ही उठा कि- इस चित्रकृति को कला कैसे कहा जा सकता है? इस तरह के प्रश्नों को दर्शकों या पाठकों या श्रोताओं के मन में उत्पन्न करना मार्गी कला का वैशिष्ट्य हुआ करता है। वह आपको न सिर्फ़ अपने स्वरूप बल्कि मनुष्य मात्र की स्थिति पर प्रश्नांकन को उत्प्रेरित करती है। यह प्रश्नांकन लोकतान्त्रिक सामाजिक व्यवस्था के लिए नितान्त आवश्यक हुआ करता है। लोकतान्त्रिक सामाजिक व्यवस्था के लिए दो बुनियादी तत्त्वों की आवश्यकता होती है : पहली सामुदायिकता बोध, जहाँ नागरिकों को यह चेतना हो कि वे किसी व्यापक समूह के अंश हैं। दूसरा तत्त्व प्रश्नांकन-सामर्थ्य और विवेक की उपस्थिति का है, जहाँ नागरिकों में यह सहज चेतना होती है कि वे समाज के विभिन्न कार्यकलापों पर प्रश्न उठा सकते हैं और इसके लिए उनकी तैयारी रहती है (पर यह याद रखें कि प्रश्न उठाना और शंकालु होने में फ़र्क है, प्रश्न उठाना स्वस्थ कर्म है और उसके लिए बौद्धिक संघर्ष करना पड़ता है जबकि निरन्तर हर चीज़ पर शंका करना हमारे बौद्धिकों ने आधुनिक पश्चिम से सीख लिया है और इसके लिए बौद्धिक उद्यम की ज़रूरत नहीं पड़ती)। मार्गी कलाएँ हमारे समाज में प्रश्नांकन की प्रवृत्ति को संचरित करती हैं और देशी कलाएँ सामुदायिक बोध को, इसलिए ये दोनों ही समाज में लोकतान्त्रिक मूल्यों की अन्तश्चेतना की पीठिका का निर्माण करती हैं। इन्हीं लोकतान्त्रिक मूल्यों के कारण लोकतान्त्रिक राजनीति सम्भव हो पाती है। यह कहा जा सकता है कि कलाएँ मनुष्य को आनन्द और उसके रास्ते आत्मबोध प्रदान करने के साथ-साथ राजनीति के क्रियान्वयन के लिए परिवेश बनाती हैं।

दूसरी ओर राजनीति का यह धर्म है कि वह ऐसा परिवेश बनाने की चेष्टा करती रहे जिसमें कला-साहित्य स्वायत्त रूप में विकसित हो सकें। इसका आशय यह है कि वह कलाओं से यह अपेक्षा न करे कि उसे इस तरह होना चाहिए या उस तरह। कलाओं से अपेक्षा रखने से राजनीति स्वयं अपने धर्म से स्खलित हो जाती है। इसलिए जिन कम्युनिस्ट या अन्य सत्ताओं ने कला-साहित्य पर इस तरह के दबाव डाले, वहाँ राजनीति का स्थान नौकरशाही ने ले लिया और लोकतान्त्रिक मूल्यों को नष्ट किया गया। कलाकार की स्वतन्त्रता और कला की स्वायत्तता को पूरा स्थान देते हुए राजनीति का यह धर्म है कि उससे ऋण वसूल न करे जैसे लोग विवाह में दहेज वसूल करते हैं, राजसत्ता या राजनीति को कला से किसी भी तरह का दहेज वसूल करने का अधिकार नहीं है। ऐसा इसलिए है क्योंकि राजनीति या राजसत्ता का यह धर्म है कि वह ऐसा परिवेश बनाये जिसमें अन्यान्य अनुशासन सहज रूप से पुष्पित-पल्लवित हो सकें। मैं इस व्याख्यान के अन्त में यह बताने का प्रयत्न करूँगा कि राजनीति का यह धर्म क्यों महत्त्व का है।

पर तब भी यह प्रश्न उठता रहता है कि कला को स्वायत्तता क्यों चाहिए? कलाकार को स्वातन्त्र्य की क्या आवश्यकता है? उसके सामने भी एक समाज है, उसे भी उस समाज की देख-रेख करना चाहिए, उसे भी समाज की बुराइयों पर प्रश्न उठाने चाहिए। उसे भी ऐतिहासिक विसंगतियों पर नज़र रखनी चाहिए। उसकी कला को स्वयात्तता की

आवश्यकता क्यूँ है? मैं इस बात को आगे बढ़ाऊँ, इसके पहले ही यह कहना ज़रूरी लगता है कि मैं 'आर्ट फॉर ऑर्ट सेक' की बात नहीं कर रहा। दरअसल यूरोप में एक ख़ास समय में 'एंगेज्ड राईटिंग' या आर्ट यानि प्रतिबद्ध कला के नाम से विचारधारा सम्मत कला का आन्दोलन चला था। उन्होंने ही कला की स्वायत्तता को लांछित करने इस तरह के पद गढ़े थे। अब वह समय बीत चुका है। इसी तरह सोवियत संघ के तानाशाह जोज़ेफ स्टालिन ने 'सोशलिस्ट रियलिज़्म' और 'रूपवाद' जैसे पद गढ़े थे। इन पदों का केवल इतना ही प्रयोजन था कि जिन लेखकों-कलाकारों के विचारों से वहाँ की प्रमुख (बल्कि एकमात्र) राजनैतिक सत्ता असहमत होती थी, उसे रूपवादी कहकर उसकी कृतियों को समाज के लिए अनुपयुक्त ही नहीं, घातक बताकर उसका प्रकाशन रोक दिया जाता था या उसे देश छोड़ने पर बाध्य किया जाता था। मैं कला के उस नकली विभाजन की चर्चा नहीं कर रहा।

एक कलाकार को यह अधिकार है कि वह यह तय करे कि उसे समाज की अगर किसी विसंगति को आलोकित करना है, वह कौन-सी विसंगति हो या वह यह भी तय कर सकता है कि उसे किसी भी विसंगति को आलोकित नहीं करना है। वह जीवन भर धूप पर कविताएँ लिखे या उम्र भर घास के चित्र बनाता रहे। भारत के एक श्रेष्ठ चित्रकार परमजीत सिंह हैं, वे लम्बे समय से यही कर रहे हैं। महान चित्रकार और चिन्तक जगदीश स्वामीनाथन वर्षों तक चिड़िया-पहाड़ और उनकी छायाएँ चित्रित करते रहे और यह करके उन्होंने अपने समाज को समृद्ध ही किया है। कला की स्वायत्तता इसलिए आवश्यक है क्योंकि गणित के अलावा कला और साहित्य ही ऐसे रूपाकार हैं जो सिर्फ़ स्वायत्तता में ही पुष्पित-पल्लवित होते हैं। उनका लक्ष्य सौन्दर्य का सृजन और उस मार्ग से सत्य तक या कम से कम सत्य की छाया तक पहुँचने का होता है। अगर आप किसी बड़े गणितज्ञ से पूछेंगे कि संख्या सिद्धान्त (नम्बर थ्येरी) का क्या प्रयोजन है, वह कहेगा कि उस रास्ते अनेक खूबसूरत सूत्र बनते हैं। ऐसा ही कुछ भारत के कालजयी गणितज्ञ रामानुजन् के सूत्रों के विषय में अनेक गणितज्ञों का मत है : वे अत्यन्त सुन्दर हैं। भारत के एक प्रसिद्ध गणितज्ञ प्रो. डी.एन. मिश्रा एक बार मुझे बता रहे थे कि जब एक गणितज्ञ को बीसवीं शती की शुरुआत में यह बताया गया कि तुम्हारे गणितीय विचारों का उपयोग होने लगा है; उसे दिल का दौरा पड़ गया। क्या आप ऐसी कोई कल्पना कर सकते हैं? यह इसलिए हुआ होगा क्योंकि गणित स्वयं के लिए किया जाता है, उसका आनन्द उसके भीतर है। कला गणित जैसी स्वायत्तता प्राप्त नहीं कर सकती। वह भाषा या रंगों या गतियों में चरितार्थ होती है और इन सभी का सम्बन्ध कला से इतर मानवीय व्यापारों से भी है पर उसकी आकाँक्षा उसी स्वायत्तता को पाने की है। इसका अर्थ यह नहीं कि कला और साहित्य का कोई नैतिक पक्ष नहीं होता, वह बिल्कुल होता है, पर उसके स्रोत अलग होते हैं।

कला और राजनीति की नैतिक दृष्टियों के स्रोत अलग-अलग हैं। इसका विस्तार करने से पहले अगर मैं भरतमुनि की तरह एक सूत्र कहूँ तो कह सकता हूँ कि कला में सौन्दर्य सृजन से नैतिक दृष्टि उत्पन्न होती है जबकि राजनीति का सौन्दर्य उसकी नैतिक दृष्टि और आचरण से उत्पन्न होता है। इस अर्थ में ये दोनों अनुशासन एक दूसरे के विपरीत हैं। (हालाँकि कला को अनुशासन कहना पूरी तरह सही नहीं है क्योंकि कलाओं का धर्म स्वयं अपने पर आरोपित शासन को निरन्तर भंग करना हुआ करता है इसीलिए उसे 'नियतिकृत नियमरहितां' संज्ञा से विभूषित किया जाता है।) कला और राजनीति का नैतिक दृष्टि से विपरीत सम्बन्ध भले हो पर इसीलिए ये एक दूसरे के निकट भी आ जाते हैं और इनके बीच संवाद हो सकता है।

इस प्रश्न पर थोड़ा-सा ठहरना चाहिए कि मैं कला और राजनीति के सम्बन्ध पर क्यों विचार करना चाहता हूँ। कारण मैं बता चुका, एक बार फिर उसे ही कहने की कोशिश करता हूँ : राजनीति में भी नैतिक दृष्टि हुआ करती है,

अगर नहीं है तो होनी चाहिए क्योंकि नैतिक दृष्टि के बिना राजनीति सम्भव नहीं है। उस नैतिक दृष्टि से आप असहमत हो सकते हैं या सहमत, उस पर प्रश्न उठाएँ या उसका अनुमोदन करें, वह सब सम्भव है। इसी तरह कला में भी एक आयाम नैतिक दृष्टि का हुआ करता है पर यह बात बार-बार दोहराने की है कि इन दोनों नैतिक दृष्टियों के स्त्रोत नितान्त भिन्न होते हैं। इस सम्बन्ध की प्रकृति में झाँकने का प्रयोजन यह है कि यह सम्बन्ध असन्तुलित होते ही कला और राजनीति दोनों की हानि का कारण बन जाता है।

राजनैतिक कर्म में नैतिक दृष्टि का स्त्रोत 'सर्वजन हिताय' के उसके उद्देश्य में हुआ करता है। राजनैतिक कर्म के पीछे हरेक नागरिक का हित होना ही उसे लोकतान्त्रिक बनाता है। यह एक ऐसी अर्हता है जिससे समझौता नहीं किया जा सकता इसीलिए एक अच्छा राजनेता या राजनैतिक कर्म या लोकतान्त्रिक-राजनैतिक कर्म उसे ही माना जाता है, जिसमें सर्वजन के हित की सम्भावना चरितार्थ होती हुई दिखायी देती है। राजनीति वचन से नहीं, कर्म से संचालित होती है। कला में इसके ठीक विपरीत वचन प्रधान होता है, हालाँकि उसके लिए कर्म करना होता है। चित्रकला कर्म या काव्यकर्म के फलस्वरूप ही चित्र या कविता लिखी जाती है। दूसरे शब्दों में कवि के लिए उसका वचन ही कर्म है। राजनीति में कर्म ही राजनेता का वचन है। राजनेता से यह अपेक्षा करना कि वह आपको अच्छी बातें सुनाये और सुना-सुनाकर ठग ले, अच्छे नागरिक का गुण नहीं है। लोकतन्त्र का सजग नागरिक राजनेता का वचन नहीं, कर्म देखता है। वह यह देखता है कि किसी दल विशेष या किसी राजनेता के कर्म का क्या रूप है। यह हममें से किसी से भी अब तक छिपा नहीं रहना चाहिए कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद से हमने राजनीति में वचन को प्रमुख मानकर बहुत धोखा खाया है। यह मानना होगा कि इतने बरसों की स्वतन्त्रता के बाद भी हम इसीलिए समकालीन लोकतन्त्र के सजग नागरिक नहीं हो पाये हैं। लोकतान्त्रिक व्यवहार राजसत्ता और नागरिकों की भागीदारी से सक्रिय होता है। सिर्फ़ राजसत्ता के लोकतान्त्रिक होने भर से व्यापक समाज में लोकतान्त्रिक मूल्यों की प्रतिष्ठा नहीं होती। उसके लिए विवेकवान नागरिकों का होना अनिवार्य होता है। उसमें वचन और कर्म की अपनी मर्यादा में अन्तर करने का विवेक होना चाहिए।

जिस तरह आधुनिक राजनीति में नैतिक दृष्टि का प्रवेश 'सर्वजनहिताय' के मूल मन्त्र से होता है, कला के नैतिक आयाम का उत्स औचित्य विवेक है। ये दोनों अलग-अलग मार्ग ही नहीं अलग-अलग नैतिकता के स्वरूप भी हैं। दूसरे शब्दों में ये अलग-अलग नैतिकताएँ हैं। मैं समझता हूँ, इनकी यह भिन्नता, इन नैतिकताओं का बहुस्तरीय होना समाज को समृद्ध करता है क्योंकि ये विभिन्न स्तर एक दूसरे को गहन बनाते हैं या एक दूसरे को गहरायी प्रदान करते हैं और उन्हें एकमात्र सम्प्रभुता सम्पन्न नैतिक संहिता होने से बचा लेते हैं। इस कारण इन तमाम नैतिकताओं में गति और ऊर्जा का निरन्तर संचार होता रहता है। आज जिन्हें पेगन समाज कहा जाता है, जिनमें भारत जैसे देशों को भी शामिल किया जाता है, उनमें नैतिकताओं के ये विभिन्न स्वरूप एक-साथ रहा करते हैं और एक दूसरे को प्रश्नांकित और ऊर्जस्वित करते रहते हैं।

यह सोचना उचित नहीं है कि भारत के लोकतान्त्रिक मूल्यों का स्त्रोत यूरोप रहा है और यह कि यहाँ आधुनिक लोकतन्त्र जैसा लोकतन्त्र नहीं रहा। भारत में लोकतन्त्र के अनेक प्रकार पहले भी रहे हैं। उन पर विस्तार से चर्चा का यहाँ अवकाश नहीं है पर यह कहना पर्याप्त होगा कि यहाँ पंचायतों आदि के सहारे राज्य होता था और यहाँ के अधिकतर शासक बड़े नहीं, छोटे ही थे, कभी सर्वशक्तिमान शायद ही हो पाये थे। समाज में कुछ ऐसी रीतियाँ प्रचलित थीं जिनके कारण ये शायद ऐसा होने से निरन्तर बच जाते थे। हर बारह साल में अपने क्षेत्र के कुम्भ मेले में लगभग पूरे राजकीय खज़ाने को खाली कर देना ऐसा ही एक नियमित अनुष्ठान था। लेकिन यहाँ की राजनीति के

'सर्वजनहिताय' पक्ष को उजागर करती एक घटना मैं आपको सुनाता हूँ :

सन् १४२१ में एक चीनी जहाज़ी बेड़ा, जिसमें ३१७ बड़े जहाज़ थे, ज़्यांग ही नामक एडमिरल के नेतृत्व में भारत के पास से गुज़र रहा था। आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि यह बेड़ा अमेरिका तक गया था। एशिया से यूरोप होता हुआ अमेरिका तक का पहला मानचित्र यूरोपियों ने नहीं, मिंग राज्य के इन खोजी चीनियों ने अन्वेषित किया था। ब्रिटेन की सबमेरिन सेना के कमाण्डर गेविन मेन्ज़ीज़ ने वर्षों के शोध पर आधारित अपनी वृहदाकार पुस्तक '१४२१ : द ईयर चायना डिस्कवर्ड अमेरिका' में पुष्ट प्रमाणों के आधार पर यह दर्शाया है कि किस तरह चीनी जहाज़ी बेड़े ने चीन से अमेरिका तक का समुद्री मार्ग तय किया था। उन्होंने यह भी विस्तार से लिखा है कि किस तरह चीन के दरबार से इस यात्रा के मानचित्र की प्रति इटली के राजदूत निकोला द्वितीय को दी गयी थी और उसने उसे पुर्तगाल के सम्राट को भेंट कर दी थी। लगभग सत्तर वर्ष बाद क्रिस्टोफ़र कोलम्बस ने इसी मानचित्र के सहारे पुर्तगाल से अमेरिका तक की यात्रा सम्पन्न की थी। ज़्यांग ही का यह जहाज़ी बेड़ा अमेरिका जाते हुए चार महीनों के लिए कालिकट (केरल) में रुका था। इस बेड़े में अट्ठाईस हज़ार यात्री थे, जिन्होंने कालिकट का आतिथ्य ससम्मान ग्रहण किया था। चीन के जहाज़ उन दिनों यूरोप के किन्हीं भी जहाज़ों से लगभग दो सौ गुना बड़े और अपेक्षाकृत कहीं अधिक सुसज्जित हुआ करते थे। उन दिनों यूरोप में सबसे बड़े जहाज़ वेनिस में बनते थे और वे भी चीनी जहाज़ों की तुलना में बहुत छोटे होते थे। चीनी जहाज़ों में लगभग हमेशा ही इतिवृत्तकार (क्रानिकलर्स) भी अन्य नाविकों के साथ यात्रा करते थे। ये लोग जो कुछ भी यात्रा में घटता था, उसे लिख लेते थे। चीनी जहाज़ी बेड़े के इतिवृत्तकार ने लिखा है कि कालिकट अद्‌भुत जगह है और यहाँ का शासन भी निराला है। यहाँ हिन्दू बहुसंख्यक हैं और शासक मुसलमान लेकिन तब भी गाय काटने पर पाबन्दी है। इस एक लक्षण से यह अनुमान लग सकता है कि तब कालिकट में 'सर्वजनहिताय' की राजनीति ही व्यवहार में लायी जा रही होगी और उसी से उस व्यवस्था में वह सौन्दर्य उत्पन्न हुआ होगा जिसे इस इतिवृत्तकार ने दर्ज़ करना आवश्यक समझा। यह इसलिए भी दर्ज़ किया गया होगा क्योंकि यह चीन की अपनी इम्पीरियल व्यवस्था से नितान्त भिन्न था। चीन में राजाज्ञा ही सर्वोपरि हुआ करती थी और वह इतिवृत्तकार उससे नितान्त भिन्न भारतीय सभ्यता की शक्ति के कालिकट में दर्शन कर रहा था, जहाँ 'सर्वजनहिताय' राजनेता या राजनीति की बाध्यता थी। इसे सभ्यता की शक्ति ही मानना होगा। यह किसी व्यक्ति विशेष की सद्‌भावना भर नहीं है। इतना अवश्य है कि भारत के शासकों में यह विवेक रहा है कि वे अपनी सभ्यता की शक्ति को पहचान सकें। मेरी दृष्टि में यह सिर्फ़ भारत ही नहीं पूरे संसार के लिए मूल्यवान धरोहर है।

मैं कलाओं की नैतिक दृष्टि के उत्स पर जाऊँ, इससे पहले मैं आपके साथ एक दिलचस्प तथ्य बताना चाहता हूँ। भारत में आज जब हम कला शब्द का प्रयोग करते हैं, उसमें बहुत थोड़े-से रूपाकार आते हैं। हम अधिक से अधिक साहित्य, चित्रकला, सिनेमा, रंगकर्म, शिल्प आदि रूपाकारों की ही चर्चा कर रहे होते हैं, ये सारे रूपाकार कुल मिलाकर दस-बारह से अधिक नहीं निकलेंगे। पारम्परिक भारतीय मनीषा में चौंसठ कलाएँ स्वीकृत हैं। ये कम से कम हैं। इनकी एक सूची वात्स्यायन के 'कामसूत्र' में दी गयी है। 'ललित विस्तर' में ऐसी ही सूची में कलाएँ १०८ हैं। मैं आपको 'कामसूत्र' में लिखी चौंसठ कलाओं में से कुछ के विषय में बताता हूँ। वहाँ नृत्य-संगीत-वादन-चित्र आदि को तो कला कहा ही गया है पर इनके अलावा भी अनेक कलाओं का उल्लेख है : 'पुष्पास्तरणम्', घर या कमरों को फूल से सजाना, 'दशवसनांगरागः', शरीर, कपड़ों और दाँतों को रंगना, इसमें 'गुदना' भी आ जाता है। 'उदकवाद्यम्', पानी को इस तरह बजाना कि उससे पखावज की आवाज़ निकले, 'माल्यग्रथनविकल्पः', तरह-तरह की मालाएँ गूँथना, 'हस्तलाघवम्', हाथ की सफ़ाई, 'विचित्रशाकयूषभक्ष्यविकारक्रिया', तरह-तरह से साग, तरकारी और भोजन

बनाने का कौशल। हमारी बड़ी बहन तरह-तरह के व्यंजन पकाती हैं और फिर हम पर उनका प्रयोग करती हैं। यह कला है। 'पुस्तकवाचनम्' पुस्तकें पढ़ना, 'तक्षकम्', बढ़ईगिरी करना। वास्तु विद्या तो है ही पर 'यन्त्रमातृका', स्वचालित यन्त्रों को बनाना और 'निमित्तज्ञानम्', शगुन विचार करना भी कलाएँ ही हैं। यह विचार करना कि कब कार्य शुरू करना है कब नहीं, यह बताना कला है। 'वैननियकीनां विद्यानां ज्ञानम्', आचार शास्त्र या विनय सिखाने वाली विद्या भी कला है। इसका अर्थ यह है कि उद्दण्ड व्यक्ति कलात्मक नहीं है।

अब हम यह समझने का प्रयास करते हैं कि कला में नैतिक आयाम कैसे उत्पन्न होता है, उसके स्रोत क्या होते हैं। पर इससे पहले यह देखना होगा कि हमारी परम्परा में कला के स्वरूप पर क्या विचार हुआ है। मैं जानबूझकर यह परीक्षण भारतीय पारम्परिक दृष्टि से करना चाहता हूँ। यह आत्ममन्थन का समय है और मेरे गुरु निर्मल वर्मा ने अपने एक निबन्ध में लिखा है :

> जब एक सभ्यता अपना आत्ममन्थन करती है अपने अतीत का, उसे अपने जो बिम्ब हैं, प्रतीक हैं और अन्तर्दृष्टियाँ हैं, उनके आईने में अपने और बाहरी संसार को देखना चाहिए।
>
> (अतीत : एक आत्ममन्थन, शब्द और स्मृति)

स्वयं को और अपनी संस्कृति को लगातार अपनी दृष्टि से देखने से बचकर बहुत कुछ हाथ नहीं लगता। मेरा विचार है कि हमारी पारम्परिक दृष्टियों में भी सार्वभौमिक होने की पूरी सामर्थ्य है, वे सार्वभौमिक कोटियाँ ही हैं। उन्हें सिर्फ़ परम्परा की गठरी में बन्द करके रखना उचित नहीं है। उन्हें आज भी पूरी अर्थवत्ता के साथ बिना किसी हठधर्मिता के लागू करके कला, जीवन और जगत की जीवन्त व्याख्या के उपयोग में लाया जा सकता है।

बारहवीं सदी के काव्यशास्त्री आचार्य मम्मट ने अपनी पुस्तक 'काव्यप्रकाश' में कविता और कला मात्र के विषय में विस्तार से विचार किया है। उन्होंने कविता के कुछ मूल तत्त्वों का विवेचन किया है। वे कहते हैं कि कविता 'नियतिकृतनियमरहितां' होती है। कविता में नियति के बनाये नियम नहीं चलते। वह उनके बिना चलती है। नियति का अर्थ यथार्थ है। प्रजापति ब्रह्मा की बनायी सृष्टि को नियति कहा जाता है। इस सृष्टि का यह नियम है कि यदि इसमें गुलाब का फूल होगा, तो उसमें एक तरह की ही गन्ध होगी। अगर फूल कमल का है तब गन्ध कुछ और होगी। सृष्टि में कारण और कार्य एक दूसरे से बँधे हुए हैं। एक तरह के कारण से एक तरह का कार्य होता है। जैसे गन्ध और फूल आपस में 'नियतिकृत नियम' से बँधे हुए हैं। लेकिन कलाकार की सृष्टि में यह नियम हमेशा चले, यह आवश्यक नहीं है। उदाहरण के लिए नियति का नियम यह है कि पत्थर हवा में नहीं उड़ता, वह ज़मीन पर ही रहता है क्योंकि गुरुत्वाकर्षण की शक्ति उसे ऐसा करने के लिए बाध्य करती है। लेकिन यही पत्थर जगदीश स्वामीनाथन के चित्रों में हवा में तैरता हुआ दिखायी देता है। स्वामी का कैनवस कलाकार की सृष्टि है और इसलिए नियति के नियमों से रहित है।

मम्मट आगे कहते हैं कि कवि-कलाकार की सृष्टि में केवल आनन्द होता है जबकि ब्रह्मा की सृष्टि में सुख और दुःख दोनों हैं। महाकवि भवभूति के 'उत्तररामचरितम्' में जब राम रोते हैं तो दुःख की पराकाष्ठा ये है कि लगता है पत्थर भी पिघल जाएँगे, लेकिन पाठक जब इसे पढ़ता है, वह मन ही मन कहता है, 'वाह क्या बात है! क्या खूब लिखा है।' उसको बड़ा आनन्द आता है। राम की करुण स्थिति पाठक के मन में करुण रस में तब्दील होकर उसे आनन्दित करती है। इसी तरह आप स्पेन के साल्वाडोर डाली के चित्र देखिए, विशेषकर वे जिनमें उन्होंने युद्धक्षेत्र को परिकल्पित किया है। उन दृश्यों में गहरी जुगुप्सा है, पर आप उन्हें देखते ही कहते हैं (कम से कम मेरे साथ यह हुआ

था), 'क्या लाल रंग लगाया है, इसमें कितनी खूबसूरती से आकाश चित्रित है और रौंदी हुई घास। इसने घोड़े के खुर किस बारीकी से बनाये हैं। अगर हम यही सब कुछ सचमुच के युद्ध में देखते, हमें वितृष्णा होती पर कला में यही चीज़ें आकर आनन्द देती है। कला की सृष्टि कलाकार के दुःख-सुख से गुज़रती हुई गहरी साधना से उत्पन्न होकर सिर्फ़ आनन्द देती है, दुःख कलाकार के पास ही रह जाता है। ब्रह्मा की सृष्टि में ऐसा नहीं है : वहाँ सुख भी है, दुःख भी है ताकि कलाकार अपनी साधना में डूब सके।

मम्मट ने कविता के तीसरे गुण का विवरण देते हुए कहा कि वह 'अनन्यपरतन्त्र' है। वह कवि-कलाकार की प्रतिभा के सिवाय किसी पर निर्भर नहीं है। ब्रह्मा की सृष्टि 'अन्यपरतन्त्र' है, वहाँ बिना कारण के कार्य नहीं होता। 'नियतिकृतनियमरहितां' का अन्तिम आशय यह है कि ब्रह्मा की सृष्टि में यानि यथार्थ में केवल छह रस होते हैं : कड़वा, कसैला, तीखा, नमकीन, अम्लीय और मीठा। कवि या कलाकार की सृष्टि में नौ रस होते हैं। यहाँ यह कहने की अनेक स्तरों पर चेष्टा हो रही है कि कवि की सृष्टि की सत्ता और स्वरूप यथार्थ की सत्ता और स्वरूप से भिन्न है।

भारतीय परम्परा में कवि या कलाकार की सृष्टि की यथार्थ से स्वायत्तता की सम्भावना को दार्शनिक स्वीकृति प्राप्त है। यहाँ यह विचार लोक और शास्त्र दोनों में ही सहज स्वीकृत रहा है कि कवि या कलाकार अपनी रचना यथार्थ से अलग कर सकता है। उसकी रचना हमेशा ही अपने नियमों से संचालित होती है। उसे यथार्थ को संचालित करने वाले नियमों से बाँधने की कोई आवश्यकता नहीं होती। यही बात मम्मट के काव्यप्रकाश में भी आयी है। ऐसी कोई स्वीकृति यूरोप की संस्कृति में लम्बे समय तक नहीं रही। यूरोप के लिए कला की स्वायत्तता का विचार नया है, यह वहाँ आधुनिकता के साथ आया है। वहाँ जब तक सामी दृष्टियों के विचार का प्रभुत्व रहा, कला का प्रयोजन सिर्फ़ मज़हबी सत्य का प्रचार-प्रसार करने तक ही सीमित था। उसकी विस्तार से विवेचन करने की आवश्यकता होगी, जिसका यहाँ अवकाश नहीं है। लेकिन हम भारतीय काव्यशास्त्रीय परम्परा में कला के प्रयोजन पर विस्तार से विवेचन करेंगे।

अगर कला नितान्त निष्प्रयोजन होती, उसके लोक व्यवहार का कोई आधार नहीं बन पाता। लोग यह सोचते हैं कि अगर चित्र बनाने या कविता लिखने या कि नाटक करने से कुछ नहीं होने वाला है, फिर चित्रकार, कवि या नाटककार ज़बरदस्ती क्यों प्राण दिये दे रहा है। कला का कोई निश्चित प्रयोजन स्पष्ट शब्दों में भले ही न कहा जा सके पर कम से कम उसके हो सकने की दिशा का निर्देश तो सम्भव होना ही चाहिए। इस दिशा में हमारे यहाँ विचार करने वाले कुछ गहन चिन्तक हुए हैं। इनमें एक हैं : वामन। उन्होंने कहा कि काव्य का प्रयोजन कीर्ति और प्रीति है। संस्कृत के आचार्यों में विचार की प्रस्तुति भी काव्यात्मक होती है और इसलिए यहाँ भी वामन अनुप्रास अलंकार का प्रयोग करते हैं- कीर्ति और प्रीति। उनका आशय है कि कविता से कवि को कीर्ति और श्रोता या पाठक को प्रीति या आनन्द मिलता है।

भामह ने कहा कि कविता की सहायता से आपको चारों पुरुषार्थ- धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष समझ में आते हैं। तब इनको समझने में कोई बड़ी कसरत नहीं करनी पड़ती। इसके बाद उन्होंने जोड़ा कि जो कुकवि या कुकलाकार है, वह धर्म सिद्ध नहीं कर सकता यानि वह कर्त्तव्य-बोध जाग्रत नहीं कर सकता। यहाँ वे धर्म के जिन अर्थों को आलोकित कर रहे हैं, उनमें नैतिक या 'एथिकल' प्रमुख हैं हालाँकि धर्म प्रत्यय में इससे कहीं अधिक अर्थ समाये हुए हैं। कुकवि की रचना व्याधियों से मुक्ति भी नहीं दिला सकती (वे यहाँ यह मानते हुए लगते हैं कि श्रेष्ठ कविता से रोगमुक्ति की सम्भावना है), इससे दण्ड से मुक्ति भी मिल सकती है। इसका अर्थ यह है कि अगर उसे कोई दण्ड प्राप्त हुआ है, उसकी रचना उसे उससे मुक्त करा सकती है। एज़रा पाउण्ड के उदाहरण से हम यह पहले ही देख आये हैं। एक

अन्य अलंकारशास्त्री कुन्तक ने लिखा है कि कविता समाज के सुरुचि सम्पन्न यानि अभिजात्यों को सारे पुरुषार्थों का ज्ञान सरल ढँग से उपलब्ध करा देती है। उन्हें लोक व्यवहार समझ में आ जाता है और यह भी समझ में आ जाता है कि आचार कैसा होना चाहिए और मोक्ष की साधना क्या है।

इन सबमें सबसे गहन विचार मुझे मम्मटाचार्य का जान पड़ा। उन्होंने कहा कि कला या कविता से कीर्ति प्राप्त होती है, धन भी। धन प्राप्ति में उन्होंने धावक कवि का उदाहरण दिया है, जिन्होंने अपनी रचनाएँ श्रीहर्ष को बेच दी थीं। इससे धावक कवि को धन मिला, श्रीहर्ष को यश। वैसे यश के सन्दर्भ में कालिदास का उदाहरण दिया है। उन्होंने यह भी कहा कि कलाएँ अनिष्ट नाशक होती हैं, व्यवहार बोधक होती हैं। जैसे आप फ्रांस के रेनुआँ के चित्र देखें, विशेषकर वह चित्र जिसमें दो लड़कियाँ कमरे में बैठकर शान्ति से प्यानो बजा रही हैं, आपको पता लगेगा कि उस घर में कैसा व्यवहार होता है, कैसी सहज शान्ति वहाँ फैली हुई है। इसी तरह जब आप एना केरेनीना पढ़ेंगे, आपको लोक व्यवहार के आधारों के विषय में बहुत कुछ समझ में आएगा। मम्मट ने इससे आगे यह कहा कि कविता से 'सद्यःपरनिर्वृत्ति' होती है। इसके दो आशय हैं, शीघ्र आनन्द पहला है। आपने कला देखी या कविता पढ़ी और आपको तभी के तभी आनन्द की प्राप्ति हो जाती है। आपको इसके लिए इन्तज़ार नहीं करना पड़ता, जैसे बैंक में स्लिप लेकर बारी आने का इन्तज़ार करना पड़ता है, वैसा कुछ यहाँ नहीं होता। लेकिन इसका दूसरा अर्थ भी है, जो दरअसल पहले अर्थ की जड़ में है : तुरन्त मृत्यु। 'तुरन्त मृत्यु' का आशय यह है कि आप कविता के रसास्वादन के दौरान अपने अहंकार से क्षणभर को मुक्त हो जाते हैं। अभी एक फ़िल्म आयी थी, जिसके लोकप्रिय गाने की एक पंक्ति थी– 'कर दे मुझको मुझसे जुदा...' क्योंकि मनुष्य पर सबसे बड़ा बोझ वह खुद है और कला कुछ देर के लिए ही सही, उसको अपने से स्वतन्त्र कर देती है और इस तरह वह व्यापक अस्तित्व को अनुभव करने की सहज स्थिति में आ जाता है।

इन सब तत्त्वों को गिनाने के बाद मम्मट कहते हैं और यह बड़ी ही सुन्दर बात है, कविता 'कान्ता सम्मित उपदेश' है। तीन किस्म के उपदेश होते हैं। इनमें पहले प्रभु सम्मित उपदेश का आशय राजाज्ञा (या इसे कानून का आदेश कह लें) हुआ करती है। यह उपदेश शब्दाश्रित है। इसमें जैसा है, वैसा है। जैसा लिखा गया है, वैसा किया जाना है। इस उपदेश के अर्थ नहीं निकाले जाते। राजाज्ञा को जस का तस मानना होता है। इसे ही 'वर्ड ऑफ लॉ' कहा जाता है। दूसरी तरह का उपदेश है, 'सुहृद सम्मित उपदेश'। यह मित्र या सुहृद का उपदेश है, इसमें अर्थ प्रधान होता है। इसका आशय यह है कि आपको आपके मित्रों की जो सलाह मिलती है, उसमें किन शब्दों का प्रयोग किया गया है, यह महत्त्व का नहीं होता, अर्थ ही प्रधान होता है। इतिहास-लेखन, नृतत्त्वशास्त्रीय-लेखन आदि इन्हीं सुहृद सम्मित वाक्यों में सम्पन्न होता है। इनमें अर्थ ही प्रधान हुआ करता है और शब्द की स्थिति गौण हो जाती है। इन्हें अर्थाश्रित कृतियाँ कहा जा सकता है। राजाज्ञा या वेद-वाक्य शब्दाश्रित है, इतिहास-पुराण अर्थाश्रित। उपदेशों का अन्तिम प्रकार है, 'कान्ता सम्मित उपदेश।'

कला या काव्य को 'कान्ता सम्मित उपदेश' कहा गया है। इसमें न केवल शब्द प्रधान है, न केवल अर्थ, इसमें शब्द और अर्थ दोनों की प्रधानता होती है। इन दोनों के गुणों का आश्रय लेकर रस की उत्पत्ति होती है, इसलिए रसयुक्त वाक्य, जैसा कि आचार्य विश्वनाथ ने कहा था, ही काव्य है। रसमय होने के कारण ही उसे 'कान्ता सम्मित', स्त्री का कहा हुआ उपदेश कहा जाता है। पर काव्य को 'कान्ता सम्मित' कहने के पीछे केवल उसके सरस होने का भाव भर नहीं है, उसमें कुछ और भी है। मुझे खुशी है कि यह 'कुछ और अर्थ' मुझे अपनी एक झलक-सी दिखला गया है और इसे मैं अपना सौभाग्य मानता हूँ। 'कान्ता सम्मित' कहने में कान्ता का अर्थ स्त्री है और स्त्री के विषय में संस्कृत में

ही एक श्लोक अक़्सर उद्धृत किया जाता है, 'त्रिया चरित्रं पुरुषस्य भाग्यं देवो न जानाति कुतो मनुष्यः।' इस उक्ति में ध्यान देने वाली बात यह है कि स्त्री के चलन को देव तक नहीं जान सकते, मनुष्य की तो हैसियत ही क्या है! अगर इस दृष्टि से 'कान्ता' शब्द को 'अनिश्चित' से विस्थापित करें, हम पाएँगे कि 'कान्ता सम्मित' का अर्थ 'अनिश्चित उपदेश' हो जाएगा। इसका आशय यह निकलेगा कि काव्य या कला का कोई निश्चित सन्देश नहीं हुआ करता। इसीलिए यह स्वीकार किया गया है कि कला किसी निश्चित अर्थ को सम्प्रेषित करने के स्थान पर पाठक या सहृदय में पहले से उपस्थित किन्हीं अर्थों को जाग्रत करती है। ये अर्थ हर सहृदय पाठक में एक-से हों, यह आवश्यक नहीं है।

ये कौन-से अर्थ हैं जिन्हें काव्य या कला जाग्रत करती है? ये वही अर्थ हैं जिनकी चर्चा मैंने इस व्याख्यान के आरम्भ में औचित्य कहकर की थी। अब समय आ गया है, जब हम औचित्य पर विस्तार से विचार कर सकते हैं। औचित्य का विचार सबसे पहले कश्मीर के प्रसिद्ध विद्वान् कवि आचार्य क्षेमेन्द्र ने बारहवीं सदी में किया था। उस विचार की आज तक फैली हुई सुदीर्घ परम्परा है। इसी परम्परा में हमारे समय के अत्यन्त कल्पनाशील विचारक नवज्योति सिंह ने कुछ मूलभूत उद्भावनाएँ व्यक्त की हैं। उसके अनुसार हर व्यक्ति का औचित्य बोध अद्वितीय होता है। संसार में ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं जिसका सौन्दर्य बोध और न्याय-अन्याय विवेक उसका अपना न हो। यह किसी भी अन्य व्यक्ति के सौन्दर्य बोध और न्याय विवेक से थोड़ा ही सही पर अलग होता है। मैं समझता हूँ कि कलाओं का जन्म व्यक्ति के इसी औचित्य-बोध से हुआ करता है। यह इसलिए है, क्योंकि मुझे जो चीज़ सुन्दर लग रही है या जो चीज़ न्याय-संगत लग रही है, बिल्कुल सम्भव है कि वह ऐसी किसी और को न लगे। आपने यह देखा होगा कि अगर कोई चीज़ आप पसन्द करते हैं, आपका मित्र उस समय आपके साथ है और आप उससे कहते हैं, 'वाह क्या बात है!' आपका साथी आपसे सहमत होने से पहले थोड़ा-सा अवश्य ठिठकेगा। यह ठिठकना इसलिए है क्योंकि उसे वह चीज़ उतनी सुन्दर नहीं लग रही, जितनी आपको लग रही है। आपका और उसका सौन्दर्य बोध हमेशा ही कुछ अलग होगा। इसका अर्थ यह नहीं है कि वे एक दूसरे के विपरीत हों पर वह थोड़ा-बहुत अलग होता ही है। इस विशिष्ट सौन्दर्य बोध के कारण कला में जो नैतिक दृष्टि उत्पन्न होती है, वह राजनीति से बिल्कुल अलग स्तर की हुआ करती है। कला में नैतिक दृष्टि का आधार यही औचित्य-बोध हुआ करता है। चूँकि यह औचित्य-बोध हर मनुष्य में, हर कलाकार में अलग होता है इसलिए इस पर आधारित नैतिक दृष्टि भी हर कलाकार की थोड़ी-थोड़ी अलग हुआ करती है। कला का यह नैतिक आयाम कलाकार के औचित्य-बोध से उत्पन्न होता है और इसलिए वह राजनीति में 'सर्वजनहिताय' के बोध से उत्पन्न होने वाली राजनीति की नैतिक दृष्टि से नितान्त अलग स्तर का होता है। कला का यह नैतिक आयाम व्यक्ति (कलाकार) में अवस्थित औचित्य के आधार पर उत्पन्न होता है इसलिए उसका उत्स व्यक्तिमत्ता हुआ करती है। अगर एक कलाकार अपने इस विशिष्ट नैतिक-बोध को प्रकट करने के स्थान पर किसी सामान्य (समअन्य) विचार के आधार पर (जो 'सर्वजनहिताय' का विचार भी हो सकता है) कोई सामान्य नैतिक दृष्टि अपनी कला में प्रकट करता है, वह कला और समाज दोनों के साथ अनिष्ट कर रहा होता है। वे राजसत्ताएँ जो कलाकारों को अपने सौन्दर्य बोध से उत्पन्न विशिष्ट वैयक्तिक नैतिक दृष्टि उद्घाटित करने के स्थान पर सामान्य नैतिक दृष्टि को प्रस्तुत करने पर बाध्य करती हैं, कला को तो विपन्न बनाती ही हैं, समाज को भी समृद्ध होने से रोक देती हैं। आप देखेंगे कि चूँकि कला की नैतिक दृष्टि उसके अपने सौन्दर्य-बोध से उत्पन्न होती है, जो हर कलाकार में अलग हुआ करती है, इसलिए विभिन्न महान कृतियाँ नैतिक दृष्टि से अलग होती हैं। हम उन्नीसवीं शती के रूस का उदाहरण ले सकते हैं, जिसमें टाल्सटॉय, दोस्तोएवस्की और तुर्गनेव जैसे श्रेष्ठ उपन्यासकार हुए। इन सभी उपन्यासकारों की रूसी समाज के प्रति गहरी आस्था थी। पर अगर उनके उपन्यासों को ध्यान से पढ़ा जाए, यह सहज ही सामने आ सकेगा कि उनकी नैतिक दृष्टियों में काफ़ी भिन्नता है। ज़ाहिर है कि यह उनके औचित्य-बोध के अलग

होने के कारण है।

हम इस सन्दर्भ में कला और राजनीति के सम्बन्ध पर एक बार फिर यदि विचार करें, हम पाएँगे कि औचित्य बोध से उत्पन्न कला की नैतिक दृष्टि और सर्वजनहिताय के बोध से उत्पन्न राजनीति की दृष्टि अलग होते हुए भी एक साथ सामाजिक सम्बन्धों में संचरित होती हैं पर यदि किसी समाज में – जैसा कि तथाकथित साम्यवादी समाजों में हुआ – राजनीति अधिक शक्ति सम्पन्न होकर कलाकार पर राजनैतिक नैतिकता को अपनी कला में स्थान देने पर बाध्य करती है, वह कला और कलाकार को नष्ट कर देती है। यही कारण है कि कलाकार को अपने सृजन के लिए पूरी स्वतन्त्रता आवश्यक है क्योंकि उसके बगैर वह न केवल सौन्दर्य को प्रकट नहीं कर सकती/सकता, बल्कि उसकी कला समाज को अपनी तरह की विशिष्ट नैतिक दृष्टि से समृद्ध करने से भी वंचित रह जाती है। ऐसा होने पर राजनैतिक दृष्टि कला की नैतिक दृष्टिओं के हाथों निरन्तर प्रश्नांकित होने के स्थान पर सर्वप्रभुता सम्पन्न होकर उच्छृंखल हो जाती है। यही कुछ सभी सर्वसत्तावादी समाजों में – वे साम्यवादी रहे हों या फ़ासिस्ट – हुआ और वे नष्ट हो गये।

हम यह कह सकते हैं, 'कान्ता सम्मित उपदेश' सभी समाजों में स्वीकृत नहीं रहे हैं। जिन समाजों में सामी धार्मिक परम्पराओं की प्रभुता रही, उनमें औचित्य के आधार पर सौन्दर्य सृजन और विशिष्ट नैतिक दृष्टि के उत्पन्न होने का कोई दार्शनिक आधार कभी नहीं रहा। यह विचार हमारे विचारक मित्र सुरेश शर्मा का है। इन परम्पराओं में यह माना जाता था कि कलाओं का धर्म 'रिलिजन' द्वारा खोजे गये सत्य को प्रचारित करने भर का है। वह अपना सत्य स्वयं नहीं खोज सकती। चूँकि कला को ऐसा करने से वंचित रखा गया इसलिए वह अपने विशिष्ट औचित्य-बोध से उद्‌भूत नैतिक दृष्टि को उत्पन्न नहीं कर सकी और इसीलिए इन समाजों में बहुत लम्बे समय तक अन्धकार रहा। यूरोप के मध्य युग को इसीलिए 'अन्धकार युग' कहा जाता है।

यूरोप में अन्धकार का समय कई शताब्दियों तक चला, वह रेनेसाँ तक आकर टूट पाया। फ़ारस में भी क़रीब तीन सौ बरसों तक फ़ारसी काव्य का लोप हो गया था, चित्र बनाने में तो अवरोध इससे भी अधिक चला। यह इसलिए हुआ क्योंकि इन दोनों ही सभ्यताओं में 'रिलीज़न' में निहित मान्यताओं को स्वीकार कर कला को औचित्य पर आधारित अपनी नैतिक दृष्टि को उद्‌घाटित करने की स्वतन्त्रता नहीं दी जा सकी। मैं समझता हूँ कि कला की इसी अद्वितीय सामर्थ्य के कारण ही प्लेटो जैसे महान दार्शनिक (जिनकी न्याय की धारणा को कई ईसाई परम्पराओं में ईश्वर की वाणी का स्थान प्राप्त था) ने अपने गणराज्य में कवियों और कलाकारों के स्थान को ही समाप्त कर दिया था। सम्भवतः यह इसलिए था क्योंकि कला 'कान्ता सम्मित' यानि 'अनिश्चित' उपदेश उत्पन्न करती है और उसकी विशिष्ट नैतिक दृष्टि सामान्य राजनैतिक दृष्टि के विरोध में भले न हो पर वह उससे अलग हुआ करती है। वैसे अन्यान्य पेगन समाजों जैसे भारत, अफ्रीका, प्राचीन अमेरिका आदि में लम्बे समय तक, उनके सामी दृष्टि के स्वीकार के पहले तक, औचित्य पर आधारित कला की नैतिक दृष्टि को सहज स्वीकृति प्राप्त थी और उसका राजनैतिक नैतिकता के साथ सहअस्तित्व बना रहता था। भारत के इतिहास में यह स्थिति, कम से कम सामाजिक स्तर पर आज तक बनी हुई है। यहाँ के व्यापक समाज ने कलाओं को कभी भी विज्ञापनों में संकुचित करने का प्रयास नहीं किया जबकि एक ओर अमेरिकी समाज ने और दूसरी ओर सोवियत चीन जैसे साम्यवादी देशों ने कलाओं को सामी 'रिलिज़ियस' दृष्टि के अनुरूप ही विज्ञापनों में बदलने में कोई कसर नहीं छोड़ी। पर इतना अवश्य कहना होगा कि अमेरिका और पश्चिमी समाजों में आज कला के स्वातन्त्र्य के लिए कहीं अधिक अवकाश है।

भारत में कला और राजनीति के सम्बन्ध पर काफ़ी अलग तरह से अनेक स्थानों पर विचार हुआ है। मैं सिर्फ़ दो

उदाहरण दूँगा। नन्दीकेश्वर का नृत्य और रंगकर्म पर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'अभिनयदर्पण' है। यह ग्रन्थ बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी का है। इसमें एक स्थान पर नन्दीकेश्वर ने सभापति के लक्षण दिये हैं। सभापति किसी भी नृत्त या नाट्य या काव्यसभा में कोई राजनेता हुआ करता था! वह राजा हो सकता था या उस इलाके का कोई अन्य अपेक्षाकृत शक्ति सम्पन्न व्यक्ति के ऐसा होने पर उसका चुनाव होता था। उदाहरण के लिए जब भी कोई कला सभा होगी, उसका सभापति चुन लिया जाता। उससे यह प्रत्याशा होती थी कि वह श्रीसम्पन्न, बुद्धिमान, विवेकशील, पुरस्कार वितरण में कुशल, संगीत विद्या में प्रवीण, सर्वज्ञ, प्रशस्तकीर्ति, रसिक-गुणवान, हाव-भाव का ज्ञाता, ईर्ष्या-द्वेष से रहित, स्वभाव से हितेच्छु, शील सम्पन्न, कलाओं का ज्ञाता, सम्पन्न, दयालु, संयमी और स्वयं अभिनय कुशल हो। अगर इन सबको जोड़कर देखा जाए तो हम कह सकते हैं कि सभापति से यह अपेक्षा होती थी कि वह रंगकर्म-नृत्य-संगीत आदि का न सिर्फ़ ज्ञाता हो बल्कि उनका व्यवहर्ता भी हो। ये सारे लक्षण उन सभापतियों से अपेक्षित हैं, जो कई बार राजनेता हुआ करते हैं। ये लक्षण समाज में सभापति के लिए स्वीकृत थे। ऐसा कोई ग्रन्थ नहीं मिलता, जिसमें नन्दीकेश्वर के बताये इन गुणों का प्रत्याख्यान हुआ हो। इसीलिए भारतीय परम्परा में आपको ऐसे अनेक राजा मिल जाएँगे, जो स्वयं अच्छे कवि होते थे, चित्रकार होते थे और सर्वगुण सम्पन्न होते थे। यह परम्परा अपने राजनेताओं से यही अपेक्षा करती थी।

दूसरा उदाहरण 'विष्णुधर्मोत्तर पुराण' के 'चित्रसूत्र' की व्याख्या के रूप में दे रहा हूँ। चित्रसूत्र की कथा एक स्तर पर कलाओं के अन्तर्गुम्फन के विचार को स्पष्ट करती है पर एक अन्य स्तर पर वह राजाश्रय के आदर्श को भी प्रस्तुत करती है। वह यह दर्शाती है कि राजा या शासकों को कलाओं को प्रश्रय क्यों देना चाहिए?

राजा वज्र ऋषि मार्कण्डेय के पास जाकर पूछने लगे, 'ऋषिवर! आप यह बताएँ कि मैं धर्म की प्राप्ति कैसे करूँ?' ऋषि बोले, 'इसके लिए तुम्हें देवालय निर्मित कर उसमें देव प्रतिमा की प्रतिष्ठा करना चाहिए।' ज़ाहिर है मन्दिर बनाने से राजा की कीर्ति भी बढ़ेगी और यह धर्म कार्य भी है। हमारे देश के मन्दिरों पर उस इलाके के जन सामान्य की प्रकृति का चित्रांकन करने की परिपाटी है। इस अर्थ में हर मन्दिर, दार्शनिक नवज्योति सिंह के शब्दों में, स्थानीय संविधान हुआ करता था। ऋषि मार्कण्डेय परोक्षतः राजा से यह कह रहे हैं कि आप अपने स्थान का संविधान उकेरिये। राजा के पूछने पर कि वे देव प्रतिमा का निर्माण कैसे करें, मार्कण्डेय कहते हैं, 'इसके लिए यह ज़रूरी है कि आपको चित्र मालूम होना चाहिए।' राजा वज्र पूछते हैं, 'ऋषिवर! चित्र कैसे बनाये जाएँ?' ऋषि उत्तर देते हैं, 'इसके लिए आपको यह पता होना चाहिए की नृत्य कैसे किया जाए।' इस पर राजा प्रश्न करते हैं, 'नृत्य के विषय में मुझे उपदेश करें।' मार्कण्डेय कहते हैं, 'नृत्य आपको तभी आएगा, जब आप वाद्य संगीत के बारे में जानोगे।' राजा के यह पूछने पर कि उन्हें वाद्य संगीत कैसे आएगा, मार्कण्डेय कहते हैं, 'इसे आप केवल तब समझ सकते हो जब आपको गान आ जाएगा।' राजा आग्रह करते हैं कि ऋषि उन्हें गान विद्या का उपदेश करें पर वे कहते हैं, 'इसके लिए आपको काव्य आना चाहिए।' उस ज़माने में काव्य का अर्थ सिर्फ़ कविता न होकर अन्यान्य साहित्य रूप, जिनमें नाटक प्रमुख थे, होते थे। यह कहने के बाद ऋषि मार्कण्डेय ने राजा वज्र को सभी कलाओं के विषय में क्रमशः उपदेश किया। इस कथा को इस तरह भी पढ़ा जा सकता है कि राजा को धर्म कार्य यानि अपने इलाके को संविधान अंकित करना है, जो कि उसका राजनैतिक कर्म भी है, उसे शिल्पियों को तैयार करना होगा, उनको तैयार करने के लिए चित्रकारों को समर्थन देना होगा, जिसके लिए उसे वाद्यकारों को नर्तकों को और कवियों को भी पोषित करना होगा। दूसरे शब्दों में यदि राजा को राजधर्म का निर्वाह करना है तो उसे सभी कलाओं को प्रश्रय देना होगा। 'चित्रसूत्र' को इस तरह राजाश्रय के आदर्श के रूप में भी पढ़ा जा सकता है।

राजनीति और कला के वर्तमान स्वरूप को लेकर एक अन्तिम विचार रख रहा हूँ। इससे उनके वर्तमान सम्बन्धों की जटिलता पर भी शायद कुछ प्रकाश पड़ सके। राजनीति को जो कला मिली है, वह शताब्दियों पुरानी है। उसके मूल तत्त्व बदले नहीं हैं, वे वही हैं जो हमेशा से थे। कला में आज छन्द बदल गये हैं पर छन्द आज भी हैं। छन्द का स्वरूप निश्चय ही बदल गया है, हर कला में अपनी-अपनी तरह से अनेक नये छन्दों का आविष्कार हुआ है और उनका व्यवहार बढ़ा है। छन्द का गहरा आशय 'समय' या 'काल का स्वरूप' या 'समय का चेहरा' हुआ करता है। इसका अर्थ यह है कि हर कला में काल के स्वरूप, समय के चेहरे बड़ी संख्या में अलग - अलग रूपों में अवस्थित हैं। चित्रों में रंग पहले भी लगते थे, आज भी लगते हैं। पहले टेम्प्रा का उपयोग होता था, आज तैल रंगों का होता है पर रंग पहले भी थे, आज भी हैं। कला के मूल तत्त्व परिवर्तित नहीं हुए हैं। पर जो राजनीति आज कला को मिली है, वह नयी है। संसदीय लोकतान्त्रिक राजनीति स्वयं मनुष्यता के लिए नयी है। इसका इतिहास तीन सौ वर्ष से अधिक पुराना नहीं है। यह संसदीय लोकतन्त्र जो आज भारत में बरता जा रहा है, वह यूनान और फिर आधुनिक यूरोप के राजनैतिक चिन्तकों और राजनैतिक कर्म से उत्तीर्ण होता हुआ भारत आया है। इसके भारत में स्वीकार के बाद कलाओं और राजनीति के बीच के सम्बन्ध पहले जैसे नहीं रह गये। आधुनिक-पूर्व भारतीय समाज में इनके सम्बन्धों में जो स्थिरता आयी थी, वह लोकतन्त्र के इस ढाँचे को स्वीकार करते ही समाप्त हो गयी। अब ये सम्बन्ध अस्थिर हैं और इसीलिए इन पर निरन्तर विचार करते रहना अनिवार्य हो गया है।

आधुनिकता-पूर्व भारतीय समाज में कलाओं को संरक्षण देने की अनेक पद्धतियाँ प्रचलित थीं। उनमें से कुछ के अवशेष आज भी मिल जाते हैं। परधान चित्रकला पर काम करते हुए मैंने पाया था कि गोंड समाज परधानों की कला को पोषित करता रहा है। परधान गोंड समुदाय का ही एक उप-समूह है। इनका कार्य गोंडों की वंशावलियों को गाना और गोंड सम्प्रदाय की सामूहिक स्मृति को गाथाओं के सहारे जीवन्त बनाये रखने का था। वे हर तीन बरस में एक बार गोंड यजमानों के घर जाकर गाथा-गायन करते थे। उनके देवी-देवताओं को उनकी स्मृति में जाग्रत करते थे। इसकी एवज़ में गोंड समुदाय उनके जीवन-यापन की व्यवस्था करता था। इसी तरह देवदासियों, गायकों, कवियों, चित्रकारों आदि को पोषित करने की इस समाज में व्यवस्थाएँ विकसित हुई थीं। संसदीय लोकतन्त्र के स्वीकार के बाद कला और राजनीति के बीच के इस सहकार की व्यवस्था टूट-फूट गयी है। इसलिए भी इस सम्बन्ध पर निरन्तर विचार करना अनिवार्य है। कलाएँ बिना समाज के प्रश्रय के पुष्पित-पल्लवित नहीं हो पातीं और बिना कलाओं के विस्तार के समाज में सभ्यता-बोध जाग्रत नहीं होता।

लेकिन तब भी हमारे आज के समाज में यह प्रश्न, कम से कम राजनीति के क्षेत्र में, अवश्य उठता रहता है कि वह कलाओं का समर्थन क्यों करें? यह समर्थन उसे इसलिए करना चाहिए क्योंकि लोकतान्त्रिक व्यवस्था में राजनीति का यह धर्म है कि वह समाज में सभी तरह की समृद्धियाँ लाने का प्रयत्न करे। अगर लोकतान्त्रिक राजनीति में हम 'सर्वजनहिताय' के आदर्श को स्वीकारते हैं तो उसका तात्त्विक अर्थ यही स्वीकारना पड़ता है कि राजनीति समाज में सभी तरह की समृद्धियाँ लाने का उपक्रम करें। श्रेष्ठ राजनीति वही है, जो देश की ज्ञान समृद्धि के लिए अच्छी शिक्षा व्यवस्था तैयार करे, देश की कारीगरी को प्रोत्साहित करे, उसके वाणिज्य को बढ़ाये और इस रास्ते अन्यान्य समृद्धियों की सम्भावना को चरितार्थ करने का प्रयत्न करे। कला भी समाज में एक विशेष तरह की समृद्धि लाती है, जो और किसी रास्ते नहीं आ सकती। अगर आप मुझसे उस समृद्धि का नाम पूछेंगे, मैं बता नहीं पाऊँगा। कुछ लोग उसे मन की समृद्धि कहना चाहेंगे लेकिन यह भी मुझे थोड़ा-सा संकुचित ही जान पड़ता है क्योंकि कलाओं द्वारा लायी गयी समृद्धि इससे कहीं अधिक व्यापक है। कला जो समृद्धि समाज में उत्पन्न करती है, जिसे आप छू नहीं

सकते, नाप नहीं सकते लेकिन जिसके कारण आप मानवीय समाज ही नहीं, समूचे अस्तित्व मात्र से एकात्म हो पाते हैं, लोकतान्त्रिक राजनीति का इसीलिए यह धर्म है कि वह बिना किसी हस्तक्षेप के कला को पोषित करे, उस रास्ते पर न जाए जिस पर सोवियत संघ या चीन और उन्हीं के जैसी अन्य सर्वसत्तावादी सरकारें चलीं। उसे कला को स्वायत्त रहने देने के अवकाश बनाने चाहिए। कला भी व्यापार या शिक्षा या कारीगरी या अन्य अनेक अनुशासनों की तरह समाज में समृद्धि लाती है। यह ऐसी समृद्धि है, जो और कोई अनुशासन नहीं ला सकता।

(यह व्याख्यान भारत भवन, भोपाल के रूपंकर प्रभाग ने मई २०१४ में आयोजित किया था।)

छन्दों में दुनिया, दुनिया में छन्द

राधावल्लभ त्रिपाठी

प्रियां यमस्तन्वं प्रारिरेचीत् (ऋग्वेद, १०.१३.४)
(मेरी इस प्यारी काया को यम मरने से बचाये रखें।)

मैं निर्मल वर्मा स्मृति व्याख्यान की आयोजन समिति के समस्त माननीय सदस्यों के प्रति आभार प्रकट करता हूँ, जिनके सौजन्य तथा उदारता के कारण मुझे आप सबके बीच उपस्थित होकर कुछ अपनी बात करने का यह अवसर प्राप्त हुआ। मैं यह भी समझ रहा हूँ कि चुनिन्दा सुधी जनों की जैसी मण्डली यहाँ उपस्थित है, ऐसी श्रोतृमण्डली मिलना एक दुर्लभ सौभाग्य है। जो विषय मैंने चुना है उसका विशेषज्ञ मैं नहीं हूँ, उसके विशेषज्ञ इस कार्यक्रम के अध्यक्ष पद्मश्री आचार्य रमाकान्त शुक्ल हैं। मैं आशा करता हूँ कि मैं ऊपर-ऊपर से विषय का स्पर्श करूँगा उसे इनके वक्तव्य से परिपूर्णता प्राप्त होगी। मेरी संस्कृत की पृष्ठभूमि है, वह मेरा सहारा भी है और मेरी सीमा भी है, ज़्यादातर उसी पर टिके रहना मेरी विवशता है, उसके आगे मैं गया भी तो बार-बार उस पर लौटकर भी आऊँगा।

मैं अपने व्याख्यान का आरम्भ निर्मल जी के उद्धरणों से करना चाहता हूँ-

1. किसी अच्छी कहानी या उपन्यास पढ़ने के बाद मुझे बाहर की दुनिया वैसी ही दिखाई देती थी जैसे बहुत बारिश होने के बाद बादल छँटते ही शिमला के पहाड़ दिखाई देते थे। बाद में मैंने पाया कि किताबें मन का शोक, दिल का डर या अभाव की हूक कम नहीं करतीं, सिर्फ़ सब की आँख बचा कर चुपके से दुखते सिर के नीचे सिरहाना रख देती हैं।

2. यदि कोई आज मुझसे पूछे तुम्हारे लिये सबसे बड़ा सुख क्या है, तो मैं बिना सोच-विचार किये कह सकता हूँ..किसी उनींदी दुपहर में घने पेड़ के नीचे चेख़व की कोई कहानी या टॉमस मान का उपन्यास या रिल्के के पत्र पढ़ना और यदि यह सब न हो तो जापानी या प्राचीन चीनी या हाइकू कविताओं की पतली-सी पुस्तक जो मैं धीमे बुखार के मौसम या पतझर के दिनों में पढ़ना चाहूँगा।

निर्मल जी के लिये जो सबसे बड़ा सुख था, वह मेरे लिये एक सपना रहा है। पहले कभी पढ़ी हुई किताबों में से कुछ किताबें ऐसी हैं जिन्हें एकदम फ़ुर्सत में और केवल उन्हीं को पढ़ने के लिये या केवल अपने लिये दूसरी बार या तीसरी बार उन्हें पढ़ूँ-- यह मेरा सपना रहा है। सपना इसलिये कि असल ज़िन्दगी में इसे पूरा करने के मौके प्रायः नहीं आये। ऐसी किताबें ज़्यादा नहीं हैं जिन्हें निर्मल जी की तरह किसी उनींदी दोपहर में घने पेड़ के नीचे पढ़ने का स्वप्न मैं देखूँ। वे मोटी किताबें भी हैं वाल्मीकि की 'रामायण', पूरी 'महाभारत', टाल्सटाय का 'वार एण्ड पीस', पास्तरनाक का 'डॉ. ज़िवागो' जैसा उपन्यास। निर्मल जी की एक किताब -'अन्तिम अरण्य' भी इन गिनी-चुनी किताबों में से एक है। इस व्याख्यान के सिलसिले में गगन जी ने इस किताब को एक बार फिर से केवल पढ़ने के लिये पढ़ने का अवसर देकर मेरा एक सपना पूरा करवा दिया इसके लिये मैं उनका कृतज्ञ हूँ।

मैंने निर्मल स्मृति व्याख्यान के लिये छन्दःशास्त्र का विषय चुना है। ऊपरी तौर पर इस विषय का अन्तिम अरण्य से कोई सम्बन्ध नहीं लगता। पर 'अन्तिम अरण्य' को दुबारा पढ़ते हुए मुझे लगा कि मेरे व्याख्यान के विषय से निर्मल जी की इस रचना का ख़ास सम्बन्ध है। गगन जी की इच्छा थी कि मैं अन्तिम अरण्य पर बोलूँ। यह उनकी उदारता है कि उन्होंने मुझे बहुत पुराने ढर्रे के एक विषय-छन्दःशास्त्र - पर बोलने की अनुमति दी।

ऐसे रूढ़ और असहज विषय को कुछ सहज सरस बनाकर मैं यदि कुछ अच्छा कह पाऊँ, तो उसका एक कारण यहाँ निर्मल जी की अदृश्य उपस्थिति हो सकती है और उसके साथ गगन जी की आस्था और अध्यवसाय। मेरे कहे में जो कमियाँ रहेंगी उनका कारण केवल मैं।

छन्दस् का शास्त्र छन्दःशास्त्र है। छन्द शब्द अलग है, छन्दस् शब्द अलग। छन्द का अर्थ इच्छा या मर्ज़ी है, आकाशवाणी या दूरदर्शन के संस्कृत समाचारों में यह शब्द वोट के अर्थ में इस्तेमाल होने लगा है। दोनों में धातु या क्रिया एक ही है, पर प्रत्ययभेद है।

छन्दःशास्त्र वाले छन्दस् में असुन् और छन्द में घञ् प्रत्यय है।

हिन्दी में छन्दस् के अर्थ में स्वच्छन्द वाला छन्द शब्द चल पड़ा है, मैं भी सुविधा और मुखसुख की दृष्टि से छन्दस् के अर्थ में इस व्याख्यान में छन्द शब्द का प्रयोग करूँगा।

थोड़ी देर के लिये कृपा कर के इस बात को भूल जाएँ कि छन्द केवल पद्य या कविता में होते हैं और यह भी भूल जाएँ कि छन्द मुक्तछंद वाली कविता में न होकर तुकान्त, वर्णवृत्तों वाली या मात्रिक छन्दों वाली कविता में ही होते हैं। उसकी जगह नाट्यशास्त्रकार भरतमुनि का यह वचन याद रखें :

छन्दोहीनो न शब्दो स्ति न च्छन्दः शब्दवर्जितम्

अर्थात् - बिना छन्द के कोई शब्द नहीं होता और बिना शब्द के कोई छन्द नहीं। यास्क कहते हैं - 'नाच्छन्दसि वागुच्चरति' बिना छन्द के वाणी अपने आपको व्यक्त करती ही नहीं है। शब्द में ही नहीं, छन्द तो अक्षर-अक्षर में समाया रहता है। इसलिये भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र के चौदहवें अध्याय में वृत्तविधान या पिंगलशास्त्र का आरम्भ उक्त नामक एकाक्षरी छन्द से किया है। छन्द कविता की पंक्तियों (जिन्हें छन्दःशास्त्र में पाद या चरण कहा जाता है) में ही नहीं, अक्षर-अक्षर में रमा रहता है।

साहित्य की दुनिया में तो गद्य हो या पद्य, छन्द तो अनिवार्यतः अविभाज्य रूप से उसमें रहेगा ही। यही नहीं, रोज़मर्रा की दुनिया में एक दूसरे से बतियाते हुए हम जो कहते हैं, छन्दस् तो उसमें भी रहेगा।

जो मैं बोल रहा हूँ, उसमें यदि छन्दस् नहीं उतरा, तो मुझ में ही कोई कमी होगी- हो सकता है कि मुझे कोई बीमारी हो, या मैं ज़रूरत से ज्यादा स्वस्थ होऊँ। यदि मैं सहज रूप में स्वस्थ होता, तो ऐसा कैसे हो सकता था कि छन्द मेरे कहे में उतरता चला न आये।

इस भूमिका के बाद, इसके पहले कि मैं मूल विषय पर आऊँ, मैं मृत्यु के बारे में दुनिया की सबसे पुरानी पोथी ऋग्वेद की कुछ कविताओं के अनुवाद पढ़ना चाहता हूँ। टूटे-फूटे अनुवाद हैं, मूल के निकट हैं, शवदाह के पहले का प्रसंग -

हे अग्नि, जब तुम इसे जलाओ
तो झुलसा कर सताना मत
इसे छिटकाना और छितराना मत
इसे पका भर देना
फिर इसे पितरों के निकट पहुँचा देना।

हे मृतक, तुम्हारे ये नयन
अब सूर्य में समा रहे हैं
तुम्हारी आत्मा
समा रही है
हवा में
और तुम स्वयं अपना धर्म अपने साथ लिये
द्युलोक में पहुँचो, पानी में या पृथ्वी पर
जो तुम्हारे लिये अच्छा हो
या फिर नये रूप लेकर
फिर से उगो ---
पौधों में और वनस्पतियों में।

हे मृतक! तुम्हारा एक हिस्सा
जन्म-मरण से परे है
उसे तुम अपने तप से आलोकित किये रहना
अग्नि की ज्वालाएँ उसे निखार दें
हे अग्नि तुम अपनी उज्ज्वल ज्वालाओं से
इसको ऊपर तक पहुँचाना ।

यदि कोई काला पक्षी
गड़ा गया हो इस पर चोंच अपनी
यदि कहीं इसे काट लिया हो चीटियों ने
यदि इसे सियार कहीं पर नोंच ले गया हो
तो यह अग्नि इसकी काया के ये सारे घाव पूर दे।

अग्नि की ये ज्वालाएँ
कवच बन जाएँ
इसकी चमड़ी पर
वे इसको आच्छादित कर लें
परिपुष्ट अपने तेजस् से
अपने तेजस् में समो लेने वाला अग्नि
इसे धारण कर लेगा
इसे बाहर बिखेर नहीं देगा ।

हे अग्नि, जो कुछ तुमने जलाया है
उसे बुझा भी देना
यह धरती जो आग से झुलस गई है
इस पर फिर से जल सरसे
और इस पर फिर से लहके
हरी-भरी दूब
(ऋग्वेद, १०.१६.१,३-४, ६-७,१३) ६ मन्त्र

दफ़नाने की प्रथा भी पुराने समय में प्रचलित रही है।
इसके सन्दर्भ इस सूक्त में हैं -

हे मृतक के स्वजन
जिस मार्ग से चले गये पितर
मृत्यु के उस मार्ग को तज कर निकल आओ,
तुम्हारे पास अभी है लम्बा जीवन
तुम करते रहो यजन,
तुम तृप्त रहो सन्तानों में समृद्धि से संतर्पित हो मन
बने रहो पावन।

लौटें ये लोग अब
लौटें हम सब
देवता के लिये हमारी
मंगलमय आहुति अब पूरी हुई।
लौट रहे हैं हम
नृत्य और आनन्द के लिये
हमारे पास है अभी
सुखमय लम्बा जीवन ।

जैसे एक दिन ढल जाने पर
आता है दूसरा दिन
जैसे एक ऋतु के अवसान पर
अगली ऋतु आती है,
जैसे जो पहले जन्मा वह पहले जाता है
बाद में जो जन्मा,
वह उस जाने वाले के साथ चला नहीं जाता,
उसी तरह
हे विधाता,
तुम हम सब का जीवन बनाये रखना।

लौटें अपन-अपने घर
अच्छे पतियों वाली
अब ये सब सुहागिनें
आँखें आँखों में वे अब घृतमय अंजन
वे छोड़ दें अश्रु बहाना,
वे नीरोग रहें,
वे फिर धारण करें अलंकरण
ये आगे आगे चल कर
पहुँचे अब अपने-अपने घर ।

उठो नारी,
तुम जो निष्प्राण अपने पति से लिपट रही हो,
आओ
जीवन से भरे संसार की ओर देखो
जिसने तुम्हारा हाथ कभी थामा
जिसने तुमको सन्तानें दीं
उसके कारण
तुमने जो ठान लिया है अनुमरण
छोड़ कर उसका विचार
घर लौट चलो।

हे मृतक बन्धु!
इस धरती की सुखमय विस्तीर्ण गोद में तुम पाओ विश्राम
अभी भी युवती है यह धरती
तुम जैसे सज्जन के लिये

यह बन जायेगी ऊन के गुच्छे जैसी कोमल
यह तुम्हें बचाये रहेगी
मृत्यु के घातक प्रहार से ।

हे धरती, इसे सुख से अंक में लिटाना
इसे चोट मत पहुँचाना
इसकी चिन्ता करना
जैसे एक माँ बेटे को आँचल से ढाँप लेती है
ऐसे ही ढाँप कर रखना इसको।
जिस मिट्टी से हमने इसे ढँका है,
धूल और पत्थर के वे अनगिनती कण
बन जायें इसके हित आवास भवन
चुआ दें वे इसके हित घृत का धाराएँ
देते रहें वे उसे
चिर शरण
(ऋग्वेद १०.१८.४-१२)

गोविन्दचन्द्र पाण्डे जी के अनुवाद के चार खण्ड मेरे पास हैं, उनमें एक से आठवें मण्डल तक के अनुवाद हैं, ये दसवें मण्डल से हैं, अतः विवशता में अपने स्वयं के ये अनगढ़ अनुवाद आपके सामने रखे।

ऋग्वेद और अथर्ववेद दोनों में पितृमेधविषयक अनेक सूक्त हैं। अन्तिम अरण्य पढ़ते हुए मुझे मेरी लुट्चेंस की किताब लाइफ एण्ड डेथ ऑफ़ कृष्णमूर्ति का भी स्मरण हुआ और ये सूक्त भी याद आये, यद्यपि इन तीनों की तुलना किसी भी तरह नहीं की जानी चाहिये, पर तीनों में एक समानता अवश्य है। तीनों में मृत्यु से गुज़रते हुए अमरता के सन्धान की बात है। ऊपरी तौर पर ही सही, अन्तिम अरण्य के उपन्यासकार की वेद के कवियों से तो एक और समानता यह भी है कि वेद के कवि भी उस स्थल पर लौटना नहीं चाहते, जहाँ उन्होंने पितृमेध सम्पन्न किया और अन्तिम अरण्य में मेहरा साहब की अस्थियाँ नदी में बहा कर उपन्यास का वर्णनकार भी उस शहर में न तो लौटना चाहता है और न लौटता ही है, जहाँ उसके नायक मेहरा साहब कालकवलित हुए, वह उल्टे यह मान लेता है कि वह शहर था ही नहीं और वह उसमें कभी गया भी नहीं।

वेदों में जीवन के सम्पूर्ण आनन्द, उमंग और उल्लास की सबसे बेहतरीन कविताएँ हैं, पर मृत्यु के बारे में भी सबसे ज़्यादा और सबसे मार्मिक कविताएँ या सूक्त भी इन्हीं वेदों में हैं - अत्यन्त घनीभूत विषाद की संकुल छायाओं में गुँथी कविताएँ। पर यहाँ यह सवाल आता है कि मृत्युसूक्तों की सारी कविताएँ क्या मृत्यु के ही बारे में हैं? मृत्यु से ज्यादा तो वे जीवन के बारे में हैं। जो छपा व्याख्यान आपको मिलेगा उसमें मंगलाचरण के रूप में मैंने वेद का मृत्युविषयक कविताओं में से यह वचन उद्धृत किया है -

प्रियां यमस्तन्वं प्रारिरेचीत्। (ऋग्वेद, १०.१३.४)

(मेरी इस प्यारी काया को यम मरने से बचाये रखें।)

दरअसल मृत्युसूक्तों की कविताएँ उन ऋषियों की कविताएँ हैं, जो छन्दस् का कवच पहन कर मृत्यु को परे ठेलते चले

ऋग्वेद १०.१४ यम के लिये है, पर यह दिवंगत मनुष्य के लिये विदा का गीत भी है। अथर्ववेद के अठारहवें काण्ड में चार विस्तृत सूक्त हैं, चारों पितृमेधपरक हैं।

जाते हैं। निर्मल जी भी अन्तिम अरण्य में जो संसार रचते हैं, वह मृत्यु को परे ठेलने में लगे पात्रों का संसार है।

छन्दों पर चर्चा का आरम्भ हमें यहाँ मृत्यु की चर्चा के साथ करना पड़ रहा है, क्योंकि हमारी परम्परा में मृत्यु की चर्चा के साथ ही छन्दस् की चर्चा की गई है। छन्दशास्त्र पर बोलते हुए मैं बार-बार मृत्यु और जीवन के प्रसंगों पर लौटूँगा क्योंकि छन्दस् मृत्यु की विभीषिका के भीतर से जीवन रचता है। बोरिस पास्तरनाक अपने नायक के बारे में एक जगह कहते हैं :

> पहले की अपेक्षा अब वह और भी विशद् रूप में महसूस करने लगा था कि कला में दो तरह का कथ्य होता है, उसका पर्यवसान जुड़वाँ चिन्ताओं में होता है, वह मृत्यु का भी ध्यान करती है और उसके माध्यम से वह हमारे जीवन की रचना भी करती चलती है। (डॉ. ज़िवागो)

मृत्यु के विकराल जबड़ों से बाहर निकल कर अमरता का सन्धान ही छन्दस् है। यह अमरता हाड़ माँस की काया के सदा बने रहने में नहीं है, यह मृत्यु के भय से मुक्ति में है। महामृत्युंजय मन्त्र में ऋषि पकी चिभड़ी की तरह मृत्यु के बन्धन से छूटने की बात करता है, पक कर वृन्त या डण्ठल से टपक गई चिभड़ी मृत्यु के निर्भय आलिंगन का प्रतीक है।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि भारत के लोकसाहित्य के पहले काव्य वाल्मीकि रामायण की रचना का उपक्रम मृत्यु का एक दुःखद दृश्य देखने से हुआ। भवभूति के नाटक में इसकी रचना का प्रसंग सुन कर चकित होकर वनदेवी वासन्ती कहती हैः यह तो वेद के अलावा हमारी भाषा में छन्द उतर आया!

प्राचीन विचारकों में सबसे पहले कला विमर्श की दृष्टि से छन्दस् की सैद्धान्तिक चर्चा करने वाले विचारक ऐतरेय महीदास हैं, जो ईसा से कम से कम एक हज़ार साल पहले हुए। नीहार रंजन राय ने ऐतरेय महीदास को संसार का पहला और एक महान् सौन्दर्यशास्त्री बताया है। ऐतरेय संस्कृति, शिल्प और कला के सन्दर्भ में छन्दस् को परिभाषित करते हुए कहते हैं सारा संसार ही छन्दोमय है, छन्दस् नहीं तो संसार ही कहाँ हो सकता है? ऐतरेय के ही आसपास रचे गये उपनिषदों ने कहा कि धरती, आकाश, अन्तरिक्ष, कृषि, गायें, अश्व, सोना ये सब छन्द हैं। इस छन्द का सिद्धान्त बताते हुए ऐतरेय कहते हैं कि यह सारी सृष्टि देवों का शिल्प है और देवशिल्प की अनुकृति मानुषशिल्प है। आदमी तरह-तरह के खिलौने बनाता है, रथ बनाता है और छन्द रचता है ये सब मानुष शिल्प हैं। ऐतरेय कहते हैं कि मानुषशिल्पों को रचते-रचते मनुष्य अपने आप को सँवारता चलता है। इसलिये आत्मसंस्कृति ही शिल्प है। इस शिल्प के द्वारा मनुष्य सारे संसार को छन्दोमय बना लेते हैं।

छन्दस् का व्याकरण की दृष्टि से एक अर्थ है - आच्छादन करने वाला। वेदों के ऋषि कहते हैं कि हम जो रच रहे हैं, उसे हम छन्दस् इसलिये कहते हैं कि वह हमें ढँक लेता है। तैत्तिरीय आरण्यक के ऋषि कहते हैं कि जब पाप हमारी तरफ़ बढ़ रहा हो, तो उससे हमें बचाने के लिये छन्द कवच बनकर हमें ढाँप लेते हैं। छान्दोग्य उपनिषद् के ऋषि छन्द की वैकल्पिक निरुक्ति देते हुए कहते हैं कि अपमृत्यु से बचाने के लिये छन्द हमें ढँक लेता है, इसलिये हम उसे छन्द कहते हैं। देवताओं का उदाहरण देते हुए वे कहते हैं कि देवता भी तो मृत्यु से डर रहे थे, तो मृत्यु से बचने के लिये वे त्रयीविद्या (तीन वेदों) में प्रविष्ट हो गये और वहाँ पहुँच कर उन्होंने अपने आप को छन्दों से ढँक लिया। छन्द की एक तीसरी निरुक्ति तैत्तिरीय संहिता में दी गई है। वहाँ कहा गया कि अग्नि का संताप जब बहुत बढ़ता जा रहा हो, तो छन्द आच्छादन बनकर राहत देते हैं। प्रजापति ने जब अग्निचयन किया तो वे अग्निमय हो गये और देवता उनसे डर गये, तब देवताओं ने उनके ताप से बचने के लिये छन्दस् को आवरण बना लिया।

कुल मिलाकर जब पाप, मृत्यु और ताप ये तीनों मनुष्य को त्रास दे रहे हों, तो छन्द उसके रक्षाकवच बन जाते हैं। कुछ भिन्न परिप्रेक्ष्य के साथ निर्मल जी ने इसकी जगह यह कहा कि किताबें सबकी आँख बचा कर चुपके से दुःखते सिर के नीचे सिरहाना रख देती हैं। क्या छन्दों को रचना और छन्दों में रमना मृत्यु का सामना करने या उसे झेलने की शक्ति देता है? अन्तिम अरण्य में डॉ. सिंह मेहरा साहब की सत्तर साल की थकी हुई काया का बार-बार चिकित्सकीय परीक्षण करने से मिले अपने मन्तव्य उपन्यास के वर्णनकार को बताते हुए कहते हैं ''देह का अन्तिम सन्देश'' सिर्फ़ मृत्यु के सामने खुलता है, जिसे वह बिल्ली की तरह जबड़ों में दबा कर शून्य में अन्तर्ध्यान हो जाती है, ... जैसे एलिस के सामने चौशायर की बिल्ली गायब हो जाती थी ...सिर्फ उसकी मुस्कुराहट दिखाई देती है...''(पृ. १००)

शायद डॉ. सिंह का यह आकलन ग़लत था कि अफसर रहे मेहरा साहब यह भूल गये कि 'जीवन की आखिरी फाइल पर उनके नहीं किसी और के दस्तखत होंगे जिसके बिना हर पैटर्न अधूरा रहता है' (पृ-. १०२), मुझे लगता है कि शायद मेहरा साहब मृत्यु के निर्भय वरण की तैयारी में थे -

मरण को जिसने वरा है, उसी ने जीवन भरा है
परा भी उसकी और उसी के अंक सत्य यशोधरा है
सुकृत के जल से विसिंचित कल्प किंचित् विश्वउपवन
उसी की निस्तन्द्र चितवन चयन करने को हरा है ।

निराला की ये पंक्तियाँ मुझे यहाँ इसलिये भी याद आईं कि इन्हें लिखते समय कदाचित् निराला वैदिक ऋषियों की उस भावभूमि के नज़दीक थे, जिनके उद्धरण मैंने अभी दिये। वे परा, कल्प और सुकृत आदि की शब्दावली उपनिषदों से उठाते हैं।

कालिदास अपने नायक के मुख से मन्त्रदृष्टा वसिष्ठ के लिये कहलवाते हैं -

तव मन्त्रकृतो मन्त्रैर्दूरात् प्रशमितारिभिः।
प्रत्यादिश्यन्त इव मे दृष्टलक्ष्यभिदः शराः।।

(मन्त्रकार आप के मन्त्रों से, जो दूर से ही (अदृष्ट) शत्रुओं का शमन कर देते हैं, दिखाई देने वाले शत्रुओं को लक्ष्य बना कर बींधने वाले मेरे बाण मानो निराकृत किये जाते रहे हैं।)

यहाँ मन्त्रकृत् शब्द पर ध्यान दीजिये, जो वसिष्ठ के विशेषण के लिये कवि ने जोड़ा है। वसिष्ठ मन्त्रकार हैं, वे मन्त्र रच सकते हैं, इसलिये उनके मन्त्र दिलीप के लिये दृष्ट अदृष्ट विपत्ति से बचाने के लिये एक व्यूह रच सकते हैं।

जिन ऐतरेय महीदास ने छन्दस् को मनुष्य के पाप और मृत्यु से बचाने वाले रक्षाकवच के रूप में देखा, उन्होंने कदाचित् अपने इस कलादर्श के सत्यापन के लिये शुनःशेप की कथा अपने ग्रन्थ में जोड़ी होगी। इस कथा के राजा हरिश्चन्द्र सत्यवादी प्रतीत नहीं होते, वे वरुण को दिये गये वचन को बार-बार तोड़ते हैं, उनका बेटा रोहित अपने स्थान पर अन्य किसी को बलि दे देना चाहता है, इसके लिये वह शुनःशेप को खरीद कर ले आता है। विश्वामित्र शुनःशेप के प्रति होने वाले अन्याय का प्रतिकार करते हैं, वे शुनःशेप को वरुण की स्तुति करने का परामर्श देते हैं। शुनःशेप वरुण की स्तुति में जिस सूक्त को बलि चढ़ाये जाते समय कहने लगता है, वह उसके लिये रक्षाकवच बन जाता है और वह बलिपशु बनने से बच जाता है।

छन्द हमारे दुःख, ताप और मृत्यु की विभीषिका को मिटा तो नहीं सकते, पर उसे कुछ सह्य अवश्य बना सकते हैं, फैज के शब्दों में -- गीत नश्तर तो नहीं, मरहमे आज़ार सही।

इस मृत्यु की चर्चा से आपको खेद हुआ होगा, जिसे हल्का करने के लिये मैं एक आख्यान आपके सामने प्रस्तुत करूँगा, जिसे आधुनिक जन मिथक कहते हैं, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जी के शब्दों में गल्प या गप्प।

पिंगलशास्त्र के उद्भव को ले कर एक आख्यान मुरलीधर कवि भूषण के छन्दोहृदयप्रकाश नामक ग्रन्थ में बताया गया है, वह भी इस शास्त्र को प्रकारान्तर से मृत्यु से बचाने वाले शास्त्र के रूप में निरूपित करता है।

कथा यूँ है-एक बार शेषनाग को धरती की सैर करने की इच्छा हुई, तो क्षीर सागर से बाहर निकले और सागर के किनारे मगन हो कर ठण्डी बयार का आनन्द लेने लगे। पर यह आनन्द अचानक काफूर हो गया, जब उन्होंने देखा कि पता नहीं कैसे आकाश से उतर कर अचानक गरुड़ उनके सामने आ विराजे हैं। बहुत दिनों के बाद भरपेट आहार मिलेगा। यह कह शेषनाग को निवाला बनाने के लिये अपनी विशाल चोंच बढ़ाने को ही थे कि शेषनाग को अपने प्राण बचाने के लिये एक तरकीब सूझी और उन्होंने कहा गरुड़ जी, आप मुझे खा भले लीजिये, पर एक बात समझ लीजियेगा कि मुझे खा डाल कर आप संसार की अपूरणीय क्षति करने वाले हैं। गरुड़ ने पूछा कि कैसी क्षति, तो शेषनाग बोले- मैं तीनों लोगों में पिंगलशास्त्र या छन्दःशास्त्र का एकमात्र प्रामाणिक ज्ञाता हूँ और मेरे अवसान के साथ यह विद्या भी डूब जायेगी। गरुड़ ने कहा कि तुम्हारी विद्या डूबे तो डूबे, मैं अपना आहार न छोड़ूँगा। तब शेष नाग ने आखिरी युक्ति का प्रयोग किया, उन्होंने कहा कि प्रभुवर! आप मुझे प्रेम से खा लीजिये, पर मेरी एक अन्तिम इच्छा पूरी कर दीजिये। गरुड़ ने पूछा कैसी इच्छा, तो उन्होंने कहा कि आप मुझ से छन्दःशास्त्र का ज्ञान प्राप्त कर लीजिये और उसके बाद मुझे खा जाइये, मुझे संतोष रहेगा कि मैंने अपनी विद्या किसी को दे दी है। गरुड़ ने कहा कि मैं छन्दःशास्त्र पढ़ने को तैयार हूँ, पर तुम भी यह वचन दो कि छन्दःशास्त्र पढ़ाते-पढ़ाते कहीं यहाँ से खिसक नहीं जाओगे। शेषनाग ने कहा मैं वचन देता हूँ कि आप को बताये बिना यहाँ से नहीं हिलूँगा। फिर क्या था शेष नाग पढ़ाना और गरुड़ जी का उनसे छन्दःशास्त्र सीखना। शेष नाग ने देखा कि छन्दों की बारीकियाँ सुनते-सुनते गरुड़ जी लय, गति और यति की अनोखी दुनिया में मगन हो गये हैं और आँख मूँद कर सारा व्याख्यान सुन रहे हैं, तो उन्होंने विभिन्न छन्दों के लक्षण बताने के क्रम में भुजंगप्रयात नामक छन्द का लक्षण बताना शुरू किया। भुजंगप्रयात में चार यगण व तीन तीन वर्णों पर यति होती है। जैसे - न छेड़ो हमें दिल दुखाये हुए हैं

(इसके अरकान की तरकीब भानु जी ने यों बताई है - फऊलुन् फऊलुन् फऊलुन् फऊलुन्)।

अस्तु, लक्षण बताकर शेष जी ने इस छन्द के उदाहरण का सस्वर पाठ किया, जिसके अन्तिम चरण में भुजंगप्रयातम् यह शब्द चार बार दोहराया गया था। चौथी बार भुजंगप्रयातम् कहते हुए शेष जी फुर्ती से रेंगते हुए उछाल भर कर सागर में जा कूदे। गरुड़ ने आँख खोल कर देखा कि शेष नाग तो सागर में समाये जा रहे हैं, तो उन्होंने चिल्ला कर कहा - तुमने अपना वचन तोड़ा है और हमें धोखा दिया है। शेष नाग ने कहा-मैंने तो अपने वचन का पालन करते हुए आपको चार बार चेताया था कि साँप यह चला यह चला। आपने सुना ही नहीं!

यह किस्सा इसलिये भी मुझे दिलचस्प लगा कि यह छन्दःशास्त्र के ज्ञान के आधार पर इस शास्त्र के एक प्रवक्ता का मृत्यु के विकराल जबड़ों से बाहर निकल आने का किस्सा है।

छन्द तीन चीज़ों से रचा जाता है लय, गति और यति। गति और यति छन्द रूपी पुरुष दो चेहरे हैं, लय उसमें समाई हुई आत्मा। लय, गति और यति तीनों के तानेबाने में छन्द समाया रहता है, ये तीनों भी एक दूसरे में समाई होती हैं।

छन्द मौन के सागर से निकल आईं सीपियाँ हैं, जिनमें शब्दों के जो मोती छिपे रहते हैं, वे विराम के धागे में पिरोये जाते हैं। यति का अर्थ विराम ही है। भरतमुनि विच्छेद और विराम की गिनती पाठ के अलंकारों में करते हैं। रचना के रचाव में और उसके पाठ में भी शब्द और शब्द के बीच में ही नहीं, अक्षर अक्षर के बीच एक फाँक हम छोड़ते चलते हैं। शैवशास्त्र के आचार्य वामनदत्त अपने संवित्प्रकाश में कहते हैं कि इसी फाँक में ईश्वर बसते हैं।

अयमुच्चारयन् शब्दं वर्णाद् वर्णं कथं व्रजेत्।

यावन्मध्ये न विश्रान्तस्त्वयि शुद्धचिदात्मनि।।

छन्द कविता का स्वधर्म है, लय उसका अध्यात्म है। मनुष्य का जीवन लय, गति और यति इन तीनों के ताने-बाने में बनता है। इस धरती के सारे प्राणी छन्दस् के पुतले हैं, उनका जीवन छन्द में रचा-बसा है। छन्द निखिल सृष्टि के भीतर छिपे स्पन्द को रचना में संक्रमित करने का ज़रिया है। छन्दःशास्त्र के आचार्य छन्द की प्रविधि और प्रक्रिया को बताते हुए भी इस बात को ले कर सचेत हैं कि उसके सारे तकनीकी विन्यासों में अन्ततः अनन्त समाया होता है और वे विन्यास अनन्त की ओर ही ले जाते हैं। यगण मगण आदि आठ गणों के साथ लघु गुरु इन दस कोटियों के बारे में जगन्नाथ प्रसाद भानु अपने छन्दःप्रभाकर (पृ. १०) में कहते हैं -

''म-य-र-स-त-ज-भ-न-ग-ल-सहित दश अक्षर इन सोंहि।

सर्व शास्त्र व्यापित लखौ विश्व विष्णु सों ज्योंहि।।

जैसे विश्व में विष्णु व्याप्त हैं वैसे ही सम्पूर्ण काव्यरूपी सृष्टि में ये दशाक्षर व्याप्त हैं।''

कामता प्रसाद गुरु की सरस्वती में फरवरी १९०६ के अंक में प्रकाशित लम्बी कविता छपी है -

छन्दःपथदर्शक कवि भानु

छन्दो जलधि जिन्हें परमाणु

भारतीय विश्वबोध को ऐतरेय महीदास की शब्दावली में परिभाषित करते हुए कहा जा सकता है कि 'छन्दोमयं विश्वम्' यह दुनिया छन्दस् या छन्दों में बसी हुई है और छन्दस् दुनिया में बसा हुआ है। झरने पहाड़ों से झरते हैं, नदियाँ अपनी सहज गति से सागर की ओर बढ़ती हैं, भोर होते ही असंख्य पक्षी निखिल धरा को अपनी चहचहाहट से गुँजा डालते हैं। यह सब दुनिया में समाये हुए छन्दस् की अभिव्यक्तियाँ हैं। कविता के संसार में अनुष्टुप्, गायत्री त्रिष्टुप् और जगती से लगाकर शार्दूलविक्रीडित, स्रग्धरा या सॉनेट्, शिजो, तांका अथवा दोहा, सोरठा, चौपाई, कवित्त, सवैया, घनाक्षरी आदि इस विराट् छन्दस् की बहुत सीमित और सँकरी परिणतियाँ हैं। दरअसल आचार्य परम्परा ने इन्हें छन्दस् के रूप में परिभाषित किया भी नहीं है, इनके लिये पारिभाषिक संज्ञा वृत्त है। वृत्त का अर्थ घेरा है। छन्दस् के अनन्त विस्तार की सीमित घेराबन्दी वृत्त है। वृत्त के घेरे में समाकर निराकार छन्द साकार हो जाता है, वह वर्णों या मात्राओं की एक खास संख्या, खास विन्यास और यति, गति तथा लय की एक खास बुनावट के द्वारा एक अलग पहचान धारण कर लेता है। छन्द में चरण कितने हों, यह सीमा नहीं, पर हर एक वृत्त में चार चरण होते हैं। साहित्य के संसार में साकार वृत्त के संकीर्ण दायरे कितनी ही बार समर्थ कवि जनों ने तोड़े, तोड़ कर नये वृत्त गढ़े, इन सारे विखण्डन और पुनर्निमाण की प्रक्रिया में वे साकार से निराकार तक वृत्त से छन्दस् तक पहुँचे।

संगीत में ताल के द्वारा काल का परिच्छेद किया जाता है- अर्थात् अखण्ड काल को टुकड़ों में तोड़-तोड़ कर जोड़ा जाता है। तोड़ कर यह जोड़ना अनन्त का ही एक चक्र पूरा करना होता है। छन्दःशास्त्र में काल का परिसीमन यतियों और गतियों के द्वारा किया जाता है। निर्मल वर्मा दिक् और काल के अन्तःसम्बन्धों की मीमांसा करते हुए काल के

फैलाव और दिक् के खण्ड-खण्ड में उसके विखण्डन को बताने के लिये भी लय के अलग-अलग तरह के विन्यास लेते हैं। अन्तिम अरण्य में वे इन विन्यासों में अन्तर्निहित सातत्य को ले कर बहुत सचेत हैं। इसीलिये वे यहाँ अपने एक पात्र के मुँह से सीधे-सीधे यह कहलवाते भी हैं-''जब कुछ लोग कहते हैं कि वे एक दिन के बाद दूसरे दिन में रहते हैं ... तो शायद उनका मतलब होता है कि वे एक ही दिन में रहते हैं, जो चलता रहता है।'' (पृ. २२)। गतियों, यतियों और लय के विन्यास के साथ अन्तिम अरण्य निर्मल जी के ही शब्दों में 'एक न्यूट्रल जगह' है-'न भीतर न बाहर, बचपन और बुढ़ापे से परे किसी स्टेशन पर, जहाँ मनुष्य उम्र का खूटा छुड़ा कर सब स्टेशन एक साथ पार कर जाता है।' (पृ. २०६)

साहित्य के छन्द वैश्विक लय की अभिव्यक्तियाँ हैं, इनका पाठ करना उस लय से जुड़ना है। इसलिये भारत ही नहीं, एशिया के प्रायः सभी पुराकालीन समाजों में लोग इस लय को जीवन में उतारने के लिये छन्दों का अभ्यास करते रहे हैं। एशिया की प्राचीन संस्कृति और सभ्यता वाले सभी देशों में यह पारम्परिक मान्यता रही है कि छन्द या छन्दस् को साध लेने का अर्थ जीवन को साध लेना है और इसके लिये छन्द के साकार रूप अर्थात् वृत्त को पहले साधा जाना चाहिये। वृत्त को साधने के लिये इन सारे देशों की औपचारिक और अनौपचारिक शिक्षा पद्धतियों में पैदा होने के बाद से ही बच्चों को छन्दों की घुट्टी पिलाई जाती रही है, इस विश्वास के साथ कि इस घुट्टी का सत उनके जीवन में बना रहेगा और उनके जीवन को अधिक सुन्दर और व्यवस्थित बनाता रहेगा। एशियाई देशों के हमारे पुरखे इन छन्दों को सहेजते और बटोरते हुए जीवन की अपनी यात्रा में कदाचित् उस मुकाम पर पहुँच पाते थे, जो निर्मल वर्मा का अन्तिम अरण्य है जहाँ 'आने का मतलब एक दुनिया को छोड़ कर दूसरी दुनिया में जाना नहीं था, यह अपनी ही दुनिया में अपने को दुबारा पाने का प्रयत्न था।' (पृ. २४)

इस अर्थ में छन्दःशास्त्र समग्र एशिया की बृहत्तर संस्कृति और एशियाई बोध को बनाये और बचाये रखने वाले कतिपय मूलाधारों में से एक है। थाईलैण्ड, स्याम, लाओस, कम्बोडिया, मलयेशिया के साहित्य में तो संस्कृत के छन्द एक दम वैसे ही ले लिये गये। फ़ारसी ने अपना छन्दःशास्त्र विकसित किया, वहाँ अनेक छन्दों नाम अलग हैं, पर छन्दोविधान मूलतः एक है।

भरतमुनि कहते हैं कि संगीत की तरह बोलचाल तथा नाटक के कथनोपकथनों में भी लय के तीन प्रकार द्रुत, मध्य और विलम्बित प्रयुक्त होते हैं।

भोज ने गद्य तथा पद्य दोनों की छह गतियाँ बताई हैं- द्रुता, विलम्बिता, मध्या, द्रुतविलम्बिता, द्रुतमध्या तथा मध्यविलम्बिता। लय, गति और यति- ये तीनों केवल शब्दों और कथनभंगी में बयान करने की तर्ज़ में ही नहीं होते, वे उन स्थितियों और अनुभवों में भी होते हैं, जो साहित्य में अभिव्यक्त होते हैं। जिस छन्द की सारी संरचना, उसमें व्यक्त कथ्य और उससे रचे जाने वाले पर्यावरण विलम्बिता गति की माँग करते हैं, उसे द्रुता में पाठ करने से कविता के संसार का व्याघात होगा। कोई छन्द एक साथ द्रुता और विलम्बिता गतियों में बँधा हो सकता है। द्रुतविलम्बित छन्द का तो नाम ही द्रुतविलम्बित इसीलिये रखा गया। उसमें वर्णित प्रसंग भी एक साथ धीमी गति और त्वरा में घटते हो सकते हैं, उसका पाठ भी एक साथ द्रुता और विलम्बित गतियों की माँग करता है। नगण, दो भगण और रगण के प्रयोग के साथ ४, ४, वर्णों पर यति होती है। हरिऔध जी की इस द्रुतविलम्बित रचना

'दिवस का अवसान समीप था'

के दूसरे चरण में गति और यति कुछ टूटती है।

कालिदास, माघ आदि कवियों ने वसन्त के अवतरण, वसन्त में वनविहार आदि के वर्णन में द्रुतविलम्बित छन्द का सधा हुआ प्रयोग किया है। माघ वासन्ती समीर के झोंकों के झकोरे द्रुतविलम्बित छन्द में इस तरह उतारते हैं--

तनुतरंगततिं सरसां दलत्
कुवलयं वलयन् मरुदाववौ।।

जबकि साहित्य दर्पणकार विश्वनाथ के द्वारा उद्धृत शिखरिणी में ये ही झोंके बेहद आहिस्ता से चलते हैं क्योंकि शिखरिणी के सत्रह वर्णों के एक चरण में यतियाँ ६ और ११ वर्णों पर होने के कारण गति धीमी और शिथिल होती चलती है -

मरुन्मन्दं मन्दं किरति मकरन्दं दिशि दिशि।

मन्दाक्रान्ता अपने हर चरण में चार, छह, सात वर्णों पर यति के साथ लगभग दुःख में छोड़ी गई साँसों की तरह धीमी गति में आगे बढ़ती है। हरिऔध जी ने प्रियप्रवास में यह छन्द अपनाया -

पीछे बातें विविध करतीं काँपती कष्ट पातीं....

थामस हार्डी के उपन्यासों या अन्तिम अरण्य जैसे उपन्यासों में मन्दाक्रान्ता की लय मालूम पड़ती है। निर्मल वर्मा बाहरी दृश्यालेख के फैलाव या भीतर के दृश्यालेख की गहनताओं को विलम्बित लय की बनावट में समेटने का प्रयास करते हैं। रविशंकर के सितार के आलाप के आरम्भ की तरह अन्तिम अरण्य के आरम्भ वे जिन तीन वाक्यों से करते हैं, वे क्रमशः दीर्घ होते जाते हैं -

वह आ रहे हैं। मैं उन्हें दूर से देख सकता हूँ। मैं कोशिश करता हूँ कि यह जान सकूँ कि वह किसी के साथ हैं या अकेले?(अन्तिम अरण्य, पृ. ६)

शब्दों की खास जमावट उनके विवरणों में बाहर की दुनिया को क्षैतिज, तिर्यक् और ऊर्ध्वाधर विस्तार को विलम्बित लय में समेट पाती है -

अब वह पेड़ों के अन्तिम झुरमुट में चले गये हैं, जिसकी हरियाली छत पर डूबते सूरज की एक पीली परत फैली है। उसके ऊपर परिन्दों का रेला है और उसके ऊपर आकाश, तारे, हवा... और फिर कुछ नहीं। (वही)

कुछ ही देर तक पलकों पर धूप की रंगबिरंगी बुँदकियाँ नाचती रहीं, फिर वे धीरे-धीरे हवा की आहटों में बदल गयीं, जो ऊपर से फरफराती फुनगियों से नीचे आ रही थीं। एक सूनी-सी सनसनाहट जो सिर्फ़ बीच जंगल में सुनाई देती है, पहाड़ के एक छोर से दूसरे पहाड़ की ओर भागती हुई। अचानक घण्टियों की आवाज़ सुन कर मेरी आँख खुल गई। सूरज कहीं कोने में चला गया था। (पृ. ६०)

यह मन्दाक्रान्ता की लय है, जो निर्मल जी के शब्दों में ही 'यातना की यात्रा और बातों के पीछे छिपी वीरान खामोशियों में ले जाती है या खाली तारीखों के बीच ठिठके समय में धीरे-धीरे बहाती है।'

अन्तिम अरण्य में पहुँच कर द्रुत लय मध्या में और मध्या विलम्बिता में विलीन होती चलती है। निर्मल एक साथ तीनों को क्रमशः इस्तेमाल करते हैं -

चुन्नीलाल हमें छोड़ कर अपने ठठ्ठर में चला गया। रह गई सिर्फ़ हवा और काँपती टहनियाँ, डूबते सूरज की पीली निबोली छाया, जो बादलों को भेद कर सारे शहर पर तिर रही थी। पहाड़ियों पर एक अलौकिक-सी आभा फैली थी। सुनहरे पीले रंगों में रँगी हुई वे किसी देवताओं का लोक जान पड़ती थीं, मनुष्य के हाथों से दूर, अछूती और अपने

ही लोक से आप्लावित। (पृ. १६२)

कालिदास के नाटक में अचानक हड़बड़ी में शकुन्तला और उसकी दोनों सहेलियों से विदा लेकर दुष्यन्त को कण्व के आश्रम से चल देना पड़ता है, चलते-चलते वह कहता है –

गच्छति पुरःशरीरं धावति पश्चादसंस्तुतं चेतः।

'शरीर सामने की तरफ़ चलता है जैसे तैसे अनचीन्हा-सा मन पीछे भाग रहा है।'

आर्या छन्द के पहले चरण की विलम्बित गति को दूसरे में सहसा द्रुत में तब्दील कर दिया गया है।

लय और छन्दस् गतियों और यतियों में, वर्णों और मात्राओं में ही नहीं होते, वे अर्थ में या कथ्य में भी होते हैं। उदाहरण के लिये शिवपंचाक्षरस्तोत्र लें, जिसमें शब्दों की या पदावली की लय के साथ अर्थ की लय के साथ जुगलबन्दी करती हुई चलती है और अक्षर-अक्षर में विराजे शिव का छन्दोमय स्वरूप झलक उठता है।

शिवपञ्चाक्षरस्तोत्र की ही तरह चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग करते हुए राजशेखर ने इस पद्य के पहले दो चरणों में अर्थ की लय पैदा की है- कंचुकी एक पात्र होता है कम से कम अस्सी या नब्बे साल की उमर का। कंचुकी कहता है –

अध्वश्रमाय चरणौ विरहाय दारा
अभ्यर्थनाय वचनं च वपुर्जरायै।
एतानि मे विदधतस्तव सर्वदैव
धातस्त्रपा न यदि किं न परिश्रमोपि।।

इस श्लोक के साथ मेरी एक स्मृति जुड़ी है। पं. बच्चूलाल अवस्थी सागर विश्वविद्यालय के कैम्पस में मेरे पड़ौस में रहते थे। उम्र में वे मुझसे मात्र इकत्तीस साल बड़े थे पर मित्र की तरह चर्चा ज़्यादा होती थी। ...एक बार यह छन्द मैंने उन्हें सुनाया। सुन कर वे चकित और स्तब्ध मुझे ताकते रहे, एक मिलीमीटर भी यदि उनकी भौंह ऊपर उठती, तो सात गहरी रेखाएँ उनके कपाल पर खिंच जाती थीं। यकायक उन्होंने मुँह बिचकाया और कहा-बात बनी नहीं, पहले दो चरणों में जो लय बनी थी उसे तीसरे चरण में कवि ने तोड़ दिया है, अर्थ की लय। अभी तक मुझे इस बात का मलाल है कि पलट कर मैंने उनसे यह क्यों न कहा कि वर्णनकर्त्ता ने पहले दो चरणों में अर्थ की संगतियों से जो लय बनायी थी, उसे तीसरे चरण में आकर छिन्न-भिन्न कर दिया है, तो ठीक ही किया है, क्योंकि वह संगति थी ही नहीं, वह तो विसंगतियों का बयान था। इस बयान में यदि लय बन भी गई थी, तो उसे प्रश्न के प्रहार से चकनाचूर कर देना उचित ही था।

जब जीवन में लय टूट रही हो, तो छन्दों में भी लय टूटती है। रघुवीर सहाय की रामदास कविता में स्थायी या टेक की पंक्ति को छोड़ दें, तो छन्द तो वही है, जो तुलसी और जायसी का है, पर इस छन्द की लय कितनी अलग है, वह ऐसे संताप, उत्ताप और समय की ऐसी धधकती भट्टी में ढलती निकलती है, जहाँ जायसी और तुलसी की स्मृतियाँ और छायाएँ भी कहीं से राहत देने के लिये आ नहीं सकतीं :

चौड़ी सड़क गली पतली थी
दिन का समय घनी बदली थी
रामदास उस दिन उदास था

अन्तसमय आ गया पास था
उसे बता यह दिया गया था-

ही लोक से आप्लावित। (पृ. १६२)

कालिदास के नाटक में अचानक हड़बड़ी में शकुन्तला और उसकी दोनों सहेलियों से विदा लेकर दुष्यन्त को कण्व के आश्रम से चल देना पड़ता है, चलते-चलते वह कहता है –

गच्छति पुरःशरीरं धावति पश्चादसंस्तुतं चेतः।

'शरीर सामने की तरफ़ चलता है जैसे तैसे अनचीन्हा-सा मन पीछे भाग रहा है।'

आर्या छन्द के पहले चरण की विलम्बित गति को दूसरे में सहसा द्रुत में तब्दील कर दिया गया है।

लय और छन्दस् गतियों और यतियों में, वर्णों और मात्राओं में ही नहीं होते, वे अर्थ में या कथ्य में भी होते हैं। उदाहरण के लिये शिवपंचाक्षरस्तोत्र लें, जिसमें शब्दों की या पदावली की लय के साथ अर्थ की लय के साथ जुगलबन्दी करती हुई चलती है और अक्षर-अक्षर में विराजे शिव का छन्दोमय स्वरूप झलक उठता है।

शिवपञ्चाक्षरस्तोत्र की ही तरह चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग करते हुए राजशेखर ने इस पद्य के पहले दो चरणों में अर्थ की लय पैदा की है- कंचुकी एक पात्र होता है कम से कम अस्सी या नब्बे साल की उमर का। कंचुकी कहता है –

अध्वश्रमाय चरणौ विरहाय दारा
अभ्यर्थनाय वचनं च वपुर्जरायै।
एतानि मे विदधतस्तव सर्वदैव
धातस्त्रपा न यदि किं न परिश्रमोपि।।

इस श्लोक के साथ मेरी एक स्मृति जुड़ी है। पं. बच्चूलाल अवस्थी सागर विश्वविद्यालय के कैम्पस में मेरे पड़ौस में रहते थे। उम्र में वे मुझसे मात्र इकत्तीस साल बड़े थे पर मित्र की तरह चर्चा ज़्यादा होती थी। ...एक बार यह छन्द मैंने उन्हें सुनाया। सुन कर वे चकित और स्तब्ध मुझे ताकते रहे, एक मिलीमीटर भी यदि उनकी भौंह ऊपर उठती, तो सात गहरी रेखाएँ उनके कपाल पर खिंच जाती थीं। यकायक उन्होंने मुँह बिचकाया और कहा-बात बनी नहीं, पहले दो चरणों में जो लय बनी थी उसे तीसरे चरण में कवि ने तोड़ दिया है, अर्थ की लय। अभी तक मुझे इस बात का मलाल है कि पलट कर मैंने उनसे यह क्यों न कहा कि वर्णनकर्त्ता ने पहले दो चरणों में अर्थ की संगतियों से जो लय बनायी थी, उसे तीसरे चरण में आकर छिन्न-भिन्न कर दिया है, तो ठीक ही किया है, क्योंकि वह संगति थी ही नहीं, वह तो विसंगतियों का बयान था। इस बयान में यदि लय बन भी गई थी, तो उसे प्रश्न के प्रहार से चकनाचूर कर देना उचित ही था।

जब जीवन में लय टूट रही हो, तो छन्दों में भी लय टूटती है। रघुवीर सहाय की रामदास कविता में स्थायी या टेक की पंक्ति को छोड़ दें, तो छन्द तो वही है, जो तुलसी और जायसी का है, पर इस छन्द की लय कितनी अलग है, वह ऐसे संताप, उत्ताप और समय की ऐसी धधकती भट्टी में ढलती निकलती है, जहाँ जायसी और तुलसी की स्मृतियाँ और छायाएँ भी कहीं से राहत देने के लिये आ नहीं सकतीं :

चौड़ी सड़क गली पतली थी
दिन का समय घनी बदली थी
रामदास उस दिन उदास था

अन्तसमय आ गया पास था
उसे बता यह दिया गया था-

मात्राओं के छन्द के, संस्कारी छन्द के या उसके अन्तर्गत चौपाई के अगणित प्रकारों का रामचरितमानस में बहुत सटीक उपयोग करते हैं। श्रद्धा, सौन्दर्यानुभव, हृदय की स्थिरता जैसी स्थितियों के निरूपण में वे द्रुत विलम्बिता लय को साधते हुए चार-चार चौकलों (चतुर्मात्रिक बन्ध) वाला पादाकुलक छन्द लेते हैं :

गुरु पद रज मृदु मंजुल अंजन।
नयन अमिय दृग दोष बिभंजन।
तेहिं करि बिमल बिबेक बिलोचन।
बरनउँ रामचरित भव मोचन।।

जब कि हृदय की अस्थिरता, विचलन आदि की स्थितियों के लिये वे चौपाई का समकल विषमयुग्म वाला अन्य भेद का प्रयोग करते हैं -

सोइ रघुबर सोइ लछिमनु सीता।
देखि सती अति भईं सभीता।
हृदयकम्प तनु सुधि कछु नाहीं।
नयन मूँदि बैठी मग माहीं।।

पुष्पवाटिका प्रसंग में छन्दों की ऐसी छटाएँ बिखरीं हैं। सीता आ रही हैं और राम उनके आने की आहट सुनते हैं। यह वह पंक्ति है जिसके बारे में फैज़ ने कहा कि काश मैं एक ही पंक्ति ऐसी लिख पाता!

कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि।
कहत लखन सन रामु हृदयँ गुनि।।

यहाँ तक तो एक-एक चरण में चार-चार चौकलों (चतुर्मात्रिक बंध) वाला पादाकुलक छन्द है, पर कवि के इस कथन के तुरन्त बाद राम के कथन में पादाकुलक को तत्काल बदल कर विद्युन्माला या चम्पकमाला जैसा बन्ध तुलसी ले आते हैं (मो-मो-गो-गो विद्युन्माला)

मानहुँ मदन दुन्दुभी दीन्ही।
मनसा बिस्व बिजय कहँ कीन्हीं।।

इसलिये लय और छन्द केवल वर्णों और शब्दों से नहीं बनते, इससे अधिक वे अर्थों और प्रसंगों से बनते हैं। मुक्तिबोध जैसे कवि भीतर के अँधेरे कारखाने की लाल भड़क बेताब धमनभट्टी में लोहे के दोहे में तब्दील होने की प्रक्रिया बताते हैं -

किन्तु द्वन्द्व स्थिति में स्थापित मेरा वह वज़नदार लोहा
लाल लाल
उन भयंकर अग्निक्रियाओं में
तेज धकेला जा कर
पिघलते हुए दमकते हुए

तेज:पुंज गहन अनुभव का छोटा सा दोहा बनता है।
(मुक्तिबोध रचनावली, भाग-२, १९८५, पृ. ९६)

तेज:पुंज ही छपा है। मुक्तिबोध अपने छन्दों के आँसू के फव्वारे लेकर अकुलाते हुए बाहर आकर दुनिया का हिस्सा बनते हुए देखते हैं -

मैं जिस दुनिया में आज बसा
जन संघर्षों की राहों पर
ज्वालाओं से माओं का बहनों का सुहाग सिन्दूर हँसा बरसा
इन भारतीय गृहिणी निर्झरिणी नदियों के
घर-घर में भूखे प्राण हँसे
दिल में आँसू के फव्वारे
ले कर मेरे ये छन्द
बावरे बुरी
तरह यों अकुला कर
बूढ़े पितृश्री के चरणों में लोट पोट कर
बहना के हिय की तुलसी पर
घन छाया कर
मंजरी हुए
भाई के दिल में फूल हुए

परिणाम अलंकार के लिये मैंने अन्यत्र इस कविता को उद्धृत किया है। पंक्ति-पंक्ति में अलग-अलग छन्द रमे हुए हैं, जैसे पहली दो पंक्तियों में, पाँचवीं और छठीं पंक्तियों में और अन्तिम पंक्ति में चौपाई का एक एक चरण तो है ही।

गति, यति और लय ऊपरी तौर पर तो पाठ करने से बनती हैं। पर वास्तव में तो वे शब्दों, पदावली, वाक्य और अर्थ तथा अर्थ की अनुगूँजों में बसती हैं। मैं समझता हूँ कि भोज की बताई हुई इन छह छान्दस गतियों में कुछ और गतियाँ जोड़ी जानी चाहिये, खासतौर से काल की गतियों के जो प्रकार बताये गये हैं, उनकी गतियाँ तो अवश्य ही साहित्य में छन्द रचती हैं, जैसे चक्राकार गति, शंखवलयाकार गति या रेखीय गति। एक सर्पिल गति भी हो सकती है, पदों की भी और अर्थों की भी जो भुजंगप्रयात छन्द में होती है ज़िगज़ेग....

- कवि बिल्हण के नाम से चोरसुरतपंचाशिका काव्य मिलता है। उसमें अतीत से वर्तमान और वर्तमान से अतीत में आवाजाही करते हुए कविता चलती है, चक्राकार गति को बनाये रखने के लिये स्मरामि (याद करता हूँ) और अद्यापि (अभी भी या आज भी) इन दो शब्दों का प्रयोग बार-बार कवि करता है। चोरसुरतपंचाशिका में वर्णनकार एक राजकुमारी के साथ पिछले दिन तक की गई उद्दाम कामकेलियों का अत्यन्त विशद स्मरण करता है।

पर सारा काव्य फाँसी पर लटकाये जाने के लिये ले जाये जाते कवि का कविता में एक बयान है, जिसके द्वारा अन्ततः कवि फाँसी के तख्ते से छूट कर प्रेयसी को फिर से पा लेता है। कुछ इसी तरह का बयान शेखर - एक जीवनी भी है। दोनों ही रचनाएँ मृत्यु का सामने करते नायकों के कथन से रची गई है।

छन्द बाणभट्ट के गद्य में ही नहीं, अख़बार के गद्य में भी हो सकता है। अलबत्ता बाणभट्ट ने अपने गद्य में छन्द जैसा साधा वैसा सब नहीं साध पाते। बाणभट्ट अपने हर पात्र की कथनभंगियों में अलग-अलग तरह के छन्द रचते हैं, जब चन्द्रापीड़ का छन्द अलग, कादम्बरी का अलग। पर जब महाश्वेता अपनी आपबीती चन्द्रापीड़ को बताती है, तो उसकी रामकहानी में गहरी व्यथा और अपार करुणा के आकाश में छन्दों के असंख्य मेघ मन्द्र गर्जन के साथ घुमड़ पड़ते हैं, उसी में से कुछ गर्जन और तर्जन निकाल कर हजारीप्रसाद द्विवेदी अपनी बाणभट्ट की आत्मकथा में भट्टिणी और निउनिया की अनोखी दुनिया रच ले जाते हैं। पर बाणभट्ट ने महाश्वेता को इस तरह छन्दोमयी बना दिया है कि वे शब्द-शब्द और अक्षर-अक्षर को अपने भीतर के छन्दस् से दिव्य बना कर बोलती चली जाती हैं। ये ही महाश्वेता जब बचपन के बीतने की चर्चा करती हैं, तो वे अचानक छन्द और लय बदल देती हैं। एक आवेग के साथ द्रुता गति में बोलती हुई महाश्वेता अपने एक वाक्य में द्रुतमध्या गति पकड़ लेती हैं -

धीरे-धीरे
मेरी काया में
नवयौवन ने पाँव धरे,
जैसे वसन्त में
चेत का महीना आये,
जैसे चेत के महीने में
कोंपलें आयें,
जैसे कोपलों में कुसुम खिलें
जैसे कुसुमों पर भौंरे आयें
जैसे भौरों में मद आये
ऐसे ही
धीरे-धीरे
मेरी काया में
नवयौवन ने पाँव धरे।

(क्रमेण च कृतं मे वपुषि वसन्त इव मधुमासेन मधुमास इव नवपल्लवेन, नवपल्लव इव कुसुमेन, कुसुम इव मधुकरेण, मधुकर इव मदेन नवयौवनेन पदम्।) यहाँ एक वाक्य में शंखवलयाकार गति है। अनुवाद में उसे लाना सम्भव न था।

छन्द के ये तीनों मूल तत्त्व-गति, यति और लय-रचना की विषयवस्तु से निर्धारित होते हैं, यह तो सही है पर मैं समझता हूँ कि वे मूलतः तो रचना करने वाले के अपने मानस की बनावट से निर्धारित होते हैं। निखिल ब्रह्माण्ड गतियों, यतियों और लयों के अनन्त और अजस्र प्रवाह में रचा हुआ है, इस प्रवाह में कोई धारा किसी रचनाकार के मानस के गलियारे आ कर बहती है, तो इस गलियारे के अनुकूल लहरें, भँवर और धाराएँ उसमें बनती हैं। रचनाकार अपने को इस अजस्र प्रवाह का माध्यम बन जाने देता है- यही उसकी सिद्धि है। इक़बाल कहते हैं -

ये नग्म-ए-दिलकश तेरा बेसाज़ नहीं है
तू जो कह रहा है, तेरी आवाज़ नहीं है।

इसलिये हर रचनाकार की अपनी लय और अपना छन्द होता है।

संस्कृत कविता में लगभग एक हज़ार तरह के छन्दों का प्रयोग हुआ है। आचार्य क्षेमेन्द्र संस्कृत छन्दःशास्त्र के सारे प्रसिद्ध छन्दों में एक-एक को ऋतुविशेष, भावविशेष या वर्ण्यविशेष से अनुकूलता की पड़ताल करते हैं। संस्कृत साहित्य की अरण्यानी में अगणित शार्दूलविक्रीड़ित छन्दों में पता नहीं कितने सिंहों ने उछाल भरी, हरिणी छन्दों में कितनी हरिणियों ने कुलाचें लगाईं, कविता के उद्यान में मालिनीछन्द में कितनी मालिनियों ने मालाएँ पहनाईं, कितनी हंसियों ने उड़ान भरी, कितनी जलधरमालाओं ने फुहारें छोड़ी, कितने भ्रमरविलसितों ने गुंजन किया, कितनी वसन्ततिलकाओं में वसंत की सुषमाएँ सिरजी गईं। किसी-किसी छन्द को दो या तीन अन्य नाम भी अलग-अलग प्रसंगों में उसके कारगर होने के कारण दिये गये, जैसे वसन्ततिलक या वसन्ततिलका के अन्य नाम उद्धर्षिणी और सिंहोन्नता भी हैं।

क्षेमेन्द्र एक-एक छन्द की खास लय की मीमांसा करते हुए बताते हैं कि वह किस कवि के स्वभाव और रुझान के अनुकूल पड़ती है। भवभूति जितनी उम्दा शिखरिणी रचते हैं, कालिदास नहीं रच पाते, पर कालिदास ने मन्दाक्रान्ता को जैसा साधा, वैसा कोई क्या साध पायेगा।

सुवशा कालिदासस्य मन्दाक्रान्ता प्रवल्गते।
सद्श्वदमकस्येव काम्बोजतुरङ्गाङ्गना।।
भवभूतेः शिखरिणी निरर्गल तरङ्गिणी
चकिता घनसन्दर्भे या मयूरीव नृत्यति।।

दोहा और चौपाई तुलसी के कवि स्वभाव के अधिक निकट है, सूर की कविप्रकृति उन्हें अंगीकार नहीं कर पाई। क्षेमेन्द्र कहते हैं कि संस्कृत के कवियों में पाणिनि उपजाति में, कालिदास मन्दाक्रान्ता में, भारवि वंशस्थ में, भवभूति शिखरिणी में, रत्नाकर वसन्ततिलक रचने में अद्वितीय हैं। उसी तरह हम कह सकते हैं कि रसखान और घनानन्द सवैया में तो तुलसी चौपाई में प्रगल्भ हैं, किसी-किसी कवि के अवदान से कोई-कोई छन्द लोकप्रियता हासिल कर लेता है, जैसे चौपाई तुलसीदास के कारण कोटि-कोटि कण्ठों का हार बनी, दोहा कबीर और रहीम की साधना और सिद्धि के कारण अपने अगणित रूपों में उत्तर भारत की जनसमाज में जिह्वा-जिह्वा पर थिरकता रहा। कभी-कभी किसी छन्द की चिंगारियाँ विस्मृति की राख में दब जाती हैं, कोई कवि आकर उस राख को हटा कर उस छन्द की अलख फिर से जगा देता है। आल्हाकाव्य के कारण जो वीर छन्द या मात्रिक सवैया मध्यदेश के गाँव-गाँव में कुछ शताब्दियों तक निरन्तर गाया जाता रहा, उसकी एक बार फिर नये तेजस्वी रूप में प्राणप्रतिष्ठा सुभद्राकुमारी चौहान की झाँसी की रानी के द्वारा हुई।

यह सृष्टि अनन्त है, इसमें बनने वाले गतियों, यतियों और लयों के नमूने भी अनन्त हैं, उनमें से कुछ नमूने गणवृत्त या वर्णवृत्त तथा मात्रावृत्त की परिभाषाओं में बताये जाते रहे हैं और उनसे पिंगलशास्त्र विकसित हुआ। जिस तरह संगीत में सात स्वरों के परस्पर संयोजन से अनन्त राग जन्म लेते हैं, उसी तरह साहित्य में अक्षरों, पदों और वाक्यों के विन्यास से अनन्त छन्द उद्भूत होते हैं। पिंगलशास्त्र इनमें से लगभग एक हज़ार छन्दों को ही परिभाषित करता है, जिनके प्रस्तार से करोड़ों प्रभेद बन जाते हैं। पर जिस तरह संगीत में लय, गति, यति के अनन्त रूप होते हैं, नये राग आविष्कृत किये जाते रहे हैं, उसी तरह नये छन्द बराबर खोजे जाते रहे हैं। एक अक्षर के एक चरण वाले उक्त छन्द से लगा कर छब्बीस अक्षर के एक चरण वाले छन्द से जो छब्बीस छन्द बने, उनमें प्रस्तार करने पर हर एक के असंख्य भेद हो जाते हैं। प्रथम पंक्ति में सारे अक्षर गुरु लिख कर शेष पंक्तियों में हर पंक्ति में पिछली पंक्ति की ही

आवृत्ति दाहिनी ओर से करते हैं, पर अन्तिम गुरु को तब तक लघु और उसके आगे वालों को गुरु करते जाते हैं जब तक सारे लघु न हो जायें। इस तरह जो टेबल बनेगा, उससे प्रस्तारसंख्या विदित हो जाती है। नाट्यशास्त्र के अनुसार इन छब्बीस वृत्तों में हर एक के प्रस्तार करके जितने प्रकार के छन्द बनते हैं, उनकी संख्या भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में पूरे गुणा और जोड़ के साथ तेरह करोड़ बयालीस लाख सत्रह हजार सात सौ छब्बीस बतायी है। बारहवीं शताब्दी में देश में बड़े वैज्ञानिक हुए भास्कराचार्य। उन्होंने अंकगणित की अपनी पुस्तक लीलावती में इसी पद्धति का उपयोग किया है।

छन्दस् और वृत्त का सम्बन्ध स्पष्ट करते हुए भरतमुनि कहते हैं कि छन्दों से ही विविध वृत्त जन्म लेते हैं।

यों तो छन्दःशास्त्र के एक आद्य आचार्य शेषनाग कहे गये, पर उनका उद्‌भव शिव के डमरूनाद से कहा गया। दरअसल हर छन्द में शिव का ताण्डव रचा जाता है। ताण्डव भी दो प्रकार का कहा गया है सुकुमार और उद्धत। हर छन्दों में भी सुकुमार या उद्धत या मिश्र ताण्डव करते हैं, और उनमें शिव का अवतरण होता है। रावण के शिवताण्डवस्तोत्र में पंचचामर छन्द है।

जटाटवीगलज्जलप्रवाहपावितस्थले
गलेवलम्ब्यलम्बितां भुजङ्गतुङ्गमालिकाम्।
डमड्डमड्डमडमन्निनादवड्डमर्वयं
चकार चण्डताण्डवं तनोतु नः शिवः शिवम्।
जटाकटाहसम्भ्रमभ्रमन्निलिम्पनिर्झरी
विलोलवीचिवल्लरीविराजमानमूर्द्धनि।
धगद्धगद्धगज्ज्वल्ललाटपट्टपावके
किशोरचन्द्रशेखरे रतिः प्रतिक्षणं मम्।।

यही पंचचामर प्रसाद लिखते हैं, 'हिमाद्रि तुंग शृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती' तो हमें सेना के प्रयाण की धुन सुनाई पड़ने लगती है।

लघु गुरु का एक के बाद दूसरा लाकर दो-दो की यति पर सोलह वर्णों के चरणों में बँधा इतना सरल विन्यास लय, गतियों की कितनी सम्भावनाएँ खोलता है। यही पंचचामर छन्द आकुल पुकार और थमी प्रतीक्षा के लिये कारगर बन जाता है। मुक्तिबोध कहते हैं –

मुझे पुकारती पुकार खो गई कहीं …

तो बच्चन पूरी कविता में पंचचामर साधते हैं –

इसीलिये खड़ा रहा कि तुम मुझे पुकार लो
ज़मीन है न बोलती
न आसमान बोलता
जहान देख कर मुझे
नहीं ज़बान खोलता
नहीं जगह कहीं जहाँ

न अजनबी गिना गया
कहाँ कहाँ न फिर चुका
दिमाग दिल टटोलता
इसीलिये अड़ा रहा कि
कि तुम मुझे पुकार लो।

यही पंचचामर छन्द 'पुकारता चला हूँ मैं गली-गली बहार की' जैसे अनेक फ़िल्मी गीतों में और लोक गीतों में लौट - लौट कर आता है। पंचचामर की गतियों, यतियों और लय के ढाँचे में मुहम्मद रफ़ी ने यहाँ अद्‌भुत संयम और अनोखी उमंग से भरे कण्ठ से समृद्ध कर दिया है।

पर पंचचामर को शमशेर ने जिस तरह अपनाया, वैसा कदाचित् किसी और ने नहीं। शमशेर पंचचामर की लय को अपनाते हैं, पर छन्द के चरणों को तोड़-तोड़ कर बिखेर देते हैं। इस तोड़कर बिखेर देने में शमशेर पंचचामर की उद्धत ताण्डव या सैन्य प्रयाण की उत्कट गतियों को ही नहीं, आकुल पुकार और थम गई प्रतीक्षाओं को भी एक विलक्षण करुण राग में रूपान्तरित कर देते हैं। इस छन्द को शमशेर ने इस समझ के साथ ही चुना होगा कि यह युद्ध, नरसंहार, जुलूस और तोड़फोड़ के वर्णन के लिये समीचीन है। अपनी कविता में वे पंचचामर की लय, गति और यतियाँ लाने के लिये शब्दों को कहीं रबर की तरह खींच कर बड़ा कर देते हैं, कहीं छाँट कर छोटा। १२ जनवरी, १९४४ को ग्वालियर के मजदूरों को गोलियों से भून दिये जाने की घटना पर लिखी कविता 'य' शाम है' में शमशेर ये या यह को तराश कर केवल य कर देते हैं, ग्वालियर को फैलाकर गवालियार बना देते हैं, मज़दूर सिकुड़ कर मजूर हो जाता है।

यह शाम है
कि आसमान खेत है पके हुए अनाज का
लपक उठी लहू भरी दरातियाँ -
कि आग है
धुआँ धुआँ
सुलग रहा
गवालियार के मजूर का हृदय
कराहती धरा
कि हायमय विषाक्त वायु
गरीब के हृदय
टँगे हुए
कि रोटियाँ लिये हुए निशान
लाल लाल

इसकी तुलना में माखनलाल चतुर्वेदी का छन्दोमार्ग अलग है, पूर्वविदित छन्द को तोड़ कर छोटी पंक्तियाँ बनाने के बजाय, वे लम्बी बहर का छन्द चुनते हैं, जो प्रवाह और फैलाव को समेटता चले -

मैं अपना अस्तित्व भूल कर बन कर लाख करोड़
समयसिन्धु पर लेता रहता हरदम नयी मरोड़

यह कविता सत्ताईस मात्राओं वाले नाक्षत्रिक नामक छन्द के सरसी नामक प्रभेद को लेकर एक भारतीय आत्मा ने रची है। सरसी को ही कबीर और समुन्दर छन्द भी कहा गया है। हिमतरंगिणी की कुछ कविताओं में २८ मात्राओं वाले यौगिक छन्द का, जिसके भानु जी के हिसाब से कुल ५,१४,२२६ भेद होते हैं, हरिगीतिका नामक प्रकार दादा माखनलाल अपनाते हैं। जबकि प्रताप के प्रथम वर्ष में १९१३ में छपे एक अंक में गणेश शंकर विद्यार्थी ने एक भारतीय आत्मा की निःशस्त्र सेनानी कविता इस घोषणा के साथ प्रकाशित की कि यह समस्त भारतीय भाषाओं में गाँधी जी पर लिखी पहली कविता है। यह इस कविता का शताब्दी वर्ष भी है, इस दृष्टि से भी यह स्मरणीय है, पर यहाँ विशेष रूप से इसलिये उद्धरणीय है कि ३२ मात्राओं के लम्बी बहर वाले छन्द का पूरी कविता में दादा ने प्रयोग किया-

हिलोरें लेता भीषण सिन्धु पोत पर नाविक है तैयार।
घूमती जाती है पतवार, काटती जाती पारावार।

पूज्यतम कर्मभूमि स्वच्छन्द, मची है डट पड़ने की धूम
दहलता नभ मण्डल ब्रह्माण्ड मुक्ति के फट पड़ने की धूम
(आंचलिक पत्रकार, १५ मार्च, १९१३ के अंक में उद्धृत)

इस कविता के रचे जाने के कुछ समय बाद ही प्रसाद ने हिमालय के आँगन में उसे प्रथम किरणों का दे उपहार आदि अनेक गीतों में यही छन्द गूँथा।

पर निःशस्त्र सेनानी के प्रताप में छपने के ठीक एक साल बाद ही प्रताप के १९१४ में छपे विजयादशमी विशेषांक में माखनलाल चतुर्वेदी की और भी बड़ी तथा और दीर्घकलेवर वाली कविता हृदय भी महात्मा गाँधी के लिये ही है, जिसमें सत्याग्रह संग्राम की गुरुता और गम्भीरता के अनुरूप ३४ मात्राओं वाला छन्द है-

वीर सा गम्भीर सा यह है खड़ा, वीर हो कर यों अड़ा मैदान में
देखता हूँ मैं जिसे तन दान में, जन दान में मानव जीवन दान में।

छन्दःशास्त्र के लक्षण याद कर लेने से अच्छा छन्द नहीं बन जाता। अपने भीतर की लय किसी खास छन्द के भीतर की लय से जुड़ जाये, तो वह छन्द सहज सध जाता है।

क्षेमेन्द्र अलग-अलग छन्दों की अन्तर्निहित लय को उनके औपचारिक लक्षणों के अलावा अपने ढँग से समझाते हैं। जैसे वे कहते हैं कि शालिनी छन्द दीये की लौ की तरह होता है, जिसकी लपट बहुत धीरे-धीरे बढ़ाई जानी चाहिये। जैसे संगीत के राग ऋतुओं से सम्बन्ध रखते हैं, ऐसे ही अलग-अलग छन्दों का रस, भाव और प्रसंगविशेष से सम्बन्ध बताया जाता रहा है। रथोद्धता चन्द्रोदय आदि में, वंशस्थ राजनीति, षाड्गुण्य आदि के वर्णन में, वसंततिलक सौन्दर्य के वर्णनों के अलावा वीर और रौद्र के प्रसंगों में, शार्दूलविक्रीड़ित शौर्य और स्तवन में, स्नग्धरा आवेग और आँधी आदि के निरूपण में, पृथ्वी छन्द धिक्कार, चुनौती क्रोध और आक्षेप में, मन्दाक्रान्ता वर्षा, प्रवास, वियोग और विपत्ति के चित्रण में अनुकूल हैं।

मुक्तिबोध ने अपनी कविता में कहा कि उनके बावरे छन्द बुरी तरह अकुला उठे हैं। मुक्तिबोध के कोई तीन हज़ार साल पहले ऐतरेय महीदास छन्दों की अकुलाहट के बारे में एक कथा कहते हैं। कथा यों हैं- प्रजापति ने जो छन्द पाये थे, उनमें रस था। वह रस उनमें इतना अधिक भर गया कि वह ऊपर आकर बाहर बहने लगा। यह देखकर प्रजापति भयभीत हो गये कि इस तरह तो रस बहकर निकल जायेगा। तब उन्होंने गायत्री छन्द के रस को नाराशंसी के द्वारा बाँधा, त्रिष्टुप् के रस को रैभी के द्वारा, जगती के रस को पारिक्षिती के द्वारा, अनुष्टुप् के रस को कारवी के द्वारा।

...यह मुझे इतना अद्‌भुत लगता है, नाराशंसी, रैभी, पारिक्षिती, कारवी ये सब लोक के छन्द हैं - इस तरह छन्दों में रस बराबर बँट कर बचा रह गया, छन्दों में रस रहता है, तभी यज्ञ हो पाता है, जो इस कथा को जानता है वह रस से भरे छन्दों से ही यजन करता है।

तीन हज़ार साल पहले ऐतरेय छन्दःशास्त्र की वह परम्परा बता रहे हैं, जो वेद को लोक से जोड़ती आई है।

शिष्टभाषा के काव्य में व्यवहृत छन्दों का लोकभाषाओं और लोकजीवन में अवतरण, लोकभाषा के छन्दों का शिष्ट काव्य में आगमन यह दोहरी प्रक्रिया भारतीय साहित्य में बराबर चलती रही। इसका एक उदाहरण मराठी काव्य परम्परा का ओंबी छन्द है, जिसमें सन्त ज्ञानेश्वर, एकनाथ, रामदास आदि ने रचनाएँ कीं। यह वैदिक अनुष्टुप् का नवावतार है, यद्यपि केवल ज्ञानेश्वर की ओंबियाँ ही ८,८,८ और ७ चरणों वाली हैं।

भारतीय छन्दःशास्त्र की विकासयात्रा के तीन पड़ाव मेरी दृष्टि में बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। पहला पड़ाव तो वह जिसकी ओर महान् विचारक ऐतरेय महीदास ने संकेत किया तब वैदिक छन्द लोक के छन्दों में अपना रस उँड़ेलने से लगे। दूसरा पड़ाव इसके कुछ हज़ार वर्ष बाद आता है, जब नव्य भारतीय भाषाओं का उदय होने लगता है, एक बार फिर छन्दों की दुनिया नई करवट लेती है, कालिदास मन्दाक्रान्ता, वसन्ततिलक लिखते-लिखते पता नहीं कब दोहा और चौपाई लिखने लग जाते हैं मिअ जाणिअ मिय लोइणी नि, शंकराचार्य अंगं गलितं पलितं मुण्डं और जयदेव।

इसके एक-डेढ़ हज़ार साल बाद छन्दों की दुनिया में फिर नया बदलाव आता है।

अन्त में दो बातें और। एक तो यह कि जिस छन्दःशास्त्र की चर्चा मैंने यहाँ तक की है, वह ज़्यादातर साहित्य की उन विधाओं के लिये है, जिन्हें हमारी परम्परा श्रव्य काव्य और दृश्य काव्य कहती है, जो साहित्य सुने जाने के लिये और देखे जाने के लिये है, वहाँ लय, गतियों, यतियों और छन्दोविधान का आद्यन्त महत्त्व रहेगा ही। उर्दू और फारसी की परम्परा में ग़ज़ल लिखी नहीं जाती, कही जाती है। जो साहित्यविधा कहने के लिये है, वहाँ भी छन्दोविधान का महत्त्व उसी तरह रहेगा।

निवेदन यह भी है कि मेरे इस व्याख्यान का कृपया यह आशय कदापि न निकालें कि मैंने छन्दःशास्त्र के विधिविधान को समझ कर या उनके अनुसार रचना करने की वकालत की है। हमारे साहित्य के इतिहास की वह एक स्वर्णिम घड़ी रही होगी, जिसमें निराला ने छन्दों के बन्धन तोड़ कर जुही की कली की मुस्कान, उसके खिलने और चटक उठने को कविता में बिखेर दिया। पर सुधी जनों का ध्यान इस तथ्य की ओर भी मैं आकृष्ट करना चाहता हूँ कि छन्दों के बन्धन तोड़ कर कविता को कारा से बाहर निकालने के लिये इन्हीं निराला की प्रशस्ति में पन्त ने जो बहुत खूबसूरत और लम्बी कविता लिखी, वह रोला छन्द में है। लम्बी कविता है, मैं उसका पहला बन्ध सुना कर अपना वक्तव्य समाप्त करता हूँ -

छन्दबन्ध ध्रुव तोड़ फोड़ कर पर्वतकारा
अचल रूढ़ियों को कवि तेरी कविताधारा
मुक्त अबाध अमन्द रजतनिर्झर सी निःसृत
ललित गलित आलोक राशि चिर अकलुष अविजित।

देश की पुस्तकें विदेश में

चित्तरंजन वंद्योपाध्याय
मूल बाँग्ला से रूपान्तर - रामशंकर द्विवेदी

प्राचीन भारत सभ्यता और संस्कृति के क्षेत्र में पड़ोसी देशों की तुलना में बहुत आगे बढ़ा हुआ था। सुतराम भारत से सांस्कृतिक ऋण लेना अन्यान्य देशों के लिए सहज हो गया था। जितने दिनों तक ज्ञान का अनुशीलन मौखिक रूप से हो रहा था, उतने दिनों तक भारत से लिखित पोथियाँ बाहर ले जाना सम्भव नहीं था। विदेश से शिक्षार्थी आकर गुरु के समक्ष मौखिक चर्चा द्वारा एवं कण्ठस्थ कर विद्या प्राप्त कर सकते थे।

ज्ञान-विज्ञान की अधीत विषयवस्तु को लिखित रूप देने का पहला प्रयास हमें बुद्धदेव की मृत्यु के कुछ समय बाद राजगृह में हुए बौद्ध महासम्मेलन में देखने को मिलता है। उसमें यह निश्चित होता है कि बुद्धदेव के उपदेशों को विशुद्ध रूप में लिखकर रखना चाहिए। सुतराम हस्तलिखित पाण्डुलिपियों का प्रचलन उस काल में होने लगा। यद्यपि उनकी संख्या बहुत कम थी। ताड़-पत्र, भोज-पत्र, विभिन्न वृक्षों की छाल पर पोथियाँ लिखना कई शत वर्ष चलने के बाद कागज़ के प्रचलन के साथ-साथ पोथियों का प्रयोग बढ़ गया। सातवीं शताब्दी में चीनी पर्यटक इत्सिंग् ने भारत में आकर कागज़ का प्रयोग देखा था, किन्तु वह कागज़ बहुत ही घटिया स्तर का था। इत्सिंग् को पसन्द नहीं आया था, इसलिए जिन सब बौद्ध ग्रन्थों को वह अपने देश ले जाना चाहता था, उनकी नकल कराने के लिए इत्सिंग् ने चीन से उत्कृष्ट स्तर का कागज़ और स्याही मँगवाने की व्यवस्था की थी। विदेशी विद्वान और पर्यटक धन के बदले में अथवा अनेक कौशलों के द्वारा ऐसी सब पोथियाँ ले गये हैं, जो सब ग्रन्थ अब भारत में नहीं हैं, विदेश के किसी पुस्तकालय में अब वे सुरक्षित हैं। इस तरह का एक उत्कृष्ट उदाहरण है चर्या गीति का मूल स्रोत 'बौद्धगान ओ दोहा' (१९१६) जिसका उद्धार नेपाल दरबार के ग्रन्थागार से किया जा सका था।

जहाँ तक याद आता है, चीन ने ही सबसे अधिक ग्रन्थों का संग्रह भारत से किया था। प्रबोधचन्द्र बागती और प्रभात कुमार मुखोपाध्याय आदि की विवेचना से इसका समर्थन होता है। इतिहास में भारतीय पोथियों की चीन-यात्रा का ऐतिहासिक प्रमाण ह्वेन सांग के भ्रमण वृत्तान्त से मिलता है। अपने देश लौटते समय वह खच्चरों की पीठ पर लादकर बहुमूल्य ग्रन्थों को अपने साथ ले गया था। और भी कितने चीनी पर्यटक इस देश से हस्तलिखित ग्रन्थ इकट्ठे करके ले गये थे, इसका पूर्ण विवरण अब भी इकट्ठा नहीं हो सका है। हमारी सीमा से लगे देश नेपाल और तिब्बत में भारतीय हस्तलिखित ग्रन्थों का संग्रह बौद्ध मठों, मन्दिरों और राज-दरबारों के पुस्तकालयों में आज भी देखने को मिलता है। इसके अलावा मध्य एशिया से होकर कश्मीर और चीन तक जो मार्ग चला गया है उसके किनारे-किनारे अनेक मन्दिरों, मठों और गुफाओं से खोज़ करने पर बहुत से ग्रन्थ मिले हैं।

जो लोग भारत से बौद्ध धर्म प्रचार के लिए विदेश गये वे भी अपने साथ धर्म सम्बन्धी बहुत से ग्रन्थ ले जाते थे। श्याम, ब्रह्मा, जावा, सिंहल आदि देशों में भारतीय सभ्यता, संस्कृति के विस्तार के साथ हमारी पोथियों को भी समान रूप से आदर मिला था। प्राचीन कम्बोज की दक्षिण दिशा में करद राज्य टुयेन सियेन था, जहाँ पर चीन की पुरानी पोथियों से पता चलता है कि एक हज़ार से अधिक ब्रह्मणों ने भारत से वहाँ जाकर अपनी बस्तियाँ बसायी थीं और वे लोग रात-दिन जिन ग्रन्थों का पाठ करते थे वे भारत से ले जाए गये थे। अतीश दीपंकर, कुमार जीव आदि विख्यात बौद्ध धर्म प्रचारक अपने साथ मूल्यावान हस्तलिखित ग्रन्थ धर्म प्रचार की सुविधा के लिए ले जाते थे।

भारतीय पोथी-पत्रों का आदर सिर्फ़ उत्तर और पूर्वांचल में ही सीमित नहीं था। पश्चिम में अरब देश पर भी भारतीय सभ्यता और संस्कृति का पर्याप्त प्रभाव पड़ा था। आर्यभट्ट के सौर मण्डल सम्बन्धी आविष्कारों का उस देश को पता था। सुना जाता है अलबेरूनी भारत में आर्यभट्ट के सौर सिद्धान्त-सम्बन्धी ग्रन्थों का संग्रह करने के उद्देश्य से आया था। इसके अतिरिक्त भारतीय गणितज्ञों की गणित सम्बन्धी खोजों को ग्रहण कर अरबी विद्वानों ने उनका प्रचार यूरोप में किया था। यूरोप में इसीलिए यह धारणा प्रचलित हो गयी थी कि भारत के अंकगणित के आविष्कारकर्त्ता वास्तव में अरबी पण्डित हैं। कारण, अरब के माध्यम से ही उस गणित-विज्ञान का यूरोप में प्रचार हुआ था। इसीलिए आज भी शून्य से नौ के अंकों को अरबी न्यूमरल्स कहा जाता है। इसके अलावा भारतीय आयुर्वेद ने अरब के हकीमी चिकित्साशास्त्र पर जो प्रभाव डाला था, उसमें भी कोई सन्देह नहीं है। आयुर्वेदीय शल्य चिकित्सक शुश्रुत के ग्रन्थ का अनुवाद अरबी में बहुत दिन पहले ही हो चुका था।

यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि सम्राट शाहजहाँ का पुत्र दारा शिकोह राज कार्यों में व्यस्त होते हुए भी धर्मानुशीलन किया करता था। इस देश के धर्म और दर्शन के सम्बन्ध में भी उसका बड़ा आग्रह था। उसके प्रयास से रामायण, महाभारत और उपनिषदों ने फारसी भाषा में अनूदित होकर अरब के माध्यम से यूरोप में प्रचार-लाभ किया था।

वास्कोडिगामा के यूरोप से समुद्री रास्ते से भारत में आने के मार्ग की खोज़ के बाद (१४९८) यूरोप के व्यापारी अधिक संख्या में इस देश में आते रहे हैं। पुर्तगाली, ओलन्दाज़, फ्रांसीसी और अँग्रेज़ लोग पहली बार व्यापार करने आने के बाद भी धीरे-धीरे भारतीय सभ्यता और संस्कृति के साथ उनका परिचय होता है। अँग्रेज व्यवसायियों के कारोबार और साम्राज्य की देखभाल के लिए शिक्षित लोगों की आवश्यकता महसूस होने लगी। ये सब शिक्षित लोग भारत की अनखोजी प्राचीन सभ्यता के बारे में उत्सुक हो उठे और यहाँ मठ-मन्दिरों में रखी हुईं पोथियों में जो सब ज्ञान-विज्ञान की बातें छिपी हुई थीं, उनके उद्धार के लिए तत्पर हो गये। हाँ, पुर्तगाली, फ्रांसीसी व्यापारियों तथा शासक और पादरियों के बारे में भी बहुत कुछ सत्य है। यह बात सिर्फ़ अँग्रेज़ों के सम्बन्ध में सत्य नहीं है, पुर्तगाली पादरियों ने सबसे पहले बाँग्ला अभिधान की रचना की और वे उसकी पाण्डुलिपि अपने देश ले गये। फ्रांसीसी लोग भी इस देश से अनेक पोथियों का संग्रह कर अपने देश ले गये और इनके द्वारा उन्होंने अपने देश के ग्रन्थागारों को समृद्ध किया। इस संग्रह में संस्कृत पोथियों के अलावा बाँग्ला की पोथियाँ भी कुछ कम नहीं थीं। फ्रांस के राष्ट्रीय ग्रन्थागार में संरक्षित बाँग्ला पोथियों की एक सूची अभी कुछ दिनों पहले डॉ. पृथ्वीन्द्र कुमार मुखोपाध्याय ने तैयार की थी और इस प्रकार वे हमारी कृतज्ञता के पात्र हुए थे। फूलिया में कृत्तिवास स्मृति मन्दिर में अट्ठारहवीं शताब्दी की कृत्तिवासी रामायण की जो प्रति दर्शकों की दृष्टि आकर्षित करती है, वह फ्रांस के राष्ट्रीय ग्रन्थागार के सौजन्य से प्राप्त हुई है। किन्तु अन्यान्य यूरोपीय जातियों के साथ भारत का सम्पर्क सीमित और क्षणस्थायी था।

पूरे भारतवर्ष के साथ अँग्रेज़ों का एक शासक और एक व्यापारी के रूप में सम्पर्क घनिष्ठ और दीर्घकालव्यापी था।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शुरुआती दौर से ही अनेक शिक्षित एवं कौतूहल से भरे विदेशी कर्मचारी इस देश में आकर यहाँ के निवासियों की सभ्यता और संस्कृति को जानने के लिए उत्सुक हो उठे थे। यह निरा कौतूहल का ही मामला नहीं था। शासन के काम-काज सुविधापूर्वक चलाने के लिए शासित प्रजा और इस देश को भली प्रकार जानना अत्यावश्यक था। इसीलिए उनके शासन काल के प्रारम्भिक दौर में ही हमें ऐसे अनेक अँग्रेज कर्मचारी मिलते हैं, जिन्होंने संस्कृत भाषा पर अधिकार कर यहाँ के ज्ञान-विज्ञान के बारे में अँग्रेज़ी में लिखा है। ये पोथियाँ इतने मूल्यवान तथ्यों से पूर्ण थीं कि इनका संग्रह कर अपने स्वदेश में ले जाकर अपने ज्ञान का भण्डार पूर्ण करने की इच्छा अँग्रेज़ विद्वानों में स्वाभाविक रूप से ही दिखायी देने लगी। इसकी विस्तृत चर्चा करना यहाँ सम्भव नहीं है। सिर्फ कुछ लोगों की बातें यहाँ प्रसंगवश दी जा रही हैं।

शुरू में ही उल्लेखनीय है वारेन हेस्टिंग्स की प्रशासनिक क्षमता की बात। १७७५ ईस्वी में जिसे अन्यायपूर्ण तरीके से महाराजा नन्द कुमार को फाँसी दी गयी थी, उसके बाद देशी और यूरोपीय वर्ग में जो क्षोभ उत्पन्न हुआ था, उस सम्बन्ध में वह सचेत था। इस विक्षोभ को शान्त करने के लिए उसने यह निर्णय लिया था कि इस देश के लोगों पर शासन इस देश के कानून के अनुसार ही चलाया जाएगा, ब्रिटेन का कानून यहाँ लागू नहीं होगा। फारसी उस समय भी मुसलमानों की राजभाषा थी, कई अँग्रेज इस भाषा को अच्छी तरह जानते थे, किन्तु संस्कृत की पोथियों के साथ अँग्रेज कर्मचारियों का सम्पर्क बहुत मामूली था। हेस्टिंग्स का उस समय उद्देश्य बन गया हिन्दू सम्प्रदाय के साथ योगायोग स्थापित करना और उनके कानून को जानने की व्यवस्था करना तथा कानून के विधि-विधान जनसाधारण में सरलता से प्रसारित हो सकें इसके लिए इस देश में मुद्रण-उद्योग की स्थापना के लिए प्रयास करना। हालाँकि पहला मुद्रित ग्रन्थ हाल हेड द्वारा लिखा 'ए ग्रामर ऑफ़ दि बंगाली लेंग्वेज' है किन्तु बाद में सरकारी छापे खाने से जितने भी ग्रन्थ प्रकाशित हुए वे अधिकतर कानून-सम्बन्धी थे।

संस्कृत विधि संहिता का अनुसन्धान और उस पर अधिकार प्राप्त कर उसका प्रचार करने में हेस्टिंग्स के जो विशेष सहायक हुए थे, उनमें सबसे पहला नाम लिया जा सकता है-हेनरी टामस कोलब्रुक का। कोलब्रुक १७८३ ईस्वी में कम्पनी का काम लेकर कलकत्ता आया था। देश में रहते हुए ही उसने कई भाषाएँ सीख ली थीं। इस देश में आकर उसने फारसी और संस्कृत में भी पारदर्शी ज्ञान प्राप्त कर लिया था। प्रशासन की आवश्यकता के कारण उसे हिन्दू विधि संहिता के मूल संस्कृत ग्रन्थों का अँग्रेजी में अनुवाद करना पड़ा था। उसकी सबसे बड़ी कीर्ति का कारण पं. जगन्नाथ तर्क पंचानन द्वारा संकलित 'विवाद भूंगाण्बि' (१७९४) का अँग्रेज़ी का अनुवाद है। इसके अलावा 'हिन्दू ज्योतिषशास्त्र' और 'गणितशास्त्र' के हस्तलिखित ग्रन्थों का संग्रह कर उसने अँग्रेज़ी में अनुवाद कर उसे प्रकाशित भी कराया। अपने काम के लिए उसने बहुत से संस्कृत ग्रन्थ इकट्ठे किये थे। उस ज़माने में ही इनकी कीमत थी अन्दाजन दस हज़ार पौण्ड। ये सभी ग्रन्थ आजकल 'इण्डिया ऑफिस लायब्रेरी' में सुरक्षित हैं।

सर विलियम जोन्स १७८३ ईस्वी में भारत आए और सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश के पद पर नियुक्त हुए। कोलब्रुक की तरह उन्होंने भी संस्कृत भाषा का ज्ञान प्राप्त किया। उन्होंने इस देश से संस्कृत पाण्डुलिपियों का संग्रह कर अपने देश ले जाने के अवसर का लाभ नहीं उठाया। जोन्स ने संस्कृत पोथियों का संग्रह ज़रूर नहीं किया किन्तु कालिदास के नाटक शकुन्तला का अनुवाद कर संस्कृत भाषा और भारतीय सभ्यता के प्रति जर्मन विद्वानों की दृष्टि आकर्षित करने में वे ज़रूर समर्थ हुए थे। १७८९ ईस्वी में जोन्स द्वारा किया गया शकुन्तला का अँग्रेज़ी अनुवाद प्रकाशित हुआ था और १७९१ ईस्वी में उसका जर्मन अनुवाद प्रकाशित होता है। महाकवि गेटे ने इस अनुवाद को

पढ़कर बड़े भाव-विगलित होकर एक श्लोक लिखा था। उस श्लोक का संक्षेप में अर्थ यह है कि यदि कोई यौवन के पुष्प और परिपक्व अवस्था के फल, मर्त्य और स्वर्ग को एकसाथ देखना चाहता हो तो उसे शकुन्तला नाटक में सब मिल जाएगा (रवीन्द्रनाथ)। इस भावोच्छूसित प्रशंसा को सुनकर कई जर्मन पण्डित संस्कृत सीखने की ओर प्रवृत्त हो गये थे।

जोहान गेअर्ग व्यूलर १८६३ ईस्वी में महाराष्ट्र सरकार की नौकरी में नियुक्त होकर इस देश में आया। संस्कृत के हस्तलिखित ग्रन्थों के प्रति उत्सुकता होने की वजह से अपने कार्यकाल में उसने लगभग पाँच हज़ार पाण्डुलिपियों का संग्रह किया था। इनमें से अधिकांश पहले अज्ञात थीं। संग्रह करने के बाद कुछ दिनों में ही उनमें से तीन सौ ग्रन्थ उसने इण्डिया ऑफिस लायब्रेरी में भेज दिये। अन्य तीन सौ पोथियों को उसने जर्मन भेज दिया। ये सभी पुस्तकें जैन धर्म से सम्बन्धित थीं। इन ग्रन्थों के आधार पर जर्मन पण्डितों ने जैन धर्म पर कई मौलिक ग्रन्थों की रचना की। कल्हण की राजतरंगिणी की पोथी की खोज भी व्यूलर ने की थी।

हस्तलिखित ग्रन्थों का एक दूसरा उल्लेखनीय संग्रहकर्त्ता था मार्क अरेल स्टाइन। उसने भारत में थोड़े दिनों ही नौकरी ज़रूर की थी किन्तु उसका मुख्य कृतित्व था एशिया के प्राचीन बौद्ध मठों और मन्दिरों को खोजकर वहाँ से बहुत से हस्तलिखित ग्रन्थों और पुरातात्त्विक वस्तुओं का संग्रह करना। इस अभियान में उसने ऐसी सब पाण्डुलिपियों की खोज़ की थी, जो खरोष्टी, ब्राह्मी, पाली, प्राकृत भाषा में लिखी गयी थीं। इसी पथ पर चलकर कर्नल बाबर ने खोज की थी आयुर्वेद से सम्बन्धित पाण्डुलिपियों के एक भण्डार की। अदिल द्वारा संग्रह की गयी पोथियाँ और पुरातत्त्व सम्बन्धी दस्तावेज विभिन्न देशों के पुराने संग्रहालयों में संरक्षित हैं। कलकत्ता में टूटी-फूटी चीज़ें ही बचीं हैं।

सिर्फ़ अँग्रेजों द्वारा संगृहीत पोथियों की चर्चा करने से यह इतिहास पूरा नहीं होगा। इसी बीच यह देखने को मिलता है कि यूरोप के विभिन्न देशों ने अनेक सूत्रों से भारी संख्या में संस्कृत और फ़ारसी की पोथियों का संग्रह किया था। यह संग्रह कितना विपुल था इसका पता हमें मेक्समूलर के विद्यानुशीलन के इतिहास से मिलता है। मेक्समूलर ने लाइपोजिंग में संस्कृत विद्या का अनुशीलन किया था एवं डॉक्टरेट की उपाधि प्राप्त कर (१८४३) वह पेरिस चला आया था। यहाँ पर उसके गुरु थे बूनुफा। उनके निर्देशन में सायण भाष्य सहित ऋग्वेद के एक विशुद्ध संस्करण के सम्पादन का उसने व्रत लिया। इस काम को और आगे चलकर बाद में 'सेक्रेड बुक्स ऑफ़ दी ईस्ट' (५१ खण्ड) के सम्पादन को पूरा करने के लिए वह कभी भारत नहीं आया। मेक्समूलर को सारे आवश्यक ग्रन्थ यूरोप के विभिन्न संग्रहालयों से मिल गये थे। इससे यह पता चल जाता है कि उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त होने के पहले ही कितनी संख्या में संस्कृत पोथियाँ यूरोप चली गयी थीं। मेक्समूलर ने स्वयं अपने भारतीय मित्रों को पत्र लिखकर कई मूल्यवान संस्कृत पोथियों को मँगवा लिया था। जिन लोगों ने उसे हस्तलिखित ग्रन्थ भेजे थे, उस सूची में विशेष स्थान था पथुरिया घाट वाले राजभवन का।

मेक्समूलर की मृत्यु के बाद उसके समृद्ध ग्रन्थागार का संग्रह कर भारत लाने के लिए इस देश का कोई व्यक्ति या संस्थान उत्सुक नहीं हुआ। इस ग्रन्थागार की सुरक्षा का भार लिया जापान के टोकियो विश्वविद्यालय ने।

संस्कृत पोथियों के संग्रह करने में रूस भी पीछे नहीं रहा है। रूस के सबसे अन्तिम संग्रहकर्त्ता मीनायेफ ने भाटपाड़ा, बंकिमचन्द्र के काँठालपाड़ा आदि स्थानों का भ्रमण किया था। उसके दान से रूस के कई पुस्तकालय समृद्धशाली हुए थे।

अट्ठारहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में इंग्लैण्ड में भारत से लायी गयी पुस्तकों, पाण्डुलिपियों और पुरातात्त्विक प्रतीकों का एक विराट संग्रह बन चुका था। अवहेलना और उपेक्षा से उसमें से बहुत-सी चीज़ें नष्ट होने लगी थीं। फिर उनमें से कुछ बेच देने से दूसरे स्थानों पर चली गयीं। ईस्ट इण्डिया कम्पनी जिससे ये चीजें नष्ट न हो जाएँ इसके लिए प्रयत्नशील हो गयीं। १७९४ ईस्वी में कम्पनी ने घोषणा की कि हालफिल में बाङ्ला प्रदेश से बहुत-सी पाण्डुलिपियाँ कम्पनी के कर्मचारी संग्रह कर इस देश में ले आए हैं। भारतीय पाण्डुलिपियों का संग्रह धीरे-धीरे क्षीण होता जा रहा है, इसके बदले इस देश में उनके व्यवस्थित संग्रह और संरक्षण की कोई व्यवस्था नहीं है। कम्पनी की राय में इस देश में संगृहीत इन सब पोथी-पत्रों के संरक्षण की व्यवस्था की जानी चाहिए। इंडिया हाउस में इनका संरक्षण ठीक से किया जा सकता है।

संरक्षण का अर्थ था इण्डिया ऑफिस भवन के एक कमरे में इन सब चीज़ों को गोदाम की तरह भर देना। पाठकों के प्रयोग के लिए इन्हें मुक्त रूप से रख दिया जाएगा, इस प्रकार की कोई भावना उस समय कम्पनी की थी ही नहीं। किन्तु इंग्लैण्ड में इनके रख-रखाव की व्यवस्था हो गयी है, यह जानकर बहुत-से लोग मूल्यवान पुरातात्विक वस्तुओं और दलील-दस्तावेजों, पोथियों को भारत से इंग्लैण्ड ले जाने के लिए उत्सुक हो उठे। टीपू सुल्तान का विशाल पुस्तकालय, हेस्टिंग्स के सहकर्मियों का संग्रह और रोबर्ट आर्म का मुगल शासन के सम्बन्ध में मूल्यवान व्यक्तिगत संग्रह पहले दौर में जुड़ने वाला विशेष दान था। प्राच्य विद्या विशेषज्ञ विलकिन्स सेवा से अवकाश लेकर उन दिनों लन्दन में रह रहा था। उनके अनवरत आग्रह से इण्डिया ऑफिस की वह गोदाम लाइब्रेरी में बदल गयी। उन्हें १८ फरवरी, १८०१ में इण्डिया ऑफिस लाइब्रेरी के ग्रन्थागारिक होने का नियुक्ति-पत्र मिला। उस दिन से ही वह लाइब्रेरी शुरू हुई ऐसा कहा जा सकता है। विलकिन्स को अकारण ही इस पद पर नियुक्त नहीं किया गया था। १७७८ ईस्वी में हाल हेड के ग्रन्थ बेंगाल ग्रामर छपवाने के उद्देश्य से उसने तर्क पंचानन की सहायता से बाङ्ला लिपि के टाइप तैयार करा लिये थे। इसके अलावा श्रीमद्भगवद्गीता का सबसे पहला अँग्रेजी अनुवाद (१७८५) भी उसकी कृतियों में से एक है। विलकिन्स के बाद इण्डिया ऑफिस में जो भी लाइब्रेरियन बनकर आए वे सभी प्राच्य विद्या विशारद थे। सुतराम इण्डिया ऑफिस लाइब्रेरी की ग्रन्थ-सम्पदा को ठीक-ठाक व्यवस्थित और व्यवहारोपयोगी बनाने में उन लोगों के वास्तविक कृतित्व का परिचय मिलता है।

इण्डिया ऑफिस लाइब्रेरी के संग्रह को मोटे रूप में तीन भागों में बाँटा जा सकता है। इण्डिया ऑफिस में संगृहीत रिकार्ड्स, म्यूज़ियम और हस्तलिखित ग्रन्थ, पुस्तकें और दस्तावेज इत्यादि। हर विभाग व्यवस्थित रूप से अलग-अलग सजाया गया है। इण्डिया ऑफिस रेकार्ड्स में कम्पनी का पत्र-व्यवहार संगृहीत है। भारत से जो पत्र आए हैं और विलायत से जो सब चिट्ठियाँ गयीं हैं इन सबका संग्रह। इस रेकार्ड्स में बाँग्ला भाषा में लिखे हुए कुछ दस्तावेज़ भी मिले हैं। इण्डिया ऑफिस लाइब्रेरी के मूल भवन में अतिप्राचीन पुरातात्विक प्रतीक देखने को मिलने पर भी आकार में बहुत बड़ा अंश म्यूजियम में स्थानान्तरित कर दिया गया है। पाण्डुलिपियों और पुस्तकों के विभाग की शुरुआत सिर्फ हस्तलिखित पोथियों के साथ हुई थी। कारण, भारत में छपी पुस्तकों का उत्पादन अट्ठारहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में होता है। भारत में मुद्रित हर पुस्तक इण्डिया ऑफिस लाइब्रेरी में बिना मूल्य के भेजने का नियम १८६७ ईस्वी में चालू हुआ था। उसके पहले भी मुद्रित पुस्तक की एक प्रति प्रशासनिक निर्देशों के अनुसार सरकार के पास भेजनी पड़ती थी। वर्तमान में इण्डिया ऑफिस लाइब्रेरी में संरक्षित बाँग्ला पोथी-पत्रों से एक कालक्रमानुसार धारावाहिक परिचय प्राप्त किया जा सकता है। फोर्ट विलियम कॉलेज के युग से आरम्भ कर विलियम केरी के द्वारा छपे हुए ग्रन्थ और कागज़-पत्रों का यहाँ दुर्लभ संग्रह विद्यमान है और बाद में आये ग्रन्थों की संख्या भी कोई कम नहीं

है। वर्तमान में तीस किलोमीटर लम्बी अलमारियों में तीन लाख सत्तर हजार खण्ड पुस्तकें और प्राच्य विद्या विषयक पुस्तकें और दस्तावेज यहाँ संरक्षित हैं और हमने अपनी सतत् उपेक्षा से उन्हें नष्ट हो जाने दिया। सिर्फ़ पाण्डुलिपियाँ और हस्तलिखित ग्रन्थ ही नहीं, छपी हुईं पुस्तकों, पत्रिकाओं के भी संग्रह और संरक्षण की कोई अच्छी व्यवस्था ब्रिटिश शासन के दौरान यहाँ नहीं की गयी। स्वाधनीता के पहले हमारे अनुसन्धानकर्त्ताओं को इण्डिया ऑफिस लाइब्रेरी की शरण में जाना पड़ता था।

इस संग्रह की अद्वितीय और मूल्यवान सम्पदा इसका चित्रों का संग्रह है। ब्रिटिश सरकार ने भारतीय चित्रकारों को उत्साहित कर भारतीय शैली में अनेक चित्र बनवाए थे। इसके अलावा विदेश से भारत आए शिल्पियों के द्वारा भी इस देश के स्त्री-पुरुषों एवं उनकी जीवन-शैली के विषय में बहुत से चित्र बनवाए गए थे। कालीघाट के पट-चित्र, विभिन्न अंचलों की कारुकला के प्रतीक आदि भी यहाँ मिल जाएँगे और लघुचित्रों का मूल्यवान संग्रह भी यहाँ है, जिसमें दो हज़ार फ़ारस देश के हैं। मोटे रूप में इन लघुचित्रों की संख्या लगभग तीस हज़ार है। आर्चर विशाल आकार के दो खण्डों में जो कैटलॉग तैयार किया गया है, उसी से इण्डिया ऑफिस लाइब्रेरी के कला संग्रह का अनुमान लगाया जा सकता है। इसके अलावा इस संग्रह के अन्तर्गत दो लाख पचास हजार फोटोग्राफ्स हैं जो उन्नीसवीं शताब्दी के फोटोग्राफों के अमूल्य उदाहरण हैं। इन फोटोग्राफों में विद्यमान हैं पूर्व के पेड़-पौधे, फल-फूल, घर-द्वार, मनुष्यों के अपूर्व उदाहरण।

बाँग्ला संग्रह का उल्लेखनीय अंश निषिद्ध पुस्तकों का संग्रह है। ब्रिटिश राज के शासन के दौरान एक सौ छह पुस्तकें निषिद्ध हुई थीं। इस संबंध में जनसाधारण के आग्रह में वृद्धि होने के कारण उनकी माईक्रो फ़िल्म बनाकर रखी गयी है, कोई विशेष पुस्तक जब माँगी जाती है तब उसे उपलब्ध करा दिया जाता है।

बाँग्ला पोथियों के संग्रह से अनेक विचित्र तथ्यों का पता चलता है। विचित्र हस्तलिपि के अलावा बहुत सी पुस्तकें विचित्र भी हैं। अठाहरवीं शताब्दी में रचित काशीराम दास के महाभारत के कई पर्वों की नकलें इस संग्रह में मिल सकतीं है। अठाहरवीं शताब्दी में ओडिशा में इनकी नकल तैयार की गई थी। इनकी नकल की थी शेख जमाल मुहम्मद न।

चैतन्य चरित्र की कितनी पोथियाँ प्रचलित थी उसका प्रमाण हमें इस संग्रह से मिल जाता है। इन प्रतिलिपियों में भाषा की दृष्टि में भिन्नता होने के कारण ही इनके आधार पर चैतन्य चरितामृत का प्रामाणिक पाठ तैयार किया जा सकता है।

स्वतन्त्रता के बाद इण्डिया ऑफिस लाईब्रेरी भारत आ जायेगी यह बहुतों का विचार था। कारण हस्तलिखित पोथियाँ, पुस्तकें, कलात्मक वस्तुएँ, जिन्होने इस लाईब्रेरी को समृद्ध किया वह सब भारतीय सरकारी पैसे से खरीदी गयी हैं। यहाँ तक कि जहाज़ से भेजने का किराया भी भारत सरकार को देना पड़ा था। स्वतंत्रता के बाद लाईब्रेरी अपने देश में लाने के लिए भारत सरकार ने कोई विशेष तत्परता नहीं दिखाई। और इसके भागीदार पाकिस्तान ने भी इसके प्रति वैसी कोई उत्सुकता नहीं दिखाई। जब बाँग्लादेश एक नया भागीदार उठ खड़ा हुआ भागीदारी उठ खड़ा हुआ, तब उन्होने भी किसी तरह के आग्रह को व्क्त नहीं किया। बिट्रेन की किसी भी दिन इस लाईब्रेरी को हस्तान्तरित करने की इच्छा नहीं रही है। अगर ऐसा होता तो सत्ता हस्तान्तरण के समय ही कानूनी रूप से यह बात भी लिख दी जाती। बिट्रेन का प्रस्ताव था कि मूल ग्रन्थागार तो लन्दन में ही रहेगा, इसके जो अन्य भागीदार है, उन्हें इनकी माईक्रोफिल्म और जीराक्स प्रतियाँ मिल सकती है। इस काम को पूरा अकेले करने के लिए जिस विपुल धनराशि की ज़रूरत पड़ेगी

उसे लगाना अकेले बिट्रेन के लिए सम्भव नहीं होगा। इण्डिया ऑफिस लाईब्रेरी के डायरेक्टर बेरी सी ब्रूमफील्ड गत शताब्दी के अन्तिम भाग में भारत आए थे, इण्डिया ऑफिस लाईब्रेरी के भागीदारों से चर्चा करने के लिए । उनका उद्देश्य था कि यदि इण्डिया ऑफिस लाईब्रेरी के भागीदारों पर दबाब डाला जाएँ तो इण्डिया ऑफिस लाईब्रेरी की मूल्यवान साम्रगी की माइक्रो फिल्म और जीरॉक्स कराकर इसके हिस्सेदारों को दे दी जाए किन्तु चर्चा के बाद हताश होकर ब्रूमफील्ड ने यह बताया था कि कोई भी हिस्सेदार इस काम के लिए उत्सुक नहीं है।

भारत की ओर से भी ब्रिटेन पर कोई दबाव नहीं डाला गया यही अचरज़ की बात है। भारत से जुड़ी हुई ऐसी मूल्यवान सम्पदा भण्डार के बारे में भारत के विद्वान पूरी तरह से उदासीन बने रहे। १९४७ से लेकर १९९० तक कोई ज़ोरदार दवा न करने पर ब्रिटिश गवर्नमेण्ट ने ब्रिटिश लाइब्रेरी संग्रह के साथ इण्डिया ऑफिस लाइब्रेरी के प्राच्य विषयक संग्रह को शामिल कर दिया। १९९१ से लेकर १९९३ तक शामिल करने का यह काम पूरा किया जा सका। यह बात बताना ज़रूरी है कि ब्रिटिश म्यूजियम लाइब्रेरी आजकल ब्रिटिश लाइब्रेरी के नाम से परिचित है और इण्डिया ऑफिस लाइब्रेरी का नाम अब लुप्त हो चुका है।

इण्डिया ऑफिस लाइब्रेरी और ब्रिटिश लाइब्रेरी के मिलने से जो संग्रहशाला बनी है, वह आजकल दुनिया का वृहत्तम गवेषणा केन्द्र है। अफ्रीका, एशिया, सुदूर प्राच्य आदि सारे देशों की पाण्डुलिपियाँ, छपी हुईं पुस्तकें, चित्र एवं अन्यान्य सांस्कृतिक वस्तुएँ, प्रतीक चिह्न यहाँ सुविन्यस्त रीति से संरक्षित किये गये हैं। पहले तथ्य न मिलने की शिकायत सुनने को मिलती थी। इस नयी व्यवस्था के बाद अधिकांश तथ्यों को कम्प्यूटर में डाल दिया गया है और दूरस्थित पाठक जब कोई पुस्तक या पत्रिका चाहते हैं तो वे उन्हें माइक्रोफिल्म अथवा जीरॉक्स कॉपी के माध्यम से प्राप्त कर सकते हैं।

इण्डिया ऑफिस लाइब्रेरी के सम्बन्ध में भारत सरकार की उदासीनता वेदनादायक है, किन्तु ऐसे ही एक क्षेत्र में उन्होंने थोड़ी तत्परता दिखायी थी। पूरे यूरोपीय भूखण्ड में जो सब पाण्डुलिपियाँ बिखरी हुई हैं, उनकी समीक्षा करने की बात स्वाधीनता के बाद ही सोची गयी। डॉ. राघवन को इस समीक्षार्थ यूरोप भेजा गया था। जहाँ तक मुझे पता है इन्होंने अपनी समीक्षा की रिपोर्ट भी भारत सरकार के यहाँ जमा कर दी थी, किन्तु उसका क्या परिणाम हुआ, इसका कोई पता नहीं चला।

पराधीनता के दौर में केवल ब्रिटेन में ही नहीं, अमेरिका आदि देशों में भी हमारे देश की मूल्यवान पुस्तकें चली गयी हैं। उस समय हमें सख्त होने का सुअवसर था ही नहीं। इसलिए कई तरह से दुष्प्राप्य चीजें बाहर चली गयीं, किन्तु स्वाधीनता के बाद भी यदि हम इस विषय में उदासीन रहते हैं, तो फिर किसी के ऊपर दोषारोपण पर निश्चिन्त होने से काम नहीं चलेगा।

पुस्तकें और दस्तावेज क्यों बाहर जाते हैं?उसका एक मूल कारण यह है कि इनका स्वामी इनके बदले में धन चाहता है। फिर ऐसे भी उदाहरण देखने को मिले हैं, जहाँ धन के बिना भी पुस्तकें-दस्तावेज़ों का मालिक बिना मूल्य के भी उन्हें किसी को दान में दे दे।

स्वाधीनता से पहले भारत की प्राचीन पुस्तकों तथा पत्र-पत्रिकाओं के संग्रह और उनके संरक्षण के बारे में रवीन्द्रनाथ के अलावा और किसी ने विचार किया था या नहीं, इसमें सन्देह है। १९२७ ईस्वी की ७ फरवरी की 'आनन्द बाज़ार' पत्रिका के एक समाचार से पता चलता है- 'विश्वभारती और लुप्तप्राय ग्रन्थ'- भारतवर्ष के विभिन्न प्रदेशों के संस्कृत और तदत्त प्रान्तीय भाषाओं के प्राचीन ग्रन्थों और पत्र-पत्रिकाओं के संग्रह और उनके संरक्षण की व्यवस्था डॉ.

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने विश्वभारती में की है। बड़ोदा लाइब्रेरी के मि. आर. ए. शास्त्री ने पूरे भारतवर्ष में घूमकर उस तरह के ग्रन्थों का संग्रह करना स्वीकार कर लिया है, जिनके पास इस प्रकार की लुप्तप्राय पुस्तकों की पाण्डुलिपियाँ हैं, उन्हें कृपाकर शान्तिनिकेतन में विश्वभारती के लिए डॉ. रवीन्द्रनाथ के पास भेजने पर उन्हें सादर स्वीकार किया जाएगा।

कवि के उस प्रयास को यदि उस समय जनसमर्थन मिला होता तो, इतने वर्ष बाद भी हमारी दुर्लभ पुस्तकों-दस्तावेज़ों की यह विदेश यात्रा हमें असहाय रूप से आज न देखनी पड़ती। स्वतन्त्रता के बाद भारतवासियों और उनके समाज के सम्बन्ध में अनेक देशों में उत्सुकतापूर्ण आग्रह दिखाई देने लगा था, फलस्वरूप विदेशों में भारत सम्बन्धी पुस्तकों की माँग बढ़ गयी। बिखरी हुईं पुस्तकें छोटे-मोटे संग्रह इत्यादि जो विदेश चले गये उनका तो हिसाब किसी के पास है ही नहीं। व्यक्तिगत रूप से मूल्यवान जिन सब संग्रहों की विदेश-यात्रा के बारे में मुझे पता है, उनमें से कुछ के बारे में मैं यहाँ बता रहा हूँ।

बाँग्ला के विशिष्ट निबन्धकार विनय घोष एक दिन सहसा मेरे घर उपस्थित हो गये। उन्होंने कहा मेरी पढ़ाई-लिखाई समाप्त हो गयी है, अब मैं अपनी पुस्तकें बेचना चाहता हूँ, इसमें आप मेरी सहायता कीजिए। मुझे अपने कानों पर विश्वास नहीं हुआ। मैंने विनय बाबू की ओर देखा, संकल्प की दृढ़ छाप उनके चेहरे पर थी। फिर इसके आगे उन्होंने कहा- अगर ये कलकत्ते में बिक जाएँ तो उन्हें खुशी होगी, क्योंकि तब यहाँ के पाठक उनका उपयोग कर सकेंगे। अगर यह सम्भव हो तो मैं कम दामों में ही उन्हें बेच दूँगा। मैंने कलकत्ता विश्वविद्यालय के दो उपकुलपतियों से सम्पर्क कर उनके सामने यह प्रस्ताव रखा। मात्र पच्चीस हज़ार रुपये में उन्नीसवीं शताब्दी से सम्बन्धित सारी पुस्तकें और पत्र-पत्रिकाएँ विनयबाबू दे देंगे। साथ में रहेगा हिकी के गजट का जिल्द बँधा पहला खण्ड। एकदम बढ़िया स्थिति में, मानो अभी-अभी प्रेस से छपकर आया हो।

दोनों उपकुलपतियों ने खेद व्यक्त करते हुए कहा बजट में रुपया न होने के कारण यह संग्रह खरीदना सम्भव नहीं है। हालाँकि देखा दोनों विश्वविद्यालयों के पुस्तकालयों के फर्श पर अभी-अभी खरीदी गयी तड़क-भड़कदार विदेशी पुस्तकें पड़ी हुई थीं।

हाँ, विनयबाबू को ज़रूर निराश नहीं होना पड़ा। आस्ट्रेलिया के एक विश्वविद्यालय ने चार गुनी कीमत पर उस संग्रह को खरीद लिया था।

गत शताब्दी के साठवें दशक में ब्लेयर बी. क्लिंग कलकत्ता आकर द्वारकानाथ की कोल कम्पनी के बारे में पुंखानुपुंख तथ्यों की खोज के लिए प्राण-पण से घूमते रहे। अन्त में एण्ड्रू ड्यूल कम्पनी के गोदाम वाले कमरे में उन्हें बंगाल कोल कम्पनी के पुराने कागज़ आदि मिले। उन कागज़ों में द्वारकानाथ की अपने हाथ से लिखी कई चिट्ठियाँ भी थीं। उन सब दस्तावेजों को एण्ड्रू ड्यूल कम्पनी किसी भी तरह हाथ से निकल जाने देने में बड़ी नाराज थी। यह समस्या तब सुलझी जब मानस राय चौधुरी ने बड़े जतन के साथ धूलधूसरित उन पुराने कागज़-पत्रों के बण्डलों की माइक्रोफ़िल्म बनाकर दे दी। क्लिंग खुश होकर माइक्रोफ़िल्म की कॉपी लेकर अपने देश लौट गये। अब पता चला है एण्ड्रू ड्यूल के गोदाम में उन कागज़-पत्रों का कोई पता ही नहीं चल रहा है। आधुनिक पद्धति से बंगालियों के व्यापार आरम्भ करने के अन्यतम उदाहरण चिरकाल के लिए सम्भवतः देश से लुप्त हो गये हैं। मानसबाबू माइक्रोफिल्म की एक कॉपी को बहुत दिनों तक किसी उत्सुक खरीददार की प्रतीक्षा में रक्षा किये रहे, किन्तु इस सम्बन्ध में किसी आग्रही क्रेता के न

आने से इतने दिनों में माइक्रोफिल्म की वह कॉपी प्रायः काम में आने लायक ही नहीं रही है।

ठीक से याद नहीं है, १९६८/१९६९ ईस्वी में गेलिफ स्ट्रीट पर पुरानी पुस्तकों के एक व्यवसायी की ओर से मेरे पास एक खबर आयी कि एक बड़ा और मूल्यवान ग्रन्थ-संग्रह उसके पास आ गया है। दूसरे दिन पुस्तकें देखने गया। इक मंज़िला और दुमंज़िला पुस्तकों से ठसाठस भरा था। पथुरिया घाट के राजा लोगों का पुस्तक संग्रह था। पुस्तकें देखने में मेरा पूरा दिन बीत गया। बाँग्ला पुस्तकों का संग्रह बहुत मूल्यवान था। फोर्ट विलियम कॉलेज, श्रीरामपुर मिशन, स्कूल बुक सोसाइटी, वर्नाक्यूलर लिटरेचर सोसाइटी आदि संस्थाओं की अधिकांश पुस्तकें वहाँ देखने को मिलीं। बंकिमचन्द्र की अनेक पुस्तकों के प्रथम संस्करण के साथ-साथ आधुनिकतम संस्करण भी उस संग्रह में थे। रवीन्द्रनाथ की शुरुआती दौर की प्रायः सारी पुस्तकें ही वहाँ मुझे मिल गयीं। परवर्ती काल की पुस्तकों और पत्रिकाओं का संग्रह भी बड़ा लोभनीय था। संस्कृत साहित्य के अनेक क्लासिक ग्रन्थों के विभिन्न संस्करण भी वहाँ थे। बाँग्ला समकालीन पत्रिकाओं का समावेश भी विशेष रूप से उल्लेखनीय था। अँग्रेज़ी पुस्तकों की चर्चा अलग से करनी पड़ेगी। कारण, इस संग्रह में मुझे ऐसी सब पुस्तकें मिलीं जो पहले मैंने कभी देखी नहीं थीं। ईस्ट इण्डिया कम्पनी का छापाखाना लगने के बाद से प्रशासनिक आवश्यकता के कारण जो सब पुस्तकें छापी गयी थीं, उनमें से प्रायः सभी पुस्तकें इस संग्रह में उपस्थित थीं। राष्ट्रीय पुस्तकालय में भी ये मिल सकती हैं, इसमें सन्देह था। इसके अलावा साधारणतः भारतवर्ष के सम्बन्ध में बहुत-सी मूल्यवान पुस्तकें इस संग्रह का गौरव बढ़ा रही थीं। अगर कोई नया पुस्तकालय बनाना हो तो इस संग्रह को उसका केन्द्रबिन्दु बनाया जा सकता है। कहने में कोई हर्जा नहीं है, अनेक पुस्तकालयों में ये ग्रन्थ अनुपस्थित हैं। भारत के सबसे विशाल पुस्तकालय के उच्च अधिकारी को जब इसकी जानकारी दी गई तब इस पर बिना कुछ कहे वे चुपचाप अपना काम करते रहे।

जहाँ तक याद आता है, इस ग्रन्थ-समूह ने उसके बाद अमेरिका के केलिफ़ोर्निया विश्वविद्यालय में स्थान प्राप्त किया।

कलकत्ता के एक नामी स्कूल के एक विशिष्ट प्रधान शिक्षक का व्यक्तिगत पुस्तकों का संग्रह अत्यन्त मूल्यवान था। अनेक विषयों की पुस्तकें थीं। इसके अलावा अँग्रेज़ी और बाँग्ला मासिक पत्रों का संग्रह भी उल्लेखनीय था। इस संग्रह को वे बेचना चाहते थे, किन्तु देश में उन्हें कोई खरीददार नहीं मिला। एक विश्वविद्यालय ने खरीदने का प्रस्ताव देकर छह महीने काट दिये। इसी बीच खबर पाकर जापान के टोकियो विश्वविद्यालय ने 'सुवर्णरेखा' पुस्तक संस्था के माध्यम से उसे खरीद लिया। इस संग्रह की सबसे उल्लेखनीय पत्रिका थी 'देश' - पहले अंक से लेकर नवम्बर १९७४ तक। हर संख्या का मूल कवर पृष्ठ बिना किसी विकार के सुरक्षित था। हालाँकि हमारे देश में 'देश' पत्रिका के प्रथम दौर के अंक दुष्प्राप्य हैं।

भारत की, विशेषकर पश्चिम बंगाल के इतिहास में देश विभाजन एवं विस्थापन की समस्या एक महत्त्वपूर्ण घटना है। इस घटना ने पूरे देश के ऊपर आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक प्रभाव डाला था। अपने को जीवित बनाए रखने की तागीद से लाख-लाख विस्थापित लोग भारत के विभिन्न अपरिचित इलाकों में फैल गये थे। इनमें से कुछ लोग अपने प्रयास से समृद्धशाली हो गये थे और कुछ लोग विपरीत परिस्थितियों के कारण बरबाद भी हो गये थे। पूरे बंगाल में व्याप्त उनकी परिणति जानी जा सकती है, मोरीचझाँपी की मार्मिक घटनावली से।

अध्यापक प्रफुल्ल कुमार चक्रवर्ती ने इस ऐतिहासिक घटनावली से सम्बन्धित प्रकाशित इश्तहार, पुस्तिकाएँ, पुस्तकें, पत्र-पत्रिकाएँ, सरकारी दस्तावेज़, विस्थापन विभाग की रपटें और विज्ञप्तियाँ, कानून आदि का बड़े कठोर परिश्रम से

संग्रह कर उनका संरक्षण किया था। इसके अलावा राजनैतिक दलों ने विस्थापितों को लेकर जो सब षड्यन्त्र किये थे, उनसे सम्बन्धित पुस्तकें, कागज भी उनसे छूटे नहीं थे।

लम्बे समय तक अध्यापक चक्रवर्ती ने अनेक स्थानों पर घूम-घूम कर इन सब पुस्तकों और कागज़ों का संग्रह कर उन्हें बड़े व्यवस्थित रूप में अपने घर में ही रखा था और इस संग्रह के आधार पर उन्होंने 'हाशिये के लोग' शीर्षक से एक पुस्तक भी लिखी थी। 'एम्सटरडम के इण्टरनेशनल इन्स्टीट्यूट ऑफ सोशल हिस्ट्री' में इस पुस्तक को विशेष आदर मिला था। वे लोग प्रफुल्ल बाबू द्वारा संगृहीत पुस्तकों और कागज़-पत्रों को अपने पुस्तकालय में रखने के लिए उत्सुक हो गये। उस संग्रह के संरक्षण के लिए भारत में और किसी ने कोई आग्रह नहीं दिखाया। इसके अतिरिक्त अपने घर में प्रफुल्ल बाबू अनिश्चितकाल के लिए उस संग्रहशाला की रक्षा कर पाएँगे ऐसा कोई निश्चय भी नहीं था। इसीलिए वे अपने संग्रह को एम्सटरडम में भेजने के लिए राजी हो गये। अचरज की बात यह है, जिस दूर देश के साथ नोआखाली, ढाका, वरीशाल, फरीदपुर से आये हुए विस्थापितों के साथ दूर-दूर तक कोई सम्बन्ध नहीं था, वहीं पर गढ़ उठा दुनिया का एकमात्र विस्थापितों से सम्बन्धित गवेषणा केन्द्र।

आजकल इन्स्टीट्यूट के अधिकारीगणों ने अध्यापक चक्रवर्ती के संग्रह की प्रत्येक पुस्तक और पुस्तिका का कैटलॉग तैयार किया है और दुनिया के सारे देशों के अनुसन्धानकर्त्ता इण्टरनेट की सहायता से 'ग्रुप ऑफ हिस्टोरिकल एक्टर्स इन वेस्ट बंगाल' के बारे में शोध करने के लिए सहज में ही आवश्यक तथ्य प्राप्त कर सकेंगे।

स्वाधीनता के बाद जो सब मूल्यवान ग्रन्थ संग्रह विदेश में चले गये हैं, उनमें से मात्र कुछ के ही ऊपर चर्चा की गयी है। इसके अलावा इतस्ततः जो सब असंख्य पुस्तकें और पत्र-पत्रिकाएँ बिखरी हुई हैं, जिनके बारे में पता चलता है, किन्तु उनका पूर्ण विवरण देना सम्भव नहीं है। किस तरह की कितनी पुस्तकें, पत्र-पत्रिकाएँ विदेश में बिखरी हुई हैं, उनके कुछ ही उदाहरण यहाँ दिये जा सकते हैं। हिकि के 'कैलकटा गजट' के बन्द हो जाने के बाद कलकत्ता से एक नया अँग्रेज़ी दैनिक निकलता था, उसका नाम था 'द डेली' इस पत्रिका में कलकत्ता का ऐतिहासिक और सामाजिक विवरण छापा जाता था। किन्तु इस पत्रिका की कोई प्रति भारत में नहीं है, हाँ लन्दन में है। डिरोज़िओ के जन्म दिन पर श्रद्धा व्यक्त करने के लिए हम लोग उसकी समाधि पर जाते हैं। हमारी वह श्रद्धा डिरोज़िओ द्वारा लिखित और सम्पादित पुस्तकों और पत्रिकाओं का एक संग्रह तैयार करने के प्रति कभी व्यक्त नहीं होगी। जैसे डिरोज़िओ द्वारा सम्पादित केलेड्डिओस्कोप मासिक पत्रिका इस देश में दुर्लभ है, किन्तु सुरक्षित है अमेरिका की एक लाइब्रेरी में। राममोहन, रवीन्द्रनाथ एवं अन्यान्य ख्यातिप्राप्त भारतीयों की चिट्ठी-पत्री यूरोप, अमेरिका के विभिन्न पुस्तकालयों में बिखरी पड़ी हुई हैं।

जो सब पुस्तक-संग्रह भारत से विदेश चले गये हैं, उनमें से कुछ की चर्चा ऊपर की गयी है। स्वाधीनता के बाद पश्चिम बंगाल के और भी कुछ समृद्ध पुस्तकालय पश्चिम बंगाल से बाहर चले गये हैं। फिर भी आशा की बात यह है कि वे भारत की सीमा का अतिक्रमण कर बाहर नहीं गये हैं। फिर भी बंगाली पाठकों के लिए वे सब मूल्यवान पुस्तकें अब सहज में उपलब्ध नहीं हैं। सामान्य पाठक एवं अनुसन्धानकर्त्ता इस कारण भारी असुविधा में पड़ गये हैं।

सबसे पहले जिस संग्रह ने कलकत्ता से पूना की यात्रा की वह है संस्कृताचार्य सुशील कुमार दे का। उनकी व्यक्तिगत लाइब्रेरी संस्कृत साहित्य पाठ के उपादानों से पूर्ण थी। हाँ, यह ज़रूर है कि सुशील कुमार पूना के भाण्डारकर ओरिएण्टल इन्स्टीट्यूट के साथ कई प्रकार से जुड़े हुए थे। इसलिए संग्रह सही स्थान पर ही गया है, ऐसा लगता है।

डॉ. निहार रंजन राय कई वर्षों तक शिमला इन्स्टीट्यूट ऑफ एडवान्स स्टडीज़ के अध्यक्ष थे। तब उनके आग्रह के कारण पश्चिम बंगाल से कुछ ग्रन्थ-संग्रह शिमला चले गये थे। सबसे पहले याद आती है रमेशचन्द्र मजूमदार के संग्रह की बात। वे अपने संग्रह को आस्ट्रेलिया के किसी संस्थान को बेच देंगे इस तरह का एक अनुबन्ध हो गया था। इसी समय इस बात की जानकारी निहार बाबू को मिली और वे उनके पास गये और उनसे अनुरोध करते हुए कहा कि देश की पुस्तकें विदेश क्यों जानी चाहिए? आस्ट्रेलिया वालों के बराबर मूल्य तो मैं नहीं दे सकूँगा, फिर भी यथासम्भव सम्मानजनक मूल्य उन्हें ज़रूर दिया जाएगा। अपने देश में ही उनकी पुस्तकें बनी रहेंगी इस विचार ने रमेश बाबू को कमज़ोर बना दिया और आस्ट्रेलिया के साथ उनका जो अनुबन्ध हुआ था उसे उन्होंने निरस्त कर दिया। जिस दलाल ने आस्ट्रेलिया के साथ उनका समझौता कराया था, अगर शिमला संस्थान पुस्तकें खरीदता है तो उसका कमीशन मारा जाएगा। उस दलाल के उस क्षोभ को दूर करने के लिए रमेश बाबू ने अपनी जेब से उसे रुपये दिये। इस प्रकार वे पुस्तकें देश में ही बची रहीं।

इसके बाद उल्लेखनीय जो संग्रह शिमला पुस्तकालय में शामिल हुआ, वह है कला-समीक्षक देवप्रसाद घोष का शिल्पकला सम्बन्धी ग्रन्थों का विशिष्ट संग्रह।

भूपेश गुप्त का संग्रह दिल्ली में ही था, उसके साथ जुड़ गया चिन्मोहन शाहनवीस का छोटा किन्तु समकालीन राजनैतिक घटनाओं से सम्बद्ध भरोसेमन्द ग्रन्थागार।

काफी दिनों बाद अमल होम का संग्रह भी दिल्ली चला गया था, किन्तु वह है कहाँ, इसका ठीक-ठाक पता नहीं है। उनके घर से ठीक तरह से पुस्तकें ले आने का दायित्व मेरे ऊपर डाला गया था। रवीन्द्रनाथ सम्बन्धी पुस्तकों और दस्तावेज़ों से वह संग्रह समृद्ध था। अमल बाबू के हृदय का धन वे पुस्तकें थीं। कई दिन बाद जब मैं उनके घर गया तब वे बीमार थे और उनकी बोलने की शक्ति चली गयी थी। यह अमूल्य सम्पदा रुपयों के बदले में उनके हाथ से चली जाएगी यह चिन्ता उनके लिए असहनीय थी। जब तक कि उनकी दोनों आँखों से आँसू बहते रहे।

उनकी सारी पुस्तकें एक काले ट्रंक में भरकर अलीपुर में भारत सरकार की देख-रेख में कई वर्षों तक बनी रहीं, उसके बाद दिल्ली भेज दी गयीं।

राधाप्रसाद गुप्त हम लोगों के बहुत नज़दीकी व्यक्ति थे। कलकत्ते में साहित्य एवं शिल्प निदर्शनों की दृष्टि से उनकी छोटी किन्तु समृद्ध लाइब्रेरी हम लोगों में बहुत परिचित थी। उनका मृत्यु शोक समाप्त भी नहीं हो पाया था, इसके पहले ही दिल्ली का एक पुस्तक व्यवसायी झपट्टा मारकर संग्रह को उड़ा ले गया। क्या पता एक दिन यह संग्रह उड़ कर विदेश न चला जाए।

नवगठित शीलोंग विश्वविद्यालय ने डॉ. निहार रंजन राय के व्यक्तिगत संग्रह को अपने यहाँ ले लिया था। विनय घोष की उन्नीसवीं शताब्दी से सम्बन्धित पुस्तकें पहले ही आस्ट्रेलिया में बेच दी गयी थीं। उन्नीसवीं शताब्दी के अलावा अन्य पुस्तकें उस समय भी उनके पुस्तकालय में पड़ी हुई थीं, उन्हें शीलोंग विश्वविद्यालय ने खरीद लिया।

प्रायः ४०-५० वर्ष पहले श्री अरविन्द द्वारा सम्पादित 'वन्देमातरम्' की कोई भी फाइल हमारे लिए अप्राप्य थी। सम्भवतः चार दशक पहले एक दिन चन्दन नगर में स्थित प्रवर्तक संघ में जाना हुआ और वहाँ निरे कौतूहलवश चन्दन नगर स्कूल लाइब्रेरी की अलमारियों को देखता रहा। सहसा वहाँ खोज़ने से मिल गये वन्देमातरम् पत्रिका के जिन्द बँधे दो खण्ड। खबर सुनकर वहाँ के अधिकारी खूब प्रसन्न हुए, किन्तु किसी भी खण्ड को संघ की सीमा से

बाहर नहीं ले जाने देना चाहते थे। तब हम लोगों ने उन दो खण्डों में बँधी पत्रिकाओं की माइक्रोफिल्म बनवा ली। प्रवर्तक संघ से वे फाइलें ले जाकर आजकल नेहरू म्यूजियम में रख दी गयी हैं। स्वतन्त्रता के बाद जो मूल्यवान पुस्तक संग्रह बाहर चला गया है, वह है आचार्य सुनीति कुमार चटर्जी का ग्रन्थ संग्रह। उनके घर के तिमंजिले के हॉल में थी उनकी सुसज्जित लाइब्रेरी। मज़बूत स्टील की अलमारियों में आधुनिक रीति से पुस्तकें रखी हुई थीं। उन्हें लाइब्रेरी की हर पुस्तक कहाँ रखी हुई है, इसका पता था। आगन्तुकों को लाइब्रेरी घूम-घूमकर दिखाना उन्हें अच्छा लगता था। योग्य लाइब्रेरियन का अभाव उन्हें खटकता था, किन्तु जब क्रान्तिकारी पुलिन दास की कन्या वासन्ती मित्र ने सुनीति बाबू की लाइब्रेरी के काम में योग देना शुरू किया तब वे बहुत कुछ निश्चिन्त हो गये थे। एक बार सुनीति बाबू से पूछा था कि आपके बाद इस लाइब्रेरी का क्या होगा?उन्होंने दृप्त स्वर में कहा था, क्यों, जहाँ है, वहीं तो रहेगी! मेरे नाती को पुस्तकों से बहुत प्रेम है। उसी को इसकी जिम्मेवारी दे जाऊँगा। उनकी मृत्यु के बाद यही प्रश्न नये रूप में उठ खड़ा हुआ। उनके पुत्र सुमन चट्टोपाध्याय ने इस सम्बन्ध में मुझसे बातचीत भी की थी। उसकी बातचीत से एक बात मैं साफ़-साफ़ समझ गया था कि उस पुस्तकालय को अपने घर में यथास्थान रखने में वे अनिच्छुक हैं। तो फिर, इसे कहाँ और किसे देंगे? कलकत्ता, जादवपुर आदि विश्वविद्यालयों, नेशनल लाइब्रेरी, एशियाटिक सोसायटी आदि संस्थानों को पुस्तकालय दान करने में क्या सुविधा-असुविधा है इस पर भी चर्चा की गयी। निर्णय उस समय भी अधूरा था। सहसा इसी बीच पता चला कि वह पुस्तक-संग्रह कलकत्ता त्याग कर दिल्ली के रास्ते पर रवाना हो चुका है। वह लाइब्रेरी इन्दिरा स्मारक भवन में रखी जाएगी। राजनैतिक शोरगुल से पूर्ण बाबुओं के घेरे में कितने लोग पढ़ेंगे इन पुस्तकों को।

दुर्लभ पुस्तकें पश्चिम बंगाल से एक-एक कर जो बाहर चली जा रही हैं, उन्हें रोकने के लिए कोई उपाय नहीं किया जा रहा है। पुस्तकों के प्रति विशेष कर दुर्लभ और अमूल्य पुस्तकों के प्रति यदि हमारी ममता होती तो हम इसमें बाधा देते। बाधा होने के मूल प्रहरी कर्त्तव्यनिष्ठ पुस्तकालयाध्यक्ष होते हैं। एक ओर पुस्तकों के प्रति ममता होनी चाहिए, दूसरी ओर पुस्तकों के गवेषणात्मक महत्त्व की पूरी तरह जानकारी होनी चाहिए। उसे इस तरह के सारे प्रश्नों के उत्तर देने के लिए प्रस्तुत होना चाहिए जहाँ पर पुस्तक के बारे में न्यूनतम जानकारी ज़रूरी है। आज जिस पुस्तक का मूल्य पाँच रुपया है, उसका एक सौ वर्ष बाद एक सौ रुपया क्यों हो जाएगा, इसके उत्तर के लिए हमें तैयार होना चाहिए। फिर भी पुस्तकें खरीदने के मामले में लाइब्रेरियन का निर्णय ही अन्तिम बात नहीं है। लाइब्रेरियन के ऊपर लाइब्रेरी कमेटी रहती है। कमेटी के सदस्यों के विरोधी मतों के कारण अनेक बार दुर्लभ पुस्तकों का संग्रह नहीं हो पाता है।

इसके अलावा, पुरानी पुस्तकें अगर खरीदने जाएँ तो मूल्य तय करने को लेकर एक ग्रन्थागारिक को अपमानजनक परिस्थिति में पड़ना पड़ता है, इसके भी उदाहरण हमारे यहाँ कम नहीं हैं। इस लेखक को भी एक बार पुरानी पुस्तकों से जुड़े एक मामले में सी. बी. आई. के जटिल जाल में पड़ना पड़ा था। सुतराम इन सब बातों पर विचार कर दुर्लभ पुस्तकों के खरीदने की बात उठने पर बहुत से लोगों में हिचक होती है। इसके ऊपर लाइब्रेरियन को लाइब्रेरी कमेटी के अधिकारी लोगों के अनेक तरह के प्रश्नों के उत्तर देने पड़ते हैं- जैसे यह पुस्तक क्या लाइब्रेरी की दृष्टि से उपयुक्त है? अगर नहीं है तो यह पुस्तक खरीदकर रुपयों का अपव्यय क्यों किया गया? अब अचरज यह होता है कि इम्पीरियल लाइब्रेरी के लाइब्रेरियन आचार्य हरिनाथ डे को भी इस तरह के प्रश्नों का सामना करना पड़ा था। एक बार तत्कालीन इम्पीरियल लाइब्रेरी (बाद में नेशनल लाइब्रेरी) के काउन्सिल ने उनके ऊपर अभियोग लगाया था कि 'पंजाब में देशी शिक्षा पद्धति का इतिहास' एवं 'चीन का धर्म'- ये दो पुस्तकें क्या इम्पीरियल लाइब्रेरी के लिए

खरीदना उचित काम है?अभियोगकर्त्ताओं में मुख्य थे लाइब्रेरी काउन्सिल के अध्यक्ष सर आशुतोष मुखोपाध्याय।

सन्दर्भ सूत्र :

गौरांग गोपाल, सेन गुप्त, विदेशीय भारत विद्या पथिक, १९७७.
R.C. Majumdar and others. An advanced history of India, 2001
चित्तरंजन वंद्योपाध्याय सम्पादित, रवीन्द्र प्रसंग, प्रथम खण्ड
कुणाल सिंह, पश्चिम बँगेर पुरातन ग्रन्थागार और नया पत्र संग्रह, १९९९.

('देश' ४ अगस्त, २००२ से साभार)

दो औरतों के पत्र

मोहन कृष्ण बोहरा

यदि कोई लेखक अपनी ही किसी रचना के प्रति उदासीन हो, साहित्य-जगत में उसके उपेक्षित रह जाने पर कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए। तसलीमा के लघु-उपन्यास या लम्बी-कहानी 'दो औरतों के पत्र' की स्थिति कुछ ऐसी ही है। मूल बांग्ला में यह कथाकृति 'अपर-पक्ष' नाम से प्रकाशित हुई है। स्वयं लेखिका ने इसकी 'भूमिका' में इसे 'कच्चे हाथों का कच्चा लेखन' कहा है। उसने इसे 'अर्थहीन' तक कह दिया है! 'अगर सारा-का-सारा मामला अर्थहीन हो जाये, तो भी क्या किया जाये?' कदाचित् इसी कारण से यह कथाकृति उपेक्षित रही है। लेकिन तसलीमा के लेखन को आयत्त करने के बाद यह कहना निरापद है कि यह रचना महत्त्वहीन या अर्थहीन कदापि नहीं है। पत्र-शैली में लिखी गई होने के कारण यह भिन्न आस्वाद की कथाकृति है। लेखिका ने बड़ी कुशलतापूर्वक आगत-विगत के प्रसंग और पात्रों के संवाद भी इस शैली में रचे हैं। कहीं भी कोई शैलीगत विचलन इसमें नहीं है। इसमें हम उसकी प्रेम-दृष्टि में आये परिवर्तन को भी भली प्रकार से देख सकते हैं। विचारक-तसलीमा को समझने में तो इसका योग निर्विवाद है। इसके महत्त्व का एक हेतु यह भी है कि इसका एक गवाक्ष उसके उपन्यास 'फ्रांसीसी प्रेमी' के एक अँधेरे कक्ष को रोशन करता भी जान पड़ता है।

तसलीमा की इस कथाकृति को हिन्दी-अनुवाद में 'दो औरतों के पत्र' कहा गया है। ये दोनों औरतें सगी बहनें हैं। इन बहनों के पत्र-व्यवहार से ही इसकी वस्तु संघटित हुई है। अपने पत्रों में दोनों बहनें अपने जीवन के गोपन को साझा करती हैं। पत्रों के रूप में लिखी जाने की वजह से इसकी शैली पत्रात्मक है और आत्म-कथात्मक भी। लेकिन शैली के आत्म-कथात्मक होने-भर से ही रचना आत्म-कथात्मक नहीं हो जाती है यह अलग बात है कि तसलीमा के जीवन की कुछ छाया इस कथाकृति में भी मिलती है, विशेषकर प्रमुख पात्र जमुना के चरित्र में।

तसलीमा ने अपने जीवन में रुद्र से जो विवाह किया था, वह अधिक समय तक निभ नहीं पाया। वह उसे तलाक देकर अपने पिता के घर आ गयी। अब उसने अपने मित्र मिलन से विवाह करना चाहा। उस पर अपनी मंशा जताने के लिए वह उसे लेकर कश्मीर-भ्रमण पर चली गयी। उसके प्रति अपना प्रेम और उससे विवाह करने की अपनी आकांक्षा दर्शाते हुए, यात्रा के दौरान, उसने अपनी सोने की चैन उसके गले में डाल दी, लेकिन मिलन केवल मौज-मस्ती के लिए ही उसके साथ गया था। इसलिए विवाह के प्रति उसने कोई रुझान नहीं दिखाया। निदान, तसलीमा को निराश लौटना पड़ा। बाद में पिता से प्रताड़ित होकर उसने पिता का घर छोड़ दिया। इसके पश्चात् उसने नईम से विवाह किया। उसके साथ बिताये अत्यल्प वैवाहिक-जीवन में ही उसे गर्भ ठहर गया। नईम ने यह शक करते हुए कि गर्भ उसे किसी और से, पहले से ही ठहरा हुआ था, उसके विरोध के बावजूद उसका गर्भपात करवा दिया। (बाद में इसी थीम पर तसलीमा ने 'शोध' (उपन्यास) की रचना की)।

इन प्रसंगों की कुछ छाया प्रस्तुत कथाकृति में दिखायी पड़ती है। जमुना भी पिता से प्रताड़ित होकर घर छोड़कर चली जाती है। वह भी कश्मीर-भ्रमण पर जाती है। गर्भवती हो जाने पर जमुना पर भी दबाव होता है कि वह अपना गर्भपात करवा ले, लेकिन वह बच्चे को जन्म देने का फैसला करती है। इस तरह तसलीमा के जीवन की कुछ छाया जमुना के चरित्र पर मिलती है। लेकिन जिन प्रसंगों में यह छाया मिलती है, उनमें भी जीवनगत सन्दर्भ बदल गये हैं इसलिए इस कथाकृति को आत्म-कथात्मक नहीं कहा जा सकता है, चाहे उसके जीवन के छोटे-छोटे सन्दर्भों की पदचाप इसमें कोई बीसियों जगह सुनायी पड़ती है!

जीवन से ज़्यादा ये तसलीमा के विचार हैं जिनका प्रभाव इस कथाकृति पर आया है। जमुना ने दूसरा विवाह हुमायूँ से किया। इस समय तक उसमें अपने अधिकारों की चेतना जाग गयी थी। अपनी स्वतन्त्रता के लिए आग्रह उसमें प्रबल हो उठा था। तद्नुरूप ही लेखिका ने इसमें औरत की स्वतन्त्रता का मुद्दा उठाया है; परिवार में उसकी स्वतन्त्रता का; और उसकी यौन-स्वतन्त्रता का भी।

जमुना का पहला विवाह साबिर से हुआ था। यह प्रतिबन्धित-विवाह था। साबिर दहेज का लोभी निकला। उसकी अन्दरूनी इच्छा यह थी कि जमुना अपना वेतन उसके हाथ में सौंप दिया करे क्योंकि उसका वेतन उसे नहीं मिल पाता था इसलिए वह उसके चरित्र पर अनर्गल लाँछन लगाकर उसके पिता से कुछ-न-कुछ वसूली करने के फेर में रहता था। वह स्त्री-लोलुप थी था। अन्ततः उसने दूसरा विवाह करके जमुना को घर से निकाल दिया। इस प्रकार यह प्रकरण प्रतिबन्धित-विवाह में औरत की लाचारी, पुरुष की निरंकुशता, औरत के प्रति उसकी क्रूरता और स्त्री-लोलुपता दर्शाता है।

दूसरे विवाह का फैसला जमुना स्वयं करती है। यह विवाह वह अपने साथ कार्यरत एक अधिकारी हुमायूँ से करती है। उसके साथ रहते हुए वह अपनी स्वतन्त्रता के लिए विशेष सजग हो उठती है। उसने जान लिया कि औरत का भी अपना स्वतन्त्र अस्तित्व और व्यक्तित्व होता है। वह पति की परछाई या उसके हाथ की कठपुतली नहीं होती है। उसकी अपनी भी इच्छा-अनिच्छा होती है और उसके अपने फैसले भी हो सकते हैं। लेखिका ने यह कथानक औरत की स्वतन्त्रता की चरितार्थता दिखाने की दृष्टि से ही गढ़ा है। वह हुमायूँ को लेकर कश्मीर-भ्रमण पर जाती है, लेकिन वहाँ जाकर हुमायूँ अस्वस्थ हो जाता है। उसकी इच्छा घूमने-फिरने की नहीं होती, परन्तु जमुना स्वतन्त्र है, वह उसकी परछाई नहीं है, अतः वह अपना घूमना रद्द या स्थगित नहीं करती। वह अकेली ही घूमने निकल जाती है।

वह अपनी मर्जी की मालकिन है, यह दिखाने के लिए लेखिका ने एक और प्रसंग का विधान किया है। एक बार जमुना के यहाँ खाना बनाने वाली कुसुम छुट्टी पर होती है। जमुना का मन भी खाना बनाने का नहीं होता। वह अस्वस्थ नहीं होती, लेकिन उसका मन पढ़ने में रमा होता है। वह लेटे-लेटे पढ़ती रहती है, बिस्तर नहीं छोड़ती। वह कोई दासी-बाँदी नहीं है कि पति के चाय-नाश्ते की चिन्ता करे या उठकर खाना बनाने का प्रबन्ध करे! हुमायूँ नाश्ता और खाना नहीं मिलने पर बड़बड़ाने लगता है। वह परवाह नहीं करती। खाना बाहर भी तो खाया जा सकता है। वह खुद बाहर ही खा आती है।

हुमायूँ का स्थानान्तरण मानिकगंज हो जाने पर वह अपेक्षा करता है कि पत्नी भी उसके साथ वहाँ जायेगी। लेकिन वह उसकी बात ठुकरा देती है, यह कहते हुए कि तुम भले कहीं भी जाओ, मुझे बेज़रूरत ही तुम्हारे साथ जाना होगा? इसमें क्या तुक है? उसे अपना काम और स्थान रास आया हुआ है; वह न काम छोड़ती है, न स्थान। पति ही नहीं,

समाज का दबाव भी उस पर है। समाज आज भी औरत को पुरुष से नत्थी करके ही देखता है। जमुना का डायरेक्टर भी उसे कहता है, जहाँ हसबैण्ड रहे, वाइफ को तो वहीं रहना चाहिए, वैसे भी आप साथ नहीं होंगी, तो उसे काफ़ी परेशानी भी होगी। (६६)। हम स्मरण कर सकते हैं कि अपनी एक कहानी 'दिन गुजरते हुए' में भी तसलीमा ने औरत पर समाज का ऐसा ही दबाव दिखाया है। समाज पर ऐसा ही व्यंग्य किया है। ममता का एम. डी. भी उसे कुछ यही बात कहता है, 'आप अकेली कैसे रह सकेंगी? अकेली औरत के लिए ज़िन्दा रहना क्या सम्भव है?'(७७)। लेकिन न ममता समाज की परवाह करती हैं, और न जमुना ही। जमुना मानिकगंज नहीं जाने के अपने फैसले पर अडिग रहती है।

इस तरह, इन प्रसंगों से जमुना का अपनी आजादी के लिए आग्रह स्पष्ट हो जाता है। लेखिका ने इसे सैद्धान्तिकता की सुदृढ़ भित्ति भी देनी चाही है। उसने जमुना से यह स्पष्ट करवाया है कि उसने जो दो-तीन दिन खाना नहीं बनाया और वह जो मानिकगंज नहीं गयी, वह पति के प्रति किसी शिकायत, दुर्भावना या उसका तिरस्कार करने की वजह से नहीं। वह तो यह सुनिश्चित कर लेना चाहती थी कि प्रचलित रूढ़ धारणाएँ, अगर चाहें तो, तोड़ी जा सकती हैं। 'मैं अगर चाहूँ तो समाज के विविध कुसंस्कार, झूठ और अशुभ के खिलाफ खड़ी रह सकती हूँ।'(६०)। यद्यपि उपर्युक्त प्रसंगों में कहीं कोई झूठ या अशुभ नहीं है जिसके विरुद्ध हम जमुना को संघर्षरत पाते हों, लेकिन जो भी हो, आजादी के लिए औरत का आग्रह हम इन प्रसंगों में देख सकते हैं।

कथानक में एक गढ़ा हुआ प्रसंग यह भी है कि जमुना की शादी के उपलक्ष्य में एम. डी. एक दावत देता है। जो लोग अब तक उसे 'मैडम' और 'जमुना दी' कहकर बुलाते थे, वे भी उसे 'भाभी' कहकर बुलाने लगते हैं, विभाग में नये आये वे लोग भी, जो उस 'भाई' को जानते तक नहीं, जिसकी वजह से वह उनकी भाभी हो गयी है! इस प्रसंग की योजना केवल इस सामाजिक चलन पर व्यंग्य करने के लिए की गयी है कि कैसे औरत को आज भी पुरुष से जुड़े नातों-रिश्तों में बाँधकर ही देखा जाता है, स्वतन्त्र व्यक्ति के रूप में उसकी पहचान एकाएक नहीं बनती। अस्तु।

तसलीमा के निकट औरत की आजादी के दो पक्ष हैं; एक तो उसे अपना रोज़मर्रा का जीवन स्वतन्त्र रूप से जीने की आजादी होनी चाहिए; दूसरे, उसे यौन-स्वाधीनता भी होनी चाहिए। अपने रोज़मर्रा के जीवन की आज़ादी दिखाने के लिए उसने उसके खाना नहीं बनाने और माणिकगंज नहीं जाने, इन दोनों प्रसंगों का निर्माण किया है। औरत की यौन-स्वाधीनता भी वह दो रूपों में चाहती है, एक तो औरत को अपने इच्छित पुरुष के साथ सोने की स्वतन्त्रता के रूप में; दूसरे, इच्छित पुरुष से गर्भधारण करने की छूट के रूप में इन मन्तव्यों का प्रतिपादन वह प्रारम्भ से ही करती आ रही है। उस विवाह को हम 'अशुभ' कहते और पति से ही सन्तानोत्पत्ति की धारणा को 'असभ्य' कहते देखते ही हैं। 'नष्ट लड़की : नष्ट गद्य' में उसके ये कथन दृष्टव्य हैं-

स्त्री के लिए विवाह को सबसे महत्त्वपूर्ण मानने पर स्त्री का अशुभ ही होगा, शुभ नहीं। (१८८)। सामाजिक विवाह-बन्धन के सहारे ही स्त्री का सन्तान से सम्बन्ध होना चाहिए, यह कोई सभ्य दृष्टिकोण नहीं है। स्त्री की जब इच्छा करे, वह गर्भधारण करे। इच्छा न हो तो गर्भधारण न भी करे। (२८)।

उसे 'ना' कहने का अधिकार भी होना चाहिए; सहवास से भी 'ना' का और गर्भधारण से भी 'ना' का। इस अधिकार में अन्तर्निहित यह भी है कि उसे अपने पति के इतर, किसी अन्य पुरुष से भी गर्भधारण करने की छूट होनी चाहिए। इन बातों की चरितार्थता के लिए ही यह कहानी लिखी गयी है।

अपने दूसरे मन्तव्य की चरितार्थता के लिए ही तसलीमा ने कहानी 'उत्तर-पक्ष' में पाशा नाम के पात्र का निर्माण किया है। आत्मकथा-३ में पाशा का उल्लेख है। (३/७२)। यह सकाल कविता परिषद् के उस दल का सदस्य होता है जिसे 'स्वर श्रुति' संस्था में काव्य-पाठ के लिए तसलीमा कलकत्ता ले गयी थी। वहाँ यह मेडिकल-छत्र तो होता है लेकिन इसके तसलीमा के प्रेम-प्रार्थी होने का कोई उल्लेख नहीं है। इस कहानी में हुमायूँ के माणिकगंज चले जाने के बाद पाशा जमुना के जीवन में आता है। यह पूर्व में जमुना का मित्र ही नहीं, उसका प्रेम-प्रार्थी भी रहा होता है। दुबारा मिलने पर दोनों शीघ्र ही घनिष्ठ हो जाते हैं। जमुना उसके साथ निस्संकोच हम-बिस्तर होने लगती है। होते-होते वह उससे गर्भ भी धारण कर लेती है। इस तरह जमुना के रूप में तसलीमा ने एक विवाहित औरत की आज़ादी के दोनों रूप दिखाए हैं।

इसी प्रसंग में हम तसलीमा को औरत के सतीत्व की पारम्परिक धारणा की नयी व्याख्या करते हुए भी देखते हैं। हुमायूँ को जमुना के विषय में शिकायत यह है कि उसके साथ घर नहीं बसाया जा सकता है। जो औरत खाना नहीं पकाये, उसके साथ घर कैसे बसाया जा सकता है? इससे भी बड़ी शिकायत बल्कि पछतावा उसे यह है कि जमुना के रूप में उसे कुँवारी कन्या नहीं मिली। वह साबिर की जूठन है। उसके जीवन में हुमायूँ दूसरे नम्बर पर है। स्वयं वह (हुमायूँ) कितनों की जूठन है, इस ओर उसका ध्यान नहीं जाता है। यह वह सुनना नहीं चाहता, जबकि जमुना को उसी देह से परायी औरतों की गन्ध आती रहती है! उसे एक बड़ी शिकायत यह है कि जमुना का सतीत्व की परम्परित मान्यता में विश्वास नहीं है। वह कहती है-

हुमायूँ के अलावा अन्य किसी मर्द से मेरा शारीरिक सम्बन्ध नहीं है, लेकिन अगर किसी और मर्द से मेरा शारीरिक सम्बन्ध हो जाये, तो क्या मैं अपने को 'असती' कहूँगी? बेशक नहीं, क्योंकि मैं शत-प्रतिशत सच्ची और ईमानदार रहते हुए किसी और मर्द से अगर शारीरिक सम्बन्ध स्थापित करूँ, तो इससे किसी का नुकसान नहीं होता; न मेरा, न हुमायूँ का।

पति के रहते हुए औरत पराये मर्द से यौन-सम्बन्ध बनाये रखे, तब भी उसका सतीत्व खण्डित नहीं होगा, यह केवल तसलीमा की आत्मनिष्ठ धारणा ही हो सकती है, इसका कोई वस्तुनिष्ठ औचित्य नहीं है। कोई औरत शत-प्रतिशत सच्ची और ईमानदार किसके प्रति और कैसे रह पायेगी, जब वह पति के प्रति ही सच्ची नहीं है? जब वह पर-पुरुष के साथ सहवास करेगी, तब उसे पति के प्रति ईमानदार कैसे कहेंगे? जब वह किसी और की भोग्य वस्तु बन जायेगी, तब पति उसे कैसे सच्ची और ईमानदार मान लेगा? जहाँ तक नुकसान की बात है, उसका अपना कोई नुकसान वह न भी माने, पति का उसमें जो विश्वास है, उसका तो पूरा नुकसान हो ही जायेगा। उसे उस पर दूसरे का अधिकार कभी स्वीकार्य नहीं होगा। स्वयं जमुना को ही इतर औरतों से हुमायूँ का सम्बन्ध कहाँ गले उतरा है! ऐसी स्थिति में जमुना द्वारा की गयी सतीत्व की यह नयी व्याख्या हुमायूँ को स्वीकार्य कैसे हो सकती? वैसे भी, यह तसलीमा की सर्वथा आत्मनिष्ठ व्याख्या ही है।

हुमायूँ जमुना के मन्तव्य को स्वीकार नहीं करता है, यह अलग बात है कि जमुना के आक्षेप का उत्तर देते भी हुमायूँ से नहीं बन पड़ता है। जमुना ने जान लिया है कि माणिकगंज में हुमायूँ वेश्यागामी रहा है, इसलिए वह उससे पूछती है-

इन छह महीने तुम बिल्कुल अकेले थे? किसी भी दूसरी औरत को तुमने नहीं छुआ, सच-सच बताओ? (८६)।

जब उससे उत्तर देते नहीं बनता, तब वह कहती है-

तो फिर मैंने अगर किसी को छू लिया तो तुम क्यों इतने तैश में आ गये? मैं क्या तुम्हारे खलिहान की धान हूँ कि तुम अपनी मर्जी-मुताबिक खाओगे-चबाओगे? मैं भी तो आखिर इंसान हूँ, हुमायूँ। भोग करना मुझे भी आता है...(८६)।

लेकिन अपने बारे में कोई सवाल वह सुनना नहीं चाहता, वह उसे वेश्या, रण्डी आदि कहकर गालियाँ देता रहता है और पराये मर्द से उसे बच्चा ठहर जाने का प्रचार भी करता फिरता है!

जमुना जब पाशा के संसर्ग से अपने गर्भवती हो जाने की जानकारी अपनी बहन नूपुर को देती है, तब वह घबरा उठती है। वह समाज से कुछ ज़्यादा ही डरती है। वह उसे लिखती है कि 'बूबू, तुम्हारा फैसला मेरे दिल में पैदा कर रहा है। सुनो, तुम्हें तो इसी देश में, इसी समाज में रहना है। कहीं ऐसा न हो कि तुम्हें सियार-गिद्ध नोंच-नोंच कर न (?) खा जाएँ।' वह यह सवाल भी उठाती है कि 'लोगों को तुम क्या बताओगी? हुमायूँ भी आकर झमेला खड़ा करेगा. ..समाज में तुम जी नहीं सकोगी, बूबू, लोग-बाग तुम्हें जीने नहीं देंगे।'(८७)। इसीलिए वह उसे सलाह देती है कि वह अपना गर्भपात करवा ले लेकिन जमुना उसे स्पष्ट शब्दों में लिख देती है कि 'मैं बच्चा नष्ट कर देने की सलाह कुबूल नहीं कर रही हूँ।'(८८)।

इस तरह, यौन-स्वाधीनता के अन्तर्गत तसलीमा ने औरत के लिए पर-पुरुष के साथ यौन-संसर्ग की, और उससे गर्भधारण करने की जों छूट चाही है, इस कथाकृति में उसने उसकी चरितार्थता दिखायी है। इसलिए उसकी वैचारिकता को पाने की दृष्टि से इस कथाकृति की उपादेयता असंदिग्ध है। रेखांकित करने की बात यह भी है कि यहाँ भी उसने अपने विचारों को सैद्धान्तिकृत भी किया है।

पाशा के साथ जमुना के यौन-सम्बन्ध की जानकारी पाकर नूपुर विस्मित होती है। वह संकोच से उससे पूछती है, 'तुम क्या फ्री-सेक्स में विश्वास करती हो, बूबू?'(८३)। इसका उत्तर देते हुए जमुना अपने विचारों का सैद्धान्तिक निरूपण करते हुए लिखती है-

तूने पुनःश्चय लिखकर फ्री-सेक्स के बारे में पूछा है। सुन, फ्री-सेक्स में नहीं, मैं फ्रीडम ऑफ़ सेक्स में विश्वास करती हूँ। (८३)

बात संक्षेप में कही गयी है। यह प्रकटतः शब्दों का खेल जान पड़ती है। फ्री-सेक्स और फ्रीडम ऑफ़ सेक्स में कोई भेद करना आसान नहीं है। लेकिन तसलीमा के अन्यत्र व्यक्त किये गये विचारों के सन्दर्भ में देखें तो इन पदों के अन्तर को समझा जा सकता है। हम 'फ्री-सेक्स' को 'मुक्त-यौन' और 'फ्रीडम ऑफ़ सेक्स' को 'यौन-स्वाधीनता' कह सकतें हैं। मुक्त-यौन में विश्वासी औरत हर सुलभ व्यक्ति के साथ यौन-संसर्ग के लिए तत्पर रहती है, वह कोई भेद नहीं बरतती है। यौन-स्वाधीनता में विश्वासी औरत अपनी यौनेच्छा को अपने नियन्त्रण में रखती है। अतः उसका यौन-जीवन भी उसकी अपनी अधीनता में रहता है इसीलिये इसे उसने यौन-स्वाधीनता (स्व+अधीनता) कहा है। विवाह की पवित्रता और एकनिष्ठता जैसी किसी धारणा में कोई विश्वास इसका भी नहीं होता है। वह अपने इच्छित पुरुषों के साथ ही यौन-संसर्ग के लिए तत्पर रहती है; हरेक के साथ संसर्ग के लिए वह अपने को प्रस्तुत नहीं करती है परन्तु इस 'इच्छित' की कोई सीमा नहीं होने से यौन-स्वाधीनता और मुक्त-यौन में ज्यादा अन्त नहीं रहे, यह भी सम्भव है। अस्तु

प्रसंगवश, हम स्मरण कर सकते हैं कि 'आत्मकथा' में रुद्र जो यौन-स्वतन्त्रता चाहता है, उसे 'मुक्त दाम्पत्य' कहा

गया है। यौन-स्वातन्त्राय का उत्स वहीं है। विवाह का निषेध वह नहीं करता है, बल्कि विवाह का तो वह प्रबल पक्षधर है लेकिन एकनिष्ठता का अंकुश उसे स्वीकार्य नहीं है। दाम्पत्य में बँधे रहकर भी यौन-सम्बन्धों में वह स्वतन्त्र रहना चाहता है। लेकिन यही स्वतन्त्रता वह पत्नी को देना नहीं चाहता; उसका मुक्त-दाम्पत्य उसे गवारा नहीं है। उसके इसी द्वैत के विरोध में तसलीमा उससे नाता तोड़ लेती है (यद्यपि अन्य कारण भी हेतुभूत रहते हैं)।

बाद में यौन-स्वाधीनता की पक्षधर होते हुए तसलीमा विवाह का ही निषेध कर देती है। पान से हटा देती है, संस्कार का चूना। जमुना अपनी स्थिति में रुद्र के मुक्त-दाम्पत्य के अधिक निकट है। वह हुमायूँ से तलाक लिए बिना ही, पाशा के संसर्गरत होने लगती है और गर्भ भी धारण कर लेती है! ऐसा जान पड़ता है कि अपने यौन-स्वातन्त्र्य का औचित्य दिखाने बल्कि उसकी पक्षधरता में खड़े होने के लिए ही तसलीमा ने 'फ्रीडम ऑफ सेक्स' सिद्धान्त का निरूपण किया है। यह उसके लिए एक आड़ है। इसे ही उसने जमुना में प्रक्षेपित कर दिया है।

प्रस्तुत प्रसंग में तसलीमा ने संतान-एषणा के अपने अभीष्ट पर भी कुछ विचार किया है। यह जानकर कि जमुना गर्भपात नहीं करवायेगी, नूपुर उसे लिखती है-

नारीत्व, सतीत्व वगैरह प्रचलित संज्ञा तुम नहीं मानती, लेकिन लगता है, मातृत्व का माहात्म्य तुम खूब मानती हो। तो क्या, मातृत्व में ही नारी की सार्थकता है, इसीलिए तुम अपना नारी-जन्म सार्थक करना चाहती हो? (८७)।

नूपुर के इस पत्र पर जमुना भड़क उठती है। नारीत्व और सतीत्व जैसी रूढ़िवादी मान्यताओं की तरह मातृत्व की धारणा भी उसे चिढ़ा जाती है। वह खीझकर नूपुर को लिखती है-

मातृत्व में ही नारी जन्म की सार्थकता है-ऐसी अजीबोगरीब बात मैं मानती हूँ, तुझे विश्वास हो गया? बुद्धू लड़की! मैं तो अपना बच्चा चाहती हूँ, सिर्फ़ मेरा बच्चा! (८७)।

'मातृत्व' पद पर जमुना नूपुर के प्रति चाहे अपनी खीझ कितनी ही दिखाये, सच्चाई यह है कि बच्चे का नाम आते ही जमुना का हृदय न्यूनाधिक भावातिरेक से भरता ही है। 'सिर्फ़ मेरा बच्चा' इन तीन शब्दों में ही वह अपने भावों को व्यक्त करती है, मातृत्व उसमें भी कम नहीं छलकता! 'सिर्फ़ मेरा बच्चा' को वह जिस तरह परिभाषित करती है और उससे जो सम्प्रेषित करना चाहती है, वह भी दृष्टव्य है-

मेरे ही खून-माँस से बना, बड़ा होने वाला, मेरा बच्चा!

यह भी मातृत्व नहीं तो क्या है? और यह तो मातृत्व की पराकाष्ठा है कि वह पितृत्व को तो मिटा ही देना चाहती है! वह लिखती है कि-

मैंने जैसे अपने ऊपर से मर्द का अश्लील आधिपत्य हटा दिया, अपने बच्चे पर से भी उसका आधिपत्य हटा दूँगी।(८७)।

हम स्मरण कर सकते हैं कि आत्मकथा (भाग-तीन) में यौन-शुचिता और सतीत्व की धारणा को नकारते हुए तसलीमा ने लिखा है-

मैंने इस नियम को भी बिल्कुल अस्वीकार कर दिया है कि मेरी देह अगर कोई छुए तो मैं सड़ जाऊँगी, मैंने तोड़ डाली

है ज़न्जीर! पान से पोंछ दिया है, संस्कारों का चूना। (३/२१२)।

अपनी रचनाओं में भी उसने अपने इसी व्यक्तित्व को प्रक्षेपित किया है। आत्मकथा में उसने जैसे स्वयं को पुरुष के अंकुश से मुक्त किया है, वैसे ही यहाँ 'दो औरतों के पत्र' में उसने अपने होने वाले बच्चे को भी उसके पिता के आधिपत्य से मुक्त करने की योजना बनायी है। जब हुमायूँ इस बच्चे को लेकर उससे तकरार करता है, तब वह उसे डपटते हुए कहती है-

यह जो चार महीने का बच्चा है, मेरी कोख़ में, यह मेरा बच्चा है। अकेली मैं उसे जन्म दूँगी, अकेली मैं उसे परिचय दूँगी।(८६)।

यहाँ जमुना का जो मेरी कोख़, मेरा बच्चा, अकेली मैं उसे जन्म दूँगी, मैं उसे परिचय दूँगी आदि पर बलाघात है, वह तसलीमा के सन्तान-विषयक विचारों को समझने में सहायता करता है। औरत की कोख़ पर औरत का ही अधिकार हो, यह बात वह शुरू से ही कहती आ रही है। बच्चे पर भी एकमात्र अपना ही अधिकार चाह कर उसने कोख़ के अधिकार को ही विस्तार दिया है। उपर्युक्त पंक्तियों में जमुना को माध्यम बनाकर तसलीमा स्वयं ही बोलती जान पड़ती है।

'आत्मकथा' में उसने अपनी रचना-प्रक्रिया पर कोई खास प्रकाश नहीं डाला है। लेकिन कुछ रचनाओं की कुछ चर्चा उसने की है। संयोग से, 'अपर-पक्ष' की चर्चा भी उसमें है। उसे यहाँ देखना प्रासंगिक होगा। अपनी लेखन-प्रक्रिया की और उसी के अन्तर्गत 'अपर-पक्ष' की चर्चा करते हुए उसने लिखा है-

किसी दुखिया औरत की कहानी लिख रही हूँ, लिखते-लिखते अचानक बेभाव रो पड़ी हूँ। मुझे ऐसा लगता है, जैसे वह दुखिया औरत मैं खुद हूँ...'अपर पक्ष' में जब मैं जमुना की कहानी लिख रही थी, लिखते-लिखते मैंने महसूस किया, जैसे जमुना का अस्तित्व मेरे ही अन्दर समाया हुआ है। जमुना जब गर्भवती होती है और ऐलान करती है कि यह उसका बच्चा है, किसी और का नहीं! किसी मर्द का नहीं है। तब मुझे लगता रहा, जैसे मैं ही गर्भवती हूँ, मेरी ही कोख़ में, मेरी ही सन्तान पल रही है; विवाहेत्तर सन्तान, जिसे मैं प्यार से पाल-पोस रही हूँ। (३/४५२)

यहाँ 'विवाहेत्तर सन्तान' पद ध्यान देने योग्य है। रचना में पात्र के विचारों को लेखक के विचार माना जा सकता है या नहीं, इस विषय में आलोचकों में मतैक्य नहीं है। लेकिन यहाँ स्वयं लेखिका के साक्ष्य पर हम जमुना के विचारों को तसलीमा के विचार मान सकते हैं। इसकी पुष्टि तसलीमा के उन विचारों से भी होती है जो उसने अन्यत्र व्यक्त किये हैं। अन्यत्र उसने कहा ही है कि वैवाहिक-सम्बन्धों से ही सन्तान हो, इसे वह 'असभ्य' मानती है; इसके अनुरूप ही वह 'विवाहेत्तर' सम्बन्ध से सन्तान में विश्वास करती दिखाई पड़ती है और इसी विचार का प्रक्षेपण उसने जमुना में कर दिया है। इसलिए हम देखते हैं कि वह अपने पति हुमायूँ से सम्बन्ध-विच्छेद किये बिना ही, पहले पाशा से यौन-सम्बन्ध बना लेती है और फिर उससे गर्भधारण कर लेती है। इस तरह वह औरत की यौन-स्वतन्त्रता की धारणा के दोनों रूपों को चरितार्थ कर देती है। यह उचित है या अनुचित, यह एक बिल्कुल ही अलग प्रश्न होगा अथवा अलग से विचारणीय भी।

जमुना ने गर्भ पाशा के साथ संसर्ग से धारण किया है, लेकिन पाशा इस सन्तान का पितृत्व ग्रहण करने के लिये तैयार नहीं है। लेखिका ने लिखा है कि जमुना के गर्भवती होने की जानकारी पाकर 'पाशा का चेहरा आशंका से नीला पड़

जाता है, वह आतंकित हो उठता है। वह तो जमुना को सलाह देता है कि 'बच्चा नष्ट कर दो।'(८५)। अगर यह सम्भव न हो तो वह शादी कर ले। लेकिन जमुना यह कहते हुए उसका प्रस्ताव उसी घड़ी ठुकरा देती है कि 'मैं तो तुमसे शादी नहीं करूँगी, पाशा।'(८६)। 'फिर यह बच्चा?' पाशा सवाल उठाता है। वह यह कह कर उसका मुँह बन्द कर देती है, 'यह मेरा बच्चा है।'(८६)। हुमायूँ को भी वह ऐसा ही उत्तर देती है, 'यह जो चार महीने का बच्चा है मेरी कोख़ में, यह मेरा बच्चा है।'(८६)। पाशा और हुमायूँ कोई भी बच्चे का पितृत्व धारण करने के लिये तैयार नहीं है, यह एक पक्ष है। लेकिन इससे भी बड़ा दूसरा पक्ष यह है कि किसी को भी बच्चे का पिता होने का पद देने के लिये जमुना खुद ही तैयार नहीं है। वह खुद ही पिता-रहित बच्चे का लालन-पालन करना चाहती है-

इस बच्चे की गार्जियन बनूँगी मैं। यह बच्चा मेरे परिचय के साथ बड़ा होगा। मैं उसे सच्चा इंसान बनाऊँगी।(८५)।

वस्तुतः तसलीमा को यह प्रश्न शुरू से ही मथता रहा है कि बच्चे पर पिता का ही अधिकार क्यों हो, माँ का भी क्यों नहीं हो? जमुना यहाँ एक क़दम आगे बढ़ जाती है। वह चाहती है कि अधिकार केवल माँ का ही हो। जमुना केवल बच्चे का लालन-पालन ही नहीं करना चाहती, उसकी अभिव्यक्ति में यह अहं भी है कि वह उस पर केवल अपना ही अधिकार चाहती है। 'आत्मकथा-३' से उद्धृत उपर्युक्त अंश के प्रकाश में हम साफ़-साफ़ देख सकते हैं कि यहाँ मर्द को चुनौती देने वाला यह अहंकार परिपूर्ण मत तसलीमा का ही है जो जमुना की वाणी में उतरा है। वह चाहती है, बच्चे पर अपना ही पूरा-पूरा अधिकार! केवल पारिवारिक, सामाजिक अधिकार ही नहीं, कानूनी अधिकार भी।

वह मेरा बच्चा होगा। कानून का सहारा लेकर किसी मर्द की इतनी मजाल कि उस बच्चे को अपने कब्ज़े में ले ले?(८५)

औरत की यौन-स्वाधीनता का यह एक अलग ही आयाम है। इच्छित पुरुष से संसर्ग की छूट और इच्छित पुरुष यानी पति से इतर पुरुष से गर्भधारण करने की छूट से भी आगे बढ़कर तसलीमा यहाँ सन्तान के पालन-पोषण और समाज में उसके परिचय और पहचान के मामले में भी पुरुष का हस्तक्षेप हटा देना चाहती है! इसके व्यावहारिक-पक्ष का आकलन करते हम उसे कहीं नहीं देखते।

प्रस्तुत कथाकृति में तो क्योंकि उसने अपनी वैचारिकता के काट का वस्तु-विधान किया है इसलिए इस विचार के व्यावहारिक-पक्ष की उपेक्षा कुछ कम खटकती है अन्यथा यह उपेक्षा चिन्तनीय ही कही जायेगी। इस रचना में तो जमुना के माणिकगंज नहीं जाने से खफ़ा होकर हुमायूँ उससे जेवर वापस माँग लेता है, वह घर के टीवी, फ्रिज आदि भी उठाकर ले जाता है, वहाँ (माणिकगंज में) रहते हुए वह पर-स्त्रीरत भी हो जाता है इसलिए जमुना का पति होने का अधिकार वह लगभग खो-सा देता है। ऐसे में जमुना को भी अपनी मनमर्ज़ी का फैसला करने की स्वतन्त्रता स्वतः मिल जाती है। हुमायूँ उसे रण्डी, वेश्या आदि कहकर गालियाँ भी देता है, चिल्लाता है, लेकिन जमुना के आक्षेपों का जवाब देते उससे नहीं बन पड़ता है। जमुना के गर्भ में बच्चा किसी और का है, यह प्रचारित करने के बाद तो हुमायूँ के उस बच्चे के पिता होने की बात स्वतः ही समाप्त हो जाती है। जहाँ तक पाशा का प्रश्न है, सन्तान के नाम से ही वह घबरा जाता है, वह अवैध पिता होना नहीं चाहता इसलिए वह जमुना के पास आना ही बन्द कर देता है। सन्तान पर अपना एकान्तिक अधिकार जमाने की जमुना की राह में ये दोनों, हुमायूँ और पाशा ही अवरोधक थे। जमुना की रणनीति इन दोनों को अपनी राह से हटाने की थी। जैसे-तैसे इन्हें हटाकर लेखिका जमुना का यह पथ प्रशस्त कर देती है। लेकिन क्या जीवन में यह सहज सम्भव है? और क्या रचना में भी (लेखिका की निरंकुश-योजना के बाद भी)

जमुना निश्चिन्त रह सकी है? क्या स्वयं लेखिका भी निश्चिन्त है?

यदि हम रचना की अन्तर्ध्वनि पर ध्यान दें, 'बिटविन द लाइंस' पढ़ें, तो जान पड़ेगा कि लेखिका स्वयं भी समाज में औरत की 'इस' स्वाधीनता के प्रति आश्वस्त नहीं है। जमुना की इस हठधर्मिता में (कि वह इस बच्चे को जन्म देगी) उसकी बहन उसका 'भयंकर भविष्य' देखती है इसीलिए वह उसे कहती है कि वह समय रहते अपना गर्भपात करवा ले अन्यथा यह समाज उसे जीने नहीं देगा। खुद जमुना बहुत आत्मविश्वासी और संघर्षशील है, लेकिन क्या वह स्वयं निश्चिन्त भी है? वह नूपुर को लिखती है, 'मैं तो अपना बच्चा चाहती हूँ... अगर मैं अपनी चाह को पूर्णता दे पायी तो मेरी सार्थकता उसी में है।'(८७)। यदि वह निश्चिन्त है तो फिर यह 'अगर' क्यों है? वस्तुतः यह 'अगर' उसके भीतरी डर का वाचक है। उसे डर है कि वह इस बच्चे को सुरक्षित जन्म दे भी पायेगी या नहीं। यह डर इसलिए है कि वह देखती है कि उसके 'चारों तरफ सिर्फ़ नफ़रत है! नफ़रत ही नफ़रत।' (६२)। उसे डर मकान-मालकिन से भी है और इर्द-गिर्द के लोगों से भी। उसका मन ही साक्षी है जो नूपुर से कहता है, 'अब दफ़्तर में भी थोड़ी-बहुत परेशानी होगी। मुमकिन है, मैं घर बदल दूँ।' (६२)।

इस प्रकार, यह लेखिका का अनाश्वस्त भाव ही है जो जमुना में संक्रमित हो आया है और उसे भयभीत कर गया है। इसी ने, अवचेतनतः ही सही, लेखिका को बाध्य किया है कि वह कहानी को अधूरा ही छोड़ दे, जमुना के प्रसव का अवसर आने ही न दे!

इस कहानी की एक विडम्बना यह भी है कि इसमें लेखिका के सोच और पात्र के आचरण के हेतु अलग-अलग हैं। लेखिका ने अपनी ओर से दैनन्दिन जीवन में एक औरत का अपनी आज़ादी के लिए संघर्ष दिखाना चाहा है। (बाद में उसका यौन-स्वाधीनता के लिए संघर्ष भी दिखाना चाहा है)। कथानक में रोज़मर्रा के जीवन में संघर्ष की दो घटनाएँ हैं; पहली जमुना द्वारा खाना नहीं बनाने की; दूसरी, माणिकगंज नहीं जाने की। प्रकटतः ये दोनों बातें एक पत्नी के रूप में जमुना की हठधर्मिता और पति हुमायूँ के प्रति उसकी गहरी नाराज़गी नहीं, तो उदासीनता दिखाती ही है, लेकिन अपना पक्ष स्पष्ट करते हुए जमुना नूपुर को लिखती है कि माणिकगंज नहीं जाने का फैसला मैंने हुमायूँ से किसी नाराज़गी की वजह से नहीं लिया है।(६७)। बात इतनी-सी है कि उसे अपनी नौकरी और जगह रास आयी, इसलिए वह इन्हें बदलना नहीं चाहती। अतः वह सिर्फ़ उसकी आज़ादी का मामला है। खाना नहीं बनाने की जहाँ तक बात है, वह कहती है कि उसे उस दिन 'बहुत भला' लगता रहा, लेकिन उसका कारण कुछ और है। 'मैं हुमायूँ से ज़िद ठाने बैठी थी या मैंने उसे चुनौती दी थी, इसलिए भला लग रहा हो, ऐसा नहीं था! मेरे भला लगने का कारण बिल्कुल अलग था। मुझे बस यही लग रहा था कि प्रचलित धारणाएँ, अगर चाहें तो तोड़ी जा सकती हैं। मैं अगर चाहूँ, तो समाज के विविध कुसंस्कार, झूठ और अशुभ के ख़िलाफ़ अडिग खड़ी रह सकती हूँ।' (६०)। यद्यपि उपर्युक्त दोनों प्रसंगों के मूल में कोई झूठ या कुसंस्कार दिखायी नहीं देता जिसके विरुद्ध उसे संघर्षरत कहा जा सके, इसलिए यह आड़ बेमानी ही की जायेगी। हाँ! औरत जो मनमर्ज़ी से जीना चाहती है, पढ़ने का जो आनन्द ले रही है, उसमें खाना बनाने से बाधा अवश्य पड़ेगी। ऐसे में, बाहर जाकर खाना खाकर भी काम चलाया जा सकता है। वह बाहर जाकर ही खा आती है। हुमायूँ व्यर्थ ही हंगामा मचाता है। यह जमुना का विचार है, परन्तु यदि वस्तुनिष्ठ दृष्टि से देखें तो यह भी कह सकते हैं कि पढ़ी-लिखी औरत क्या छोटी-मोटी बातों पर पति को विश्वास में लेकर नहीं चल सकती? तुच्छ-सी बातों पर घर में कलह खड़ा हो तो ज़िम्मेदारी औरत की भी बनती है। नाश्ता और खाना दोनों प्रसंगों में वह आचरण निरंकुश ढंग से करती है और माणिकगंज नहीं जाने का निर्णय करते हुए तो वह पति की परवाह कतई नहीं करती। इन सभी प्रसंगों में हम उसे अपनी आज़ादी की उड़ान भरने के लिए अपने पंख तोलते ही देखते हैं।

यदि हम कथाकृति पर दृष्टि-निरोध करें तो जमुना के चरित्र को ध्यान से देखें तो वहाँ एक अलग तस्वीर भी उभरती दिखायी देती है। जमुना के मन में हमें हुमायूँ के प्रति गहरी वितृष्णा-सी जान पड़ती है। यह जगह-जगह प्रकट भी हुई है। वह निर्भ्रान्त शब्दों में कहती है कि 'हुमायूँ मुझे खास पसन्द था, ऐसी बात नहीं है।'(५१)। वह यह भी कहती है कि 'एकनिष्ठ पति वह नहीं है।'(५०)। इतना ही नहीं, वह यहाँ तक भी कह देती है कि हुमायूँ की मुझे अपनी ज़िन्दगी में ख़ास ज़रूरत नहीं है।(५३)। इससे बढ़कर वितृष्णा का प्रमाण और क्या हो सकता है! इन कथनों को सन्दर्भभूत रखकर हम उपर्युक्त दोनों प्रसंगों पर विचार करें तो यह निष्कर्ष स्वतः ही निकल आता है कि यह पति के प्रति पत्नी की वितृष्णा ही है कि वह स्वस्थ होते हुए भी, अकारण ही, पति के लिए नाश्ता-खाना बनाने से इंकार कर देती है और उसके साथ माणिकगंज जाने से साफ़ मना कर देती है।

परिणाम तो दोनों कोणों से एक ही ठहरेगा; आज़ादी के कोण से और वितृष्णा के कोण से भी; जमुना न खाना बनायेगी, न माणिकगंज जायेगी। लेकिन हेतु दोनों में बदला हुआ होगा। लेखिका की वैचारिकता की दृष्टि से हेतु औरत की आज़ादी का होगा, तो रचना के कोण से वह पति के प्रति औरत की वितृष्णा का होगा। कहने की आवश्यकता नहीं कि हेतु बदल जाने से बात भी बदल जायेगी। रचनाकार का बल जिस बात पर है, उसका महत्त्व गौण हो जायेगा। लेखिका औरत की आज़ादी को मूल्य ठहराती है, जबकि रचना में उसका स्थान पात्र की वैयक्तिक नफ़रत ले लेती है। इसलिए उसका अपनी आज़ादी पर आग्रह कमजोर पड़ जाता है।

इसका प्रभाव यौन-स्वाधीनता के आग्रह पर भी आया है। हुमायूँ जब यह कहते हुए जमुना पर दबाव बनाता है कि 'अब तुम्हारे ज़िस्म की ज़रूरत कौन मिटायेगा' (६८), तब वह इस बात के प्रति अपने मन में आश्वस्त होता है कि जमुना को अपनी इस (दैहिक) ज़रूरत के लिए तो उसके आगे झुकना ही होगा। उसे अपने पौरुष पर अहंकारी विश्वास है। लेकिन जमुना पलटकर यह कड़ुवा जवाब देते हुए उसके अहंकार पर पाला गिरा देती है कि-वही एक ज़रूरत तो मेरी है। तुम इस बारे में परेशान न हो। अपनी इतनी ज़रूरतें मैं खुद पूरी कर लेती हूँ, यह ज़रूरत भी क्या पूरी नहीं कर पाऊँगी?(६८)।

औरत का ऐसा उत्तर किसी भी पुरुष को मुँह चिढ़ाता ही जान पड़ेगा। ऐसा जान पड़ता है कि हुमायूँ का आचरण देखकर जमुना के मन में उसके प्रति जो वितृष्णा का भाव जागता है, वह केवल रोज़मर्रा के जीवन तक ही सीमित नहीं रहता है, वह उसके यौन-जीवन को भी अपने पसारे में ले लेता है।

यहाँ एक व्यंजना और भी लक्ष्य की जा सकती है। ऐसी प्रतीति भी होती है कि जमुना किसी पर-पुरुष पर पहले से ही आसक्त भी है और उसके साथ यौन-संसर्गरत भी। वह उससे अपनी दैहिक ज़रूरतें पूरी कर लेती है इसलिए वह पति के माणिकगंज जाने के मामले पर भी चिन्तित नहीं है। वह कहीं भी जाये, उसे कोई फ़र्क नहीं पड़ता। बिना पर-पुरुष आसक्ति के यह उत्तर दिया ही नहीं जा सकता था। जबकि रचना का सच यह है कि अभी तक किसी पर-पुरुष से उसका कोई सम्पर्क नहीं है, यौन-संसर्ग तो दूर की बात है! नूपुर से अपना तमाम गोपन वह साझा करती आयी है। उसे वह लिखती है कि 'हुमायूँ के अलावा अन्य किसी मर्द से मेरा शारीरिक सम्बन्ध नहीं है।'(५४)।

वस्तुतः साबिर से तलाक के बाद और हुमायूँ से शादी करने के पहले तक यानी अन्तराल की अवधि में, उसने जो एकाकी जीवन बिताया, वह संयमित-जीवन ही था। उसके विषय में वह नूपुर को लिखती है कि-

अपनी निःसंगता के दिनों में अगर मैं चाहती तो ढेरों मर्दों के साथ सेक्स सम्बन्ध स्थापित कर सकती थी, लेकिन मैंने

ऐसा नहीं किया। ऐसे सम्बन्धों के प्रति मुझमें कोई खास आवेग नहीं जागता। लेकिन अगर मैं चाहती, अगर मैं अपनी देह-चाह पूरी करती, तो बताओ वह कहाँ से ग़लत होता? उन दिनों मैं किसी के प्रति, किसी तरह से भी, दायबद्ध नहीं थी; मैंने किसी के आगे यह शर्त भी नहीं रखी कि मैं उसके अलावा अन्य किसी को भी स्पर्श नहीं करूँगी। (४५)।

बात तर्कसंगत है। अतः इसे सिवाय विडम्बना के क्या कहा जाये कि हुमायूँ से बात करते हुए वह अपने संयम की बात कहने के बजाय उसे तीखा उत्तर देती है कि 'अपनी इतनी सारी ज़रूरतें मैं खुद पूरी कर लेती हूँ, यह ज़रूरत भी क्या पूरी नहीं कर पाऊँगी?' इससे इस व्यंजना को ही बल मिलता है कि उसका लगाव किसी अन्य पुरुष से भी है। अपनी शारीरिक क्षुधा की पूर्ति-तृप्ति वह उससे पा लेगी!

बाद में, जब वह पाशा से घनिष्ठ होती है, उससे हम-बिस्तर होने लगती है और अन्ततः गर्भवती हो जाती है, तब यह अनुमान पुष्टि पा लेता है कि हो-न-हो कि हुमायूँ के साथ रहते हुए ही वह पाशा पर अनुरक्त हो आयी थी। इसीलिए वह हुमायूँ की उपेक्षा करने लगी थी और उसके लिए खाना बनाने में कोताही भी बरतने लगी थी। उसका उससे (पर-पुरुष से) यौन-संसर्ग भी होता ही होगा इसीलिए उसने माणिकगंज जाने से भी इंकार कर दिया!

लेकिन यह अनुमान दूर तक संगत जान पड़ते हुए भी ठहरेगा निराधार ही। कारण यह है कि हुमायूँ के बाद जमुना के जीवन में आया पाशा ही था। निस्सन्देह, पाशा उसका पूर्व-परिचित था और प्रेम-प्रार्थी भी, लेकिन यह पढ़ाई के दिनों का प्रसंग था। उन दिनों भी उसने उसे प्रेमी का दर्ज़ा नहीं दिया था। पाशा से उसका पुनः सम्पर्क हुमायूँ के माणिकगंज जाने के बाद ही हुआ। उससे यौन-संसर्ग और गर्भधारण भी बाद की घटनाएँ हैं। अतः वह जो हुमायूँ को कहती है कि अपनी यह (यौन) ज़रूरत भी मैं खुद पूरी कर लूँगी, इसके पृष्ठभूत बल पाशा से संसर्ग का या उसके प्रति अनुराग का भी नहीं है। अवश्य ही, हुमायूँ से वितृष्णा उसमें हो आयी थी और हुमायूँ के विकल्प का विचार भी वह शायद करने लगी थी। लेकिन पाशा उसके जीवन में आयेगा, यह अभी उसके स्वप्न में भी नहीं था। अतः अपने को 'एसर्ट' करने का जो बल पाती है, वह अपनी स्वाधीनता के आग्रह से ही पाती है। पाशा की वजह से नहीं पाती, चाहे रचना के बल-बिन्दु, लेखिका की असजगता की वजह से। वैसा प्रभाव अंकित करते जान पड़ें।

रोज़मर्रा के जीवन में अपनी स्वाधीनता दर्शाने के लिए ही जैसे वह खाना बनाने से मना करती है और माणिकगंज नहीं जाने का फैसला करती है, वैसे ही अपनी यौन-स्वाधीनता सूचित करने के लिए ही वह कह देती है कि मैं अपनी यह (यौन) ज़रूरत भी क्या पूरी नहीं कर पाऊँगी?

अवश्य ही, हुमायूँ के प्रति जमुना की वितृष्णा भी एक सच्चाई है। उसका अपनी साधारण-सी स्वाधीनता चाहना ही ऐसा अपराध हो जाता है कि हुमायूँ उसे अपमानित करने और गरियाने लगता है। उसकी इस स्वार्थपरता और ओछेपन से ही उसे उससे जुगुप्सा होने लगती है। वह लिखती है-

उतने दिनों हुमायूँ का असली चेहरा भी देखती रही, बिल्कुल भीतरी चेहरा। निजी स्वार्थ को चोट लगते ही, अपने ऐशो-आराम में ज़रा-सी कमी आते ही, ये मर्द जानवर की तरह अपने तीखे दाँत-नाखून चमकाते हुए हुँकार उठते हैं। मैं उनकी दहाड़ से अब ज़रा भी डरना नहीं चाहती।(६५)।

मर्द के अनावश्यक आतंकित करने के प्रयत्न के विरोध में ही स्वाधीनता का आग्रह उसमें प्रबल हो उठता है। यदि हुमायूँ उसकी स्वतन्त्रता के लिए कुछ अवकाश देता तो शायद वह एकनिष्ठ ही रहती। वह प्रकृतितः संयमी ही थी, लेकिन क्योंकि हुमायूँ निष्ठावान नहीं था; दूसरे, उसने उसके स्वभाव और व्यक्तित्व की असलियत जान ली थी। वह

उसकी कल्पना का तेजस्वी पुरुष भी नहीं था। 'हुमायूँ ऐसा कोई मेधावी लड़का नहीं है कि उसका आदेश-निर्देश मानकर चलना होगा।' और उस पर भी व्यर्थ ही औरत को दबाने का प्रयत्न करता है। करेला और नीमा चढ़ा। इसी के विरुद्ध वह प्रतिक्रिया करती है। यही प्रतिक्रिया उस पर दबाव डालते हुए उसे यौन-स्वाधीनता के पथ पर ले जाती है। उसके मन के किसी भीतरी कोने में किसी और की जो कामना जाग उठती है, वह भी हुमायूँ की बद्‌ज़ुबान और अनर्गल लाँछनों की वजह से ही। वह नूपुर को लिखती है, 'मैं आगरा दुबारा कुछ हिम्मत करना चाहूँ तो तुम लोग मुझे रोकना मत।' (६५)। ज्ञातव्य है, पाशा अभी तक भी उसके ज़ेहन में नहीं है। हुमायूँ के जुगुप्साकारी व्यवहार से उकता कर ही विकल्प की चाह उसमें अंगड़ाई लेने लगी है, यह व्यंजना भी इस कथन में है और इसीलिए जैसे ही अवसर आता है, वह पाशा से संसर्गरत हो लेती है और उससे गर्भ भी धारण कर लेती है।

इस प्रकार, कुल मिलाकर जमुना की तमाम धारणाएँ और उसका तद्‌नुरूप आचरण औरत की स्वाधीनता में तसलीमा के अभिप्रेत को पूरी तरह स्पष्ट कर देता है। जमुना का हुमायूँ से तलाक लिए बिना पाशा से यौन-कर्म में प्रवृत्त होना और उससे गर्भ भी धारण कर लेना और उस गर्भ को गिराने से दृढ़तापूर्वक इंकार कर देना, अपनी संतान के लिए किसी के भी पितृत्व को स्वीकार नहीं करना आदि प्रसंग इन्हीं धारणाओं के चरितार्थ रूप हैं। इनका इतना स्पष्ट प्रतिपादन उसकी अन्य किसी कथाकृति में नहीं है।

हुमायूँ से शादी के समय जमुना की यह अलिखित शर्त थी कि शादी शरीयती शर्तों से हटकर होगी; और यह भी कि पारम्परिक मियाँ-बीवी बनने के बजाय दोनों एक-दूसरे के गहरे दोस्त होंगे।(६४)। अपेक्षा होती है कि इसी तरह यह शर्त भी पहले ही रख दी जाती कि विवाहेत्तर यौन-संसर्ग के लिए और सन्तान-प्राप्ति हेतु फैसले के लिए भी दोनों ही स्वतन्त्र होंगे तो हुमायूँ जो झमेला खड़ा करता है, वह भी नहीं होता और औरत की स्वतन्त्रता और उसकी यौन-स्वतन्त्रता की सामाजिक स्वीकार्यता की स्थिति भी स्पष्ट हो जाती।

इस कथाकृति पर विचार करते हुए एक प्रश्न जमुना के चरित्र के विषय में उठता है। जो जमुना कठोर स्वाभिमानी है और अपनी स्वाधीनता की प्रबल पक्षधर है और हुमायूँ की स्वार्थपरता देखकर जिसे उससे वितृष्णा हो आयी है, जो उसके यहाँ से अपना सामान उठाकर ले गया है, जिसने उससे ज़ेवर उतरवा कर उसका अपमान किया है और एक तरह से उससे अपना नाता तोड़ लिया है, वही हुमायूँ जब दो दिनों के लिए माणिकगंज से आता है, तब वह उससे खुशी-खुशी हम-बिस्तर हो लेती है! स्वयं वह नूपुर को लिखती है-

मैंने महसूस किया, मेरा शरीर भी मारे प्यास के उबल आया था। हम दोनों काफ़ी देर तक शरीर के अंगों से खेलते रहे और उसी दिन मैंने यह भी महसूस किया कि इतने दिनों तक मेरा शरीर ही, हुमायूँ की इच्छा मुताबिक कैद था... उस दिन मैंने हुमायूँ का भोग किया।... उस दिन मुझे एहसास हुआ कि मैं अपनी ज़रूरत के तकाज़े पर उसे ग्रहण कर सकती हूँ और उसे भोग भी सकती हूँ। मैं सच कहती हूँ, इतने दिनों बाद, मैं बेहद खुश हुई। (७४)।

इसके बाद माणिकगंज जाते हुए भी जब वह उसे प्यार करता है, तब भी उसकी प्रतिक्रिया यही होती है। वह कहती है-'मैंने उसका यह स्पर्श अपने अंग-अंग में जी-भर कर ग्रहण किया।' जो तसलीमा नारीवादियों के प्रभाव में औरत के लिए पुरुष की ज़रूरत ही नकार देती है, उसी की (प्रतिकृति) नारी-पात्र यहाँ अकुण्ठित भाव से स्वीकारती है, 'औरत के शरीर को बीच-बीच में मर्द के इस स्पर्श की ज़रूरत होती है।' (७५)। यहाँ भी वह कोई भ्रम नहीं रहने देती कि यह ज़रूरत हुमायूँ की थी या उसकी। वह निर्भ्रान्त कहती है-

नहीं, हुमायूँ की नहीं, मुझे अपनी ज़रूरत के तकाज़े पर एक अदद मर्द चाहिए, इसलिए मैंने भी नर्म मुस्कान बिखरते हुए कहा, 'सुनो, अगले महीने ठीक-ठाक चले आना।'(७५)।

प्रश्न यह है कि जिससे उसे वितृष्णा हो आयी है, उससे वह प्यार कर कैसे पाती है और उसके साथ समागम सह कैसे पाती है? यहाँ वह हुमायूँ के दबाव पर हम-बिस्तर होने और अपनी ज़रूरत की वजह से उसके साथ सोने में भेद करते हुए साफ़ कहती है कि उसके साथ यह समागम मेरे अपने तकाजे पर हुआ और मैंने हुमायूँ का भोग किया।(७५)।

यह सम्भव कैसे हुआ? नूपुर को इस बात पर आश्चर्य होता है। वह उसे लिखती है-

दूर चले जाओ, तो क्या मन नर्म हो उठता है?...हाँ, मैं हुमायूँ के बारे में यह बात कर रही हूँ। जब वह दूर चला गया है, तुम कातर हो उठी हो। मुझे तो यह समझ में नहीं आता कि उस आदमी का प्यार-दुलार, तुम्हारे तन-बदन पर काँटे की तरह चुभा क्यों नहीं?(७६)।

वस्तुनिष्ठ दृष्टि से बात नूपुर की ही सही जान पड़ती है। जिससे घृणा हो उससे प्यार कैसा? और बिना प्यार के यौन-संसर्ग कैसा? हुमायूँ के साथ यह संसर्ग जमुना को काँटों की तरह काटना चाहिए था, लेकिन यहाँ तो वह उसे फूलों की तरह कोमल लगा है! वह स्वयं आगे बढ़कर अपने तकाज़े पर उसे अपनाती है और उसका स्पर्श अपने अंग-अंग में जी भर कर ग्रहण करती है। उससे दृढ़ स्वाभिमानी चरित्र को देखते हुए उसके इस व्यवहार को समझना वाकई कठिन हो जाता है।

प्रसंगवश, हम यहाँ तसलीमा के उपन्यास 'फ्रांसीसी प्रेमी' का स्मरण कर सकते हैं। नीला से संसर्ग के बाद उसका प्रेमी बनोया जब उसे कहता है कि वह अभी उससे प्रेम नहीं करता है, (बाद में शायद करे) तो वह एकदम असंयत और लगभग क्रुद्ध हो उठता है। यदि वह प्रेम नहीं करता है तो उसने यौन-संसर्ग किया कैसे? इसका अर्थ तो यह हुआ कि वह उसके द्वारा इस्तेमाल की गयी है! ऐसा विचार कर वह स्वयं को अपमानित और ठगी गयी बल्कि छली गयी अनुभव करने लगती है। वह सोच भी नहीं पाती कि बिना प्रेम किये कोई संसर्गरत हो भी सकता है! वह उसे कहती है-

तुम मुझसे प्रेम नहीं करते तो फिर... तुमने ऐसे निष्ठावान प्रेमी की तरह इतना सब क्यों किया? जिससे प्रेम न हो, उसे देखकर तुम्हारा शरीर चेतन कैसे हो गया?(२०७)।

ऐसे व्यक्ति के साथ समागम करने के लिए नीला को स्वयं से ही घृणा होने लगती है। उसे लगता है जैसे किसी कामुक और बर्बर ने असहाय और मूर्ख परदेशी लड़की की इज़्ज़त लूट ली है! वह अपने को धिक्कारने लगती है। 'छीः नीला छीः तू मर जा। तू मिट्ठू की तरह गले में फाँसी लगाकर मर जा।'(२०८)।

कभी यौन-संसर्ग के लिए तसलीमा की शर्त थी प्रेम। हार्दिक प्रेम। लेकिन यहाँ लगता है कि उसने अपनी दृष्टि बदल ली है। नूपुर के आक्षेप को वह जैसे पहले ही भाँप लेती है। वह उसे लिखती है-

सुन, नूपुर! मैंने किसी प्यारवश हुमायूँ से यह जुमला नहीं कहा। हुमायूँ के अलावा मैं किसी भी मर्द से यह बात कह सकती थी। मैं अब अपना यह शुचिता रोग, नीरोग करना चाहती हूँ।(७५)।

आचार्य शुक्ल कहते हैं कि व्यक्ति जब प्रेम करता है, तब उसमें आग्रह सामान्य के लिए नहीं, विशेष के लिए ही रहता है। उसके बदले में उसे कुछ भी और दिया जाये तो वह उसे स्वीकार्य नहीं होगा। यह बदले में मिलने वाला ज़्यादा सुन्दर और ज़्यादा मूल्यवान हो, तब भी नहीं। यदि बदले में मिलने वाला व्यक्ति या वस्तु ज़्यादा मूल्यवान और सुन्दर होने की वज़ह से ही व्यक्ति का जी ललचा जाता है और वह उसे स्वीकार्य होती है तो उसे प्रेम नहीं, लोभ कहेंगे। यहाँ जमुना में मर्द के प्रति प्रेम नहीं है, निरा लोभ है। बाद में, जमुना पाशा के साथ जिस घनिष्ठता और गहनता से संसर्ग करती है, कभी स्त्रोतस्विनी बन जाती है, तो कभी उत्ताल समुद्र बनकर उसे अपने अतल में डुबा लेती है, तब हम समझते हैं कि पाशा से तो वह प्रेम करने लगी है लेकिन नूपुर को लिखते हुए वह इस भ्रम का भी निराकरण कर देती है। वह उसे स्पष्ट लिखती है कि 'नूपुर, तू यह बिल्कुल मत सोचना कि मैं पाशा के इश्क में पड़ गयी हूँ।' ऐसी स्थिति में, नीला ने शब्दों में यह पूछने की इच्छा होती है कि यदि कोई प्रेम नहीं करता है तो उसने निष्ठावान प्रेमी की तरह, इतनी गहनता से यह सब किया क्यों? क्यों कभी स्त्रोतस्विनी, तो कभी उत्ताल समुद्र बन गयी?

यदि औरत बिना प्यार के भी संसर्ग करती है और वह किसी भी मर्द के साथ सम्भोग-तत्पर हो जाती है तो उसकी गणना किस वर्ग में की जायेगी, यहाँ तसलीमा ने इसका कोई विचार नहीं किया है। कम-से-कम यहाँ जमुना अपना व्यक्तित्व खोकर निरी एक कामुक औरत रह जाती है, जिसे जब-तब एक अदद मर्द चाहिए! उसकी कामुकता के आगे उसकी स्वाधीनता और स्वाभिमान सभी कुछ बेमानी हो जाते हैं। तब प्रश्न यह उठता है कि 'फ्रीडम ऑफ़ सेक्स' और 'फ्री-सेक्स' में भी कोई अन्तर कैसे किया जायेगा? औरत का यह चरित्र प्रकृत-यथार्थ के धरातल पर ही ग्राह्य हो सकेगा।

शायद लेखिका का ध्यान भी पात्र की और रचना की इन असंगतियों की ओर गया है इसलिए उसने इसे 'कच्चे हाथों का कच्चा लेखन' कहा है। बहरहाल, यह कच्ची रचना ही सही, इससे तसलीमा के औरत की स्वाधीनता विषयक विचारों को और उसकी प्रेम-दृष्टि में आये गहरे और विस्मयकारी बदलाव को जानने में भी सहायता मिलती है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

इस कथाकृति की एक अन्य उपादेयता यह भी है कि इससे तसलीमा के ही एक अन्य उपन्यास 'फ्रांसीसी प्रेमी' की एक उलझन सुलझाने में भी कुछ सहायता मिल जाती है। इस उपन्यास की नायिका नीला एक फ्रांसीसी युवक बनोया से प्रेम करती है। बनोया विवाहित है, उसके एक लड़की भी है। लेकिन नीला के प्रेमवश वह अपनी पत्नी और बच्ची को छोड़कर नीला के पास आ जाता है। जब बनोया को पता चलता है कि नीला गर्भवती है, वह खुशी से नाच उठता है। जब तक नीला गर्भवती नहीं हुई थी, गोरा सुन्दर बच्चा पाना उसकी भी लालसा थी। जब बनोया उससे पूछता है कि 'तुम बच्चा नहीं चाहती क्या?' तब वह कल्पना में खो जाती है।

लेखिका ने लिखा है-

नीला ने आँखें मूँद लीं। एक पुतुल गोरा शिशु। सुनहरे बालों वाला शिशु, मीठी हँसी वाला शिशु... माँ-माँ पुकारता हुआ नीला की तरफ आ रहा है। वह शिशु को गोद में उठा लेती है।(२५४)।

लेकिन गर्भवती होने के साथ ही उसका सोच एकदम बदल जाता है। वह गर्भस्थ बच्चे को जन्म देना नहीं चाहती है। मैं इस बच्चे को जन्म नहीं दूँगी, कहकर वह बनोया की खुशी पर पाला गिरा देती है। वह उससे अनुनय-विनय करता है कि वह गर्भपात न कराये लेकिन वह अपने निर्णय पर अडिग रहती है। इस पर बनोया बेहद उग्र और आक्रामक

हो उठता है। वह नीला को पीट-पीटकर लहूलुहान कर देता है और घर का सारा कीमती सामान तोड़-फोड़ कर चला जाता है। नीला को अपने निर्णय पर कोई पछतावा नहीं होता।

उपन्यास पढ़कर प्रश्न उठता है कि जो नीला 'पुतुल गोरी शिशु' की उल्लसित कल्पना में खो जाती है, वही नीला शिशु पाने की सम्भावना बन आने पर, यानी गर्भवती हो जाने पर अपना विचार एकाएक बदल क्यों लेती है? उसके इस व्यवहार को समझना कठिन है। उसका यह अकस्मात् बदला हुआ व्यवहार पाठक को उलझन में डाल देता है और उपन्यास को भी एक पहेली बनाकर छोड़ देता है।

'फ्रांसीसी प्रेमी' उपन्यास पढ़ने के बाद जब हम 'दो औरतों के पत्र' पढ़ते हैं, तब जमुना के व्यवहार से हमें नीला की पहेली को सुलझाने का एक सूत्र मिलता है। नीला तो कोई कारण नहीं बताती कि वह बच्चे को जन्म क्यों नहीं देगी या गर्भपात क्यों करवायेगी; वह केवल ज़िद पर अड़ी हुई है कि वह गर्भपात करवायेगी। लेकिन इस परिस्थिति में जमुना का आचरण ठीक उल्टा है; उसे नूपुर कहती है, पाशा भी कहता है और शायद हुमायूँ भी चाहता है कि वह गर्भपात करवा ले, लेकिन वह इस बात पर अड़ी हुई है कि वह गर्भपात नहीं करवायेगी; वह इस बच्चे को जन्म देकर रहेगी।

जमुना की इस ज़िद में विशेष बात यह है कि वह 'अपना' ही बच्चा चाहती है। इस 'अपने' को वह यह कहकर स्पष्ट करती है-

मैं तो अपना एक बच्चा चाहती हूँ, सिर्फ़ मेरा बच्चा। मेरे ही खून-माँस से बना, बड़ा होने वाला, मेरा बच्चा!(८७)।

यों तो, हर औरत का बच्चा उसके ही खून-माँस से बनता और बड़ा होता है, इसलिए वह यह कहकर अपनी बात और भी स्पष्ट करती-

इस बच्चे को नाम मैं ही दूँगी। इस बच्चे की गार्जियन बनूँगी मैं। यह बच्चा मेरे परिचय के साथ बड़ा होगा। कानून का सहारा लेकर किसी मर्द की इतनी मजाल कि उस बच्चे को अपने कब्ज़े में ले ले।(८७)।

यहाँ मेरे परिचय के साथ बच्चा बड़ा होगा, इसे नाम मैं दूँगी, इसकी गार्जियन मैं बनूँगी और कानून का सहारा लेकर भी कोई मर्द उसे मुझसे छीन नहीं सकता, ये बातें महत्त्वपूर्ण हैं। ये ही वे बातें हैं जो हर औरत नहीं चाहती है और न कहती ही है। परन्तु जो तसलीमा की नारी यहाँ कहती है, जो 'फ्रांसीसी प्रेमी' में नीला भी कहना चाहती है लेकिन बनोया ऐसा व्यक्तित्वहीन प्रेमी नहीं है कि नीला उसके आगे ये बातें कह सके जैसे कि हुमायूँ व्यक्तित्वहीन पति और पाशा व्यक्तित्वहीन प्रेमी है इसलिए जमुना कह जाती है। क्योंकि नीला कह नहीं पाती है इसलिए वह गर्भपात के लिए अड़कर जता देती है कि बच्चा उसे भी 'अपना' ही चाहिए। उस पर किसी दूसरे का हक उसे गवारा नहीं है, बनोया का भी नहीं!

'फ्रांसीसी प्रेमी' में नीला भी बच्चे के परिचय का प्रश्न उठाती है। वह बनोया से पूछती है, 'उस लड़के या लड़की का परिचय क्या होगा?' बनेगा उत्तर देता है, 'हमारे प्रेम की सन्तान। यह सबसे बड़ा परिचय नहीं है क्या?'(२५४)। वह समझ जाती है कि बच्चे पर बनोया भी अधिकार चाहेगा। बाद में उसे गर्भवती हुई जानकर भी वह जिस क़दर खुशी से पागल हो उठता है और गर्भपात की बात सुनकर जो भीषण उत्पात वह मचाता है, वह सब बच्चा पाने की खुशी और खो देने के धक्के की व्यंजना ही है और यही चीज़ तो है जो बच्चे पर पिता के अधिकार की लालसा व्यंजित

करती है, और ठीक यही चीज़ है जो नीला नहीं चाहती और जमुना भी नहीं चाहती। अन्तर इतना ही है कि नीला अपने मन की बात कह नहीं पाती है। परन्तु जमुना कह देती है। वह स्पष्ट कर देती है कि बच्चे पर उसके पिता के अधिकार जैसी कोई बात वह नहीं चाहती है। वह उसे अपने परिचय के सहारे ही बड़ा करेगी। हुमायूँ और पाशा को हटाकर उसने अपना मार्ग निष्कण्टक कर लिया है। न्यूनाधिक यही स्थिति 'शोध (उपन्यास) में भी बन आती है। झूमुर का पति हारून उसके चरित्र के प्रति संशयग्रस्त होकर उसका पहला गर्भ गिरवा देता है। पति से प्रतिशोध लेने के लिए झूमुर उसे जारज सन्तान सौंपने का फैसला करती है। दूसरा गर्भ वह अफ़जल से संसर्ग करके धारण करती है। हारून इस बात को जान नहीं पाता है। अफ़जल शहर छोड़कर चला जाता है, उसे भी इसकी जानकारी नहीं होती। इस तरह बच्चे पर एकमात्र अधिकार झूमुर का ही रह जाता है! पितृत्व का दावा न हारून का रह जाता है, न अफ़जल का ही।

लेकिन बनोया को हटाना नीला के बस में नहीं है। इसलिए वह बच्चे को ही हटाने का फैसला करती है। कहीं दमित आकांक्षा उसमें है कि बच्चा होगा तो केवल उसका ही होगा, या फिर नहीं होगा। अपने अधिकार में कोई साझा वह नहीं सहेगी। इसलिए बेहतर यही है कि वह बच्चे को जन्म न दे। न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी।

नीला का सपना लेखिका जमुना से पूरा करती है इसलिए नीला को समझने का सूत्र हमें जमुना प्रदान कर देती है। उसकी सहायता से गर्भपात के लिए नीला की ज़िद की गुत्थी सुलझ जाती है। अतः इस कोण से भी 'दो औरत के पत्र' कथाकृति की उपादेयता असंदिग्ध है, चाहे बतौर कृति, बकौल लेखिका के, यह है, 'कच्चे हाथों का कच्चा लेखन' हो।

यूरोप में ऐसी सन्तानें वहाँ के समाज की 'कप ऑफ़ टी' हैं इसलिए वहाँ इन्हें लेकर कोई हलचल नहीं मचती, लेकिन ये अभी हमारे यहाँ की दाल-भात नहीं हैं इसलिए इस उपमहाद्वीप में तो ऐसी घटनाएँ हंगामा मचा सकती हैं। हुमायूँ हंगामा मचाता ही है। इस समाज में तो प्रताड़ना की शिकार होकर स्वयं सन्तान भी माता-विमुख बल्कि विरोधी भी हो सकती है, चाहे प्रतिभाशाली जारज-पुत्रों की कितनी ही लम्बी सूची तसलीमा के पास क्यों न हो! यहाँ तसलीमा ने इस समस्या के व्यावहारिक पहलू को छेड़ा नहीं है। शायद उसकी तीक्ष्ण दृष्टि ने आने वाले समय की इबारत पढ़ ली है, हमारी ही आँखें इतनी धुंधली हो गयी हैं कि अभी उसे देख नहीं पा रही हैं।

शिल्प के धरातल पर यह कथाकृति तसलीमा की अन्य कथाकृतियों से भिन्न है, इस अर्थ में कि वे वर्णनात्मक शैली में लिखी गयी हैं, जबकि इसे उसने पत्र-शैली में लिखा है। पत्र-शैली में यह अकेली कथाकृति है। बाद में अपनी आत्मकथा का छठा खण्ड 'नहीं, अभी कुछ भी नहीं' भी उसने पत्र-शैली में लिखा। पत्र-शैली में लिखते हुए घटनाओं का वर्णन करना कठिन नहीं होता है। लेकिन दो अन्य पात्रों के बीच में होने वाले संवादों को यथावत पत्र के ढाँचे में ढालना उतना सहज भी नहीं होता है। इस कृति में तसलीमा ने यह कार्य बड़ी पटुतापूर्वक किया है। कहीं कोई विचलन शैली के स्तर पर दिखायी नहीं पड़ती।

अपनी आत्मकथा (खण्ड-तीन) में 'अपर-पक्ष' का उल्लेख उसने अपने अन्य अल्प-चर्चित उपन्यासों के साथ किया है। लेकिन इसे उपन्यास नहीं कहा जा सकता क्योंकि यह बहुसंवेदी रचना नहीं है। इसमें प्रमुख पात्र जमुना है। कथानक उसी पर केन्द्रित है। उसके माध्यम से ही लेखिका ने औरत की स्वतन्त्रता की समस्या उठायी है। साबिर, हुमायूँ और पाशा भी इसमें हैं लेकिन ये जमुना के स्टिमुली, एक तरह के उत्प्रेरक रूप ही अधिक रहे हैं, उनका अपना कोई व्यक्तित्व और उसका विकास रचना में नहीं है। अवश्य ही नूपुर भी इसमें है लेकिन वह भी जमुना की दूर बैठी

अनुचरी ही अधिक है। दन्तस के साथ उसके प्रेम-व्यापार का प्रसंग भी इसमें है लेकिन वह भी परवान चढ़ने से पहले ही दम तोड़ देता है। नूपुर के व्यक्तित्व का भी स्वतन्त्र विकास लेखिका का अभीष्ट नहीं है। अतः अपनी रचना-प्रकृति में यह एक-संवेदी रचना है। लघु-उपन्यास के कुछ संकेत इसमें रहते हुए भी मूलतः यह एक लम्बी कहानी ही है। इसमें भी अपना प्रतिपाद्य उसने अधर में ही, परिणति तक ले जाए बिना ही छोड़ दिया है। क्या इस अधूरेपन के कारण उसने इसे 'कच्चे हाथों का कच्चा लेखन' कहा है?

लेखक परिचय

कावालम नारायण पणिक्कर हमारे समय के महानतम् रंगनिर्देशकों में से हैं। अन्यान्य नाटकों के साथ कालिदास के सभी एवं भास के सात नाटकों का निर्देशन और 'भासनाटकचक्र' का मलयालम् भाषा में अनुवाद। 'थैयथय्यम्', 'कलिवेषम्', 'छाया शाकुन्तल' (सह लेखन - उदयन वाजपेयी) समेत अनेक नाटकों का लेखन एवं उनका संस्कृत, मलयालम् और हिन्दी भाषाओं में निर्देशन। केरल की देशी एवं मार्गी कलाओं के विशिष्ट ज्ञाता। 'सोपानम्' रंगमण्डल (तिरुवनन्तपुरम्, केरल) के निर्देशक।

शंख घोष बाँग्ला भाषा और भारत के महानतम् जीवित लेखकों में से हैं। आपके 'मुख ढेके जाय विज्ञापने' सहित अनेक काव्य संग्रह और 'शब्द और सत्य' सहित अनेक निबन्ध संग्रह प्रकाशित हैं। जिनके देश और दुनिया की तमाम भाषाओं में अनुवाद हुए हैं। रवीन्द्रनाथ टैगोर साहित्य के आप अनूठे विशेषज्ञ हैं। आपने निकोलास गियनेर की कविताओं के अनुवाद भी किये हैं। बच्चों के लिए कविताएँ, जीवनी, लघु उपन्यास लिखे हैं। आपकी कविताओं में सूक्ष्म मानवीय अनुभूतियों के साथ विराट साभ्यतिक चिन्तन एवं कल्पना का सहज समावेश है।

कमलेश हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि, विचारक, अनुवादक और राजनीतिकर्त्ता। इनके तीन कविता संग्रह, 'जरत्कारु', 'खुले में आवास' और 'बसाव' प्रकाशित हुए हैं। कमलेश जी की कविताओं में भारतीय परम्परा की समृद्धि को अनेक आलोचकों ने रेखांकित किया है। इन्होंने पाब्लो नेरूदा की प्रसिद्ध कविता 'माचू पिच्चू के शिखर' समेत अनेक कविताओं के अनुवाद किये हैं। कमलेश जी ने साहित्य और इतिहास आदि अनेक अनुशासनों की पुस्तकों पर विस्तार से लिखा है। इन दिनों कमलेश जी भारत की जाति-व्यवस्था आदि अनेक संस्थाओं को औपनिवेशिक विचारों के कुहासे से बाहर निकालकर सम्यक आलोक में देखने का महती प्रयत्न कर रहे हैं। आप इन दिनों नयी दिल्ली में रहते हैं।

राधावल्लभ त्रिपाठी संस्कृत के अध्येता, सम्पादक और पूर्व कुलपति। इनका नाम देश के वरिष्ठतम् संस्कृत अध्येताओं में गिना जाता है। आपने पारम्परिक नाट्यशास्त्र और साहित्यशास्त्र पर विस्तार से विचार किया है। अनेक संस्कृत नाटकों और अन्य कृतियों के हिन्दी में अनुवाद किये हैं। संस्कृत नाट्यशास्त्र और नाटकों पर विचार की पत्रिका 'नाट्यम्' के सम्पादक हैं। देश के सुप्रसिद्ध संस्कृत विश्वविद्यालय, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान के आप पूर्व कुलपति हैं। शिमला के उच्च अध्ययन केन्द्र में एक वर्ष तक फैलो रहकर इन दिनों आप दिल्ली में रहते हैं।

अमला शंकर आप उदय शंकर के नृत्य समूह की सुप्रसिद्ध नृत्यांगना रही हैं।

मोहन कृष्ण बोहरा हिन्दी के सुविख्यात आलोचक हैं। आप जोधपुर में रहते हैं।

अलका सरावगी सुप्रसिद्ध हिन्दी कहानीकार-उपन्यासकार हैं। आपके 'कलिकथा : वाया बाईपास' सहित कई उपन्यास प्रकाशित हैं। आपका उपन्यास 'जानकीदास तेजपाल मैनशन' शीघ्र ही प्रकाशित होने वाला है। कोलकाता में रहकर लेखन कार्य में सक्रिय हैं।

रामशंकर द्विवेदी अनुवादक और समीक्षक हैं। बाँग्ला से हिन्दी में निरन्तर अनुवाद करते रहे हैं। इनके अनुवाद हिन्दी की तमाम पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं। समास के पिछले कुछ अंकों में आपके किये अनुराधा महापात्र, जीवनानन्द दास आदि के अनुवाद प्रकाशित हुए हैं। आप उरई (उ.प्र.) में रहते हैं।

शिरीष ढोबले हिन्दी के प्रसिद्ध कवि और कहानीकार। एक कविता संग्रह 'उच्चारण' प्रकाशित हुआ है। कविताओं के अनुवाद कई भारतीय और विदेशी भाषाओं में हुए हैं। इन्दौर में रहकर उच्चस्तरीय हृदय शल्य चिकित्सा करते हैं।

चित्तरंजन वंद्योपाध्याय आप बंगाल के प्रसिद्ध बौद्धिक हैं।

अन्ना आख्मातोवा महान रूसी कवयित्री हैं। इनके बारे में श्री कमलेश ने अपने निबन्ध 'रूसी संस्कृति का उद्‌भव और विनाश', समास अंक ८ में विस्तार से लिखा है।

कुमार शहानी भारत के महानतम् फ़िल्मकारों में गिने जाते हैं। सिनेमा पर गहरा विचार किया है। 'माया दर्पण', 'तरंग', 'कस्बा', 'भावान्तरण', 'चार अध्याय' इनकी प्रसिद्ध फ़िल्में हैं, जो भारत और विश्व सिनेमा में कालजयी कृतियाँ मानी जाती हैं। कुमार संसार के बड़े सिनेमा-अध्यापक के रूप में सहज ही स्वीकृत हैं। 'समास'-१० में कुमार की पहली हिन्दी कविता प्रकाशित हुई थी। उसी शृँखला में दो और कविताएँ प्रकाशित हैं। इन दिनों आप दिल्ली में रहते हैं।

प्रयाग शुक्ल पिछले पाँच दशकों से कविताएँ लिख रहें हैं। इनकी दस कविता पुस्तकें, पाँच कहानी संग्रह, तीन उपन्यास और चार यात्रा वृत्तान्त प्रकाशित हैं। संस्मरणों और निबन्धों के भी कुछ संग्रह प्रकाशित हैं। बच्चों के लिए भी लिखना इन्हें प्रिय है। कला, रंगमंच, सिनेमा एवं अन्य कलाओं पर हिन्दी-अँग्रेज़ी में प्रचुर लेखन किया है। 'कल्पना', 'रंगप्रसंग' जैसी पत्रिका का सम्पादन करते रहे हैं। इन दिनों संगीत नाटक अकादमी की पत्रिका 'संगना' का सम्पादन कर रहे हैं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की पुस्तक 'गीतांजलि' का हिन्दी में अनुवाद किया है। दिल्ली और भोपाल में रहते हैं।

उदयन वाजपेयी हिन्दी कवि, कथाकार, निबन्धकार एवं सम्पादक हैं। 'सुदेशना' आदि कहानी संग्रह, 'कुछ वाक्य' आदि कविता संग्रह, 'पतझर के पाँव की मेंहदी' निबन्ध संग्रह सहित साहित्य और कलाओं पर कई पुस्तकें प्रकाशित हैं। गाँधी चिकित्सा महाविद्यालय, भोपाल में शरीर क्रिया विज्ञान के प्राध्यापक हैं।

इस अंक के लेखक–

कावालम नारायण पणिक्कर

शंख घोष

कमलेश

कुमार शहानी

नवज्योति सिंह

अन्ना आख्मातोवा

राधावल्लभ त्रिपाठी

प्रयाग शुक्ल

अमला शंकर

मोहन कृष्ण बोहरा

अलका सरावगी

रामशंकर द्विवेदी

चित्तरंजन वंद्योपाध्याय

शिरीष ढोबले

उदयन वाजपेयी

पंजीयन क्रमांक F-2 (S-46) Press/2012